समयसार अनुशीलन

भाग २

कर्ताकर्माधिकार एवं पुण्यपापाधिकार

(गाथा ६९ से १६३ तक)

लेखन एवं गाथा व कलशों का पद्यानुवाद

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पीएच. डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

फोन : ०१४१-५१५५८१, ५१५४५८

प्रस्तुत संस्करण : (२ मई, १९९६)	५ हजार
प्रथम संस्करण (पूर्वार्द्ध) : (२ मई, १९९५)	५ हजार २००
प्रथम संस्करण (उत्तरार्द्ध) : (२५ अप्रैल, १९९६)	५ हजार
वीतराग-विज्ञान हिन्दी-मराठी के सम्पादकीयों के रूप में	८ हजार
योग	२३ हजार २००

मूल्य : **बीस रुपए**

टाइप सैटिंग :
कॉम्प्रिन्ट प्राइवेट लिमिटेड
जयपुर

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स
एम. आई. रोड
जयपुर

बहुत-बहुत धन्यवाद !

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने हेतु ५० हजार रुपए श्री निरंजनभाई शाह, शिकागो (अमेरिका) तथा १० हजार रुपए श्री नरेश जे. पालकीवाला, लॉसएन्जिल्स (अमेरिका) द्वारा प्राप्त हुए हैं; तदर्थ बहुत-बहुत धन्यवाद !

प्रकाशकीय

डॉ. भारिल्ल द्वारा लिखित समयसार अनुशीलन भाग २ का यह संयुक्त संस्करण (गाथा ६९ से १६३ तक) कर्ताकर्माधिकार एवं पुण्यपापाधिकार का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। पूर्व में प्रकाशित भाग १ (गाथा १ से ६८ तक) तथा भाग २, पूर्वार्द्ध (गाथा ६९ से ११५ तक) का अध्ययन तो आप कर ही चुके हैं और अबतक प्रकाशित अनुशीलन की लोकप्रियता से भी आप भली-भाँति परिचित हैं। इसका पठन-पाठन एवं स्वाध्याय नियमित रूप से विधिवत अमेरिका आदि सुदूरवर्ती देशों में भी चल रहा है। अमेरिकावासी रजनीभाई गोशलिया ने तो इसका गुजराती अनुवाद भी कर लिया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है तथा गुरुप्रसाद (गुजराती) में क्रमशः छप रहा है। मराठी अनुवाद भी तैयार हो रहा है, जो मराठी वीतराग-विज्ञान में क्रमशः प्रकाशित भी हो रहा है। यह तो सर्वविदित ही है कि विगत २० वर्षों में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने आत्मधर्म और वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में जो भी लिखा है; वह सब आज जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है, पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थाई साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। न केवल हिन्दी भाषा में उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, अपितु गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद हो चुके हैं तथा अनेकों बार प्रकाशित हो चुके हैं।

इनमें धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, बारह भावना : एक अनुशीलन, चैतन्य चमत्कार, निमित्तोपादान, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर, शाकाहार जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में, आत्मा ही है शरण, गोम्मटेश्वर बाहुबली और परमभावप्रकाशक नयचक्र प्रमुख हैं। इन सब कृतियों ने जैन समाज एवं हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उनमें लिखे साहित्य की अबतक आठ भाषाओं में ३६ लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने अबतक लगभग

४ हजार ५०० पृष्ठ लिखे हैं, जो सभी प्रकाशित हैं। इस कृति के निर्माण की पृष्ठभूमि और परिचय के सन्दर्भ में प्रथम संस्करण की प्रकाशकीय के निम्नांकित महत्त्वपूर्ण अंश मूलरूप से उद्धृत करना उपयुक्त समझता हूँ।

"आज के बहुचर्चित और जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण लगभग सभी विषयों पर उन्होंने कलम चलाई है और उन्हें सर्वांग रूप से प्रस्तुत किया है। समयसार भी आज का बहुचर्चित विषय है। आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के उदय ने समयसार को आज जन-जन की वस्तु बना दिया है। शायद ही कोई अध्यात्मप्रेमी ऐसा होगा, जो समयसार का स्वाध्याय न करता हो। इसप्रकार पूज्य श्री कानजीस्वामी का हम सब पर अनन्त-अनन्त उपकार है।

इसप्रकार समयसार पठन-पाठन की वस्तु तो बन गया है, पर आधे-अधूरे अध्ययन और विविध प्रकार की महत्त्वाकांक्षाओं ने आज कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं, कि अब उसके सर्वांग अनुशीलन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है।

इधर कुछ दिनों से उन लोगों ने भी समयसार पर लिखना और बोलना आरंभ किया है, जो अबतक समयसार के अध्ययन-अध्यापन का निषेध करते रहे हैं। वे वस्तु को जिस तरह प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे भी अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

यद्यपि स्वामीजी के प्रवचनरत्नाकर उपलब्ध हैं और वे समयसार के मर्म को खोलने में पूर्णत: समर्थ हैं, पर वे प्रवचनों के संकलन हैं। प्रवचनों के संकलन और व्यवस्थित लेखन में जो अन्तर होता है, वह उनमें भी विद्यमान है।

आज स्वामीजी हमारे बीच में नहीं हैं और उन्हीं के प्रतिपादन को आधार बनाकर विसंगतियां उत्पन्न की जा रही हैं। अत: वातावरण की शुद्धि के लिए आज समयसार के सम्यक् अनुशीलन की महती आवश्यकता है। यह काम डॉ. भारिल्ल के ही बस की बात है; क्योंकि पहले भी जब जिस विषय को लेकर सामाजिक वातावरण दूषित हुआ, तब डॉ. भारिल्ल ने उन विषयों पर जो सर्वांग अनुशीलन प्रस्तुत किया; उससे व्यवस्थित वस्तु

स्वरूप तो सामने आया ही, सामाजिक वातावरण भी लगभग शांत हो गया। क्रमबद्धपर्याय, परमभावप्रकाशक नयचक्र एवं निमित्तोपादान जैसी कृतियाँ इसका सशक्त प्रमाण हैं। आज ये विषय विवाद की वस्तु नहीं रहे; अतः अब तो विरोध केवल विरोध के लिए होता है और उसमें व्यक्तिगत बातें ही अधिक होती हैं, तात्त्विक बातें न के बराबर ही समझिये।

हमारा पक्का विश्वास है कि डॉ. भारिल्ल ने हमारे अनुरोध पर जो समयसार अनुशीलन आरम्भ किया है, उससे न केवल मुमुक्षु समाज को लाभ होगा, अपितु वातावरण की शुद्धि में भी यह अनुशीलन उपयोगी सिद्ध होगा।''

वीतराग-विज्ञान के जून, १९९२ के अंक से जब इसका सम्पादकीय के रूप में प्रकाशन आरंभ हुआ, तब ही से अनुकूल प्रतिक्रियाएं आने लगीं और इन लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की माँग भी आने लगी। वैसे तो हम उनके सभी सम्पादकीयों को पुस्तकाकार प्रकाशित करते ही आ रहे हैं, इन्हें भी करते ही; पर लोगों को धैर्य नहीं था, वे अधिक प्रतीक्षा नहीं करना चाहते थे।

दिसम्बर, १९९२ में देवलाली (महाराष्ट्र) में लगने वाले शिविर में डॉ. भारिल्ल ने वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयों के आधार पर समयसार की छठवीं-सातवीं गाथायें लीं, तो इनके पुस्तकाकार प्रकाशन की माँग और अधिक तीव्रता से उठने लगी, फलतः २६ मई, १९९३ को समयसार अनुशीलन भाग १ का पूर्वार्द्ध, २४ अप्रैल, १९९४ को उत्तरार्द्ध तथा १५ अगस्त, १९९४ को दोनों का संयुक्त संस्करण प्रकाशित किया गया। भाग २ को भी इसीप्रकार प्रकाशित किया जा रहा है। इसका पूर्वार्द्ध (गाथा ६९ से ११५ तक) मई, १९९५ में ५ हजार २०० की संख्या में प्रकाशित हो ही चुका है, अब इसका उत्तरार्द्ध (गाथा ११६ से १६३) तक तथा दोनों का संयुक्त संस्करण आपके हाथों में है। आशा है यह कृति आपकी आत्मपिपाशा को शांत करने में सफल होगी।

गुरुदेवश्री का तो अनन्त उपकार हम सब पर है ही; क्योंकि उन्होंने न केवल हमको विस्तार से सब कुछ समझाया है, अपितु जिनवाणी का मर्म

समझने की दृष्टि भी दी है। डॉ. भारिल्ल की सूक्ष्म पकड़ की तो पूज्य स्वामीजी भी प्रशंसा किया करते थे, पर उन्हें इसके लेखन में अथक् श्रम करते मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है; क्योंकि इसे लिखे जाने का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूँ। उन्होंने जिसप्रकार प्रत्येक गाथा के मर्म को सहज बोधगम्य बनाया है, सप्रमाण प्रस्तुत किया है, सयुक्ति और सोदाहरण समझाया है; यह अपने आपमें अपूर्व है। मुझे पूरा-पूरा विश्वास है कि इससे अध्यात्मप्रेमी समाज को बहुत लाभ होगा। मेरे विश्वास को उन पत्रों से बल मिला है जो समय-समय पर हमें प्राप्त होते रहे हैं और जिन्हें वीतराग-विज्ञान में यथासंभव प्रकाशित भी किया गया है।

विदेशों से प्राप्त पत्रों से स्पष्ट है कि न केवल देश में अपितु विदेशों में भी इस अनुशीलन को पढ़ने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है और इसका विधिवत पठन-पाठन भी चल रहा है।

'वास्तव में यह ग्रंथ पूरा होने पर समाज को एक अमूल्य निधि प्राप्त होगी' - बाहुबली कुम्भोज की विदुषी बहिन सुश्री गजाबेन की उक्त पंक्तियाँ एक ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध होंगी - ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

प्रस्तुत कृति को अल्पमूल्य में उपलब्ध कराने का श्रेय उन महानुभावों को जाता है, जिन्होंने हमें आर्थिक सहयोग प्रदान किया है। हम सभी सहयोगियों का हृदय से आभार मानते हैं; साथ ही सुन्दर व शुद्ध मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स व प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था सम्हालने हेतु विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को धन्यवाद देते हैं। सभी आत्मार्थी भाई-बहिन इस कृति से भरपूर लाभ लें। इस मंगल भावना के साथ।

– नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री

अनुक्रमणिका

१. कलश ४६	२	२४. गाथा ९४-९५	१२०
२. गाथा ६९-७०	६	२५. गाथा ९६	१२५
३. गाथा ७१	१४	२६. गाथा ९७	१३३
४. गाथा ७२	२०	२७. कलश ५७	१३६
५. कलश ४७	२७	२८. कलश ५८	१३८
६. गाथा ७३	३०	२९. कलश ५९	१४०
७. गाथा ७४	४४	३०. कलश ६०	१४२
८. कलश ४८	५३	३१. कलश ६१-६२	१४४
९. गाथा ७५	५५	३२. गाथा ९८-१००	१४७
१०. कलश ४९	६१	३३. गाथा १०१	१५५
११. गाथा ७६-७९	६५	३४. गाथा १०२	१५८
१२. कलश ५०	७४	३५. गाथा १०३-१०४	१६१
१३. गाथा ८०-८२	७६	३६. गाथा १०५-१०६	१६४
१४. गाथा ८३	८१	३७. गाथा १०७-१०८	१६९
१५. गाथा ८४-८५	८७	३८. कलश ६३	१७२
१६. गाथा ८६	९१	३९. गाथा १०९-११२	१७४
१७. कलश ५१-५४	९३	४०. गाथा ११३-११५	१८१
१८. कलश ५५	९८	४१. गाथा ११६-१२०	१८५
१९. कलश ५६	१००	४२. श्लोक ६४	१८७
२०. गाथा ८७-८८	१०३	४३. गाथा १२१-१२५	१८९
२१. गाथा ८९	१०७	४४. कलश ६५	१९१
२२. गाथा ९०-९१	१११	४५. गाथा १२६-१२७	१९७
२३. गाथा ९२-९३	११५	४६. कलश ६६	२००

४७. गाथा १२८-१२९	२०२
४८. कलश ६७	२०३
४९. गाथा १३०-१३१	२०७
५०. कलश ६८	२१०
५१. गाथा १३२-१३६	२१३
५२. गाथा १३७-१४०	२२०
५३. गाथा १४१	२२५
५४. गाथा १४२	२२७
५५. कलश ६९	२३०
५६. कलश ७०-८९	२३२
५७. कलश ९०	२४७
५८. कलश ९१	२४८
५९. गाथा १४३	२५०
६०. कलश ९२	२५४
६१. गाथा १४४	२५८
६२. कलश ९३	२६४
६३. कलश ९४	२६७
६४. कलश ९५	२७४
६५. कलश ९६	२७६
६६. कलश ९७	२७८
६७. कलश ९८	२८६
६८. कलश ९९	२९०
६९. कलश १००	३००
७०. कलश १०१	३०३
७१. गाथा १४५	३०७
७२. कलश १०२	३१२
७३. गाथा १४६-१४९	३१६
७४. गाथा १५०	३२२
७५. कलश १०३	३२५
७६. कलश १०४	३२८
७७. गाथा १५१	३३४
७८. गाथा १५२-१५३	३३९
७९. कलश १०५	३४१
८०. गाथा १५४	३४३
८१. गाथा १५५	३४८
८२. गाथा १५६	३५३
८३. कलश १०६-१०८	३५६
८४. गाथा १५७-१५९	३६१
८५. गाथा १६०	३६५
८६. गाथा १६१-१६३	३६८
८७. कलश १०९	३७२
८८. कलश ११०	३७६
८९. कलश १११	३८०
९०. कलश ११२	३८४
९१. गाथा पद्यानुवाद	३८७
९२. कलश पद्यानुवाद	३९४

कर्ताकर्माधिकार

(दोहा)

मैं कर्ता हूँ कर्म का कर्म है मेरा कर्म।
ऐसी मिथ्या मान्यता है मिथ्यात्व अधर्म ॥
निज आतम तल्लीनता सुखमय आतमधर्म।
श्री जिन जिनवरदेव ने यह समझाया मर्म ॥

कर्ताकर्माधिकार आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में जो पहला वाक्य लिखते हैं, वह इसप्रकार है –

"अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशतः – अब जीव और अजीव ही कर्ता-कर्म के वेष में प्रवेश करते हैं।"

उक्त वाक्य में समागत 'अब' और 'ही' शब्द यह बताते हैं कि ये जीव-अजीव पहले किसी दूसरे वेष में रंगमंच पर आये थे और अब वे ही जीव-अजीव कर्ता-कर्म के वेष में आ रहे हैं।

कर्ताकर्माधिकार के इस आरंभ के वाक्य की संधि जीवाजीवाधिकार के उस अन्तिम वाक्य से बैठती है, जिसमें कहा गया है कि –

"इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रान्तौ – इसप्रकार जीव और अजीव पृथक् होकर रंगमंच से निकल जाते हैं।"

'पृथक् होकर' इस वाक्य से यह स्पष्ट ही है कि ये दोनों एक बनकर रंगमंच पर आये थे। जैसाकि जीवाजीवाधिकार के आरंभिक वाक्य से भी स्पष्ट है कि **"अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः** – अब जीव और अजीव एक होकर प्रवेश करते हैं।"

तात्पर्य यह है कि पहले जीव और अजीव एक बनकर आये थे, पर ज्ञानियों द्वारा पहिचान लिए जाने पर पृथक् होकर निकल गये, पर अब वे ही जीव-अजीव कर्ता-कर्म का वेष बनाकर आ रहे हैं। जब ज्ञानियों द्वारा इस वेष में भी इन्हें पहिचान लिया जाएगा; तब वे इस वेष को भी छोड़कर निकल जावेंगे। जैसाकि कर्ताकर्माधिकार के अन्तिम वाक्य से स्पष्ट है।

"इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्तौ – इसप्रकार जीव और अजीव कर्ता-कर्म का वेष त्याग कर बाहर निकल गये।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि जीवाजीवाधिकार में पर में एकत्व और ममत्व का निषेध किया गया है, एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि का निषेध किया गया है और इस कर्ताकर्माधिकार में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का निषेध किया जा रहा है, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि का निषेध किया जा रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस अधिकार की टीका लिखने के आरंभ में ही उस ज्ञानज्योति का स्मरण कर रहे हैं, जो इस कर्ता-कर्म संबंधी अज्ञान का अभाव करती हुई प्रगट होती है। वह मंगलाचरण का छन्द मूलतः इसप्रकार है –

(मदाक्रान्ता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी ।
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ॥
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं ।
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्य निर्भासि विश्वम् ॥ ४६ ॥

(हरिगीत)

मैं एक कर्ता आत्मा क्रोधादि मेरे कर्म सब ।
यही कर्ताकर्म की है प्रवृत्ति अज्ञानमय ॥
शमन करती इसे प्रगटी सर्व विश्व विकाशनी ।
अतिधीर परमोदात्त पावन ज्ञानज्योति प्रकाशनी ॥ ४६ ॥

'इस लोक में एक चैतन्य आत्मा मैं तो एक कर्ता हूँ और ये क्रोधादिभाव मेरे कर्म हैं' – ऐसी अज्ञानियों की जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, उसे सब ओर से शमन करती हुई ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है। वह ज्ञानज्योति परम उदार है, अत्यन्त धीर है और पर के सहयोग बिना समस्त द्रव्यों को भिन्न-भिन्न बताने के स्वभाववाली होने से समस्त लोकालोक को साक्षात् जानती है।

इसप्रकार इस मंगलाचरण में समस्त पदार्थों को भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष जाननेवाली, अत्यन्तधीर और परमोदात्त केवलज्ञानज्योति को नमस्कार किया गया है; क्योंकि यह केवलज्ञानज्योति ही अज्ञानियों के कर्ताकर्मसंबंधी अज्ञान को नाश करने में समर्थ है।

तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम अज्ञानी देशनालब्धि के माध्यम से ही कर्ताकर्म संबंधी अज्ञान का अभाव करने का प्रयास करता है। या तो वह केवली भगवान, गणधरदेव, आचार्यमहाराज, अन्य साधुगणों और किसी ज्ञानी धर्मात्मा से सुनकर, समझकर इस अज्ञान को दूर करता है या फिर सर्वज्ञकथित आगम के अभ्यास से यह काम करता है। इसके बाद ही आत्मानुभूतिपूर्वक कर्ताकर्मसंबंधी अज्ञान का समूलतः नाश होता है।

यहाँ ज्ञानज्योति शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं – १. ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा, २. सम्यग्ज्ञान और ३. केवलज्ञान

ज्ञानज्योति के जो विशेषण कलश में दिये गये हैं, उनमें **'निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि'** और **'विश्वं साक्षात् कुर्वन्'** – ये दो विशेषण उक्त संदर्भ में विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

पहले विशेषण का सर्वत्र ही लगभग यह अर्थ किया गया है कि पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न पदार्थों को जानने के स्वभाववाली ज्ञानज्योति।

यदि इस विशेषण पर विशेष जोर दें तो सबको पृथक्-पृथक् जानने के स्वभाववाला भगवान आत्मा ऐसा अर्थ किया जा सकता है, पर जब **'विश्वं साक्षात् कुर्वन्'** विशेषण पर ध्यान देते हैं तो केवलज्ञान अर्थ ही ठीक लगता है।

कलश टीकाकार इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि वह ज्ञानज्योति सकल ज्ञेय वस्तु को एक समय में प्रत्यक्ष जानती है और भिन्न-भिन्न रूप से सकल द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननशील है। परमाध्यात्मतरंगिणी में तो अत्यन्त स्पष्ट रूप में केवलज्ञान अर्थ किया है। पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भी लिखते हैं कि पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का

उसका स्वभाव है, इसलिए वह समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है, प्रत्यक्ष जानती है।

यद्यपि ज्ञानज्योति के विशेषणों पर ध्यान देने से केवलज्ञान अर्थ पर ही विशेष ध्यान जाता है, तथापि इन विशेषणों को हम किसी अपेक्षा सम्यग्ज्ञान पर भी घटित कर सकते हैं। सम्यग्ज्ञान के अर्थ में सबसे प्रबल युक्ति यह है कि कर्ताकर्म संबंधी अज्ञान का नाश करती हुई जो ज्ञानज्योति प्रगट होती है, वह चतुर्थ गुणस्थान में होनेवाली आत्मानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान ही होना चाहिए; क्योंकि स्वयं का कर्ताकर्म संबंधी अज्ञान का नाश होने पर तो सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति ही प्रगट होती है, केवलज्ञानज्योति नहीं। यदि केवलज्ञानज्योति को कर्ताकर्मसंबंधी अज्ञान का नाश करनेवाली कहेंगे तो फिर कर्ताकर्मसंबंधी अज्ञान बारहवें गुणस्थान तक मानना होगा, जो कि संभव नहीं है। अत: यही ठीक है कि वह अज्ञान केवली का स्वयं का न होकर अज्ञानी शिष्यों का ही होगा।

ज्ञानज्योति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

"ज्ञानज्योति त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वरूपी स्वरूपलक्ष्मी युक्त आत्मस्वभाव ही है[१]।.....

वह ज्ञानज्योति पर की सहायता के बिना पृथक्-पृथक् द्रव्यों को प्रकाशित करने के स्वभाववाली है, अत: समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानती है। ज्ञातास्वभाव के आश्रय से जो ज्ञानपर्याय प्रगट होती है, उसका स्वभाव पृथक्-पृथक् द्रव्यों को सम्पूर्णरूप से प्रकाशित करने का है। ज्ञान का स्वभाव सविकल्प है अर्थात् जगत में जितने भी अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उन सबको भिन्न-भिन्नरूप से जैसे हैं, वैसे ही जानने का ज्ञान का स्वभाव है। केवलज्ञान की पर्याय हो या श्रुतज्ञान की – दोनों ही पर्यायों का स्वभाव अपनी-अपनी सीमा में पर की सहायता के बिना ही पृथक्-पृथक् द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्यायों को प्रकाशित करने का है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि अपरिमित स्वभाव से भरी हुई शुद्धचैतन्यप्रकाशमय वस्तु आत्मा की ओर ढलने पर ज्ञान में ऐसी

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ २२

सामर्थ्य प्रगट हो जाती है कि वह स्वद्रव्य को जानने के साथ ही समस्त लोकालोक को भी जानने लगता है। ज्ञान की पर्याय का ऐसा स्वपरप्रकाशक स्वभाव स्वयं से है। अहो! ज्ञानस्वभावी आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि यह पर में कुछ करता नहीं है और जानता सबको है।[१]''

जीवाजीवाधिकार के मंगलाचरण में इसी ज्ञानज्योति को धीर और उदात्त कहा था और यहाँ अत्यन्तधीर और परम-उदात्त कहा जा रहा है। धीर और उदात्त का विशेष अर्थ वहाँ किया ही जा चुका है; अत: यहाँ कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ जीवाजीवाधिकार होने से जीव और अजीव में एकत्व संबंधी अज्ञान का नाश करने वाली ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया था। यहाँ कर्ताकर्म अधिकार होने से जीव और अजीव के परस्पर कर्ता-कर्म भाव संबंधी अज्ञान का नाश करती हुई ज्ञानज्योति को याद किया जा रहा है। एकत्व और ममत्व संबंधी अज्ञान से कर्तृत्व और भोक्तृत्व संबंधी अज्ञान की जड़ें बहुत गहरी हैं। अत: उसके नाश के लिए अत्यन्त धीरता और परम उदात्तता की आवश्यकता है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने परमोदात्त का अर्थ – किसी के आधीन नहीं है और अत्यन्तधीर का अर्थ किसी प्रकार से आकुलतारूप नहीं है – किया है।

पण्डित बनारसीदास ने इस छन्द के भाव को इसप्रकार पद्यबद्ध किया है –

(सवैया इकतीसा)

''प्रथम अग्यानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करम कौ ।
अन्तर-विवेक आयौ आपापरभेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिटि भारत भरम कौ ।
भासे छहौं दरब के गुन परजाय सब,
नासे दुख लख्यौ मुख पूरन परम कौ ।
करम कौ करतार मान्यौ पुद्गल पिंड,
आप करतार भयौ आतम धरम कौ ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ २४

समयसार गाथा ६९-७०

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि ।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ॥७०॥

आतमा अर आस्रवों में भेद जब जाने नहीं ।
हैं अज्ञ तबतक जीव सब क्रोधादि में वर्तन करें ॥६९॥
क्रोधादि में वर्तन करें तब कर्म का संचय करें ।
हो कर्मबंधन इसतरह इसजीव को जिनवर कहें ॥७०॥

जबतक यह जीव आत्मा और आस्रवों – इन दोनों के भेद और अन्तर को नहीं जानता है, तबतक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादि आस्रवों में प्रवर्तता है। क्रोधादि में प्रवर्तमान उस जीव के कर्म का संचय होता है। जीव के कर्मों का बंध वास्तव में इसप्रकार होता है – ऐसा सर्वदर्शी भगवानों ने कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसका भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यह आत्मा तादात्म्य संबंधवाले आत्मा और ज्ञान में विशेष अन्तर न होने से उनमें परस्पर भिन्नता न देखता हुआ ज्ञान में आत्मपने (अपनेपन से) निशंकतया प्रवर्तता है। सो ठीक ही है, क्योंकि ज्ञानक्रिया आत्मा की स्वभावभूत क्रिया है, इसकारण उसमें निशंकतया प्रवर्तन का निषेध नहीं किया गया है। किन्तु यह आत्मा संयोगसिद्ध संबंधवाले आत्मा और क्रोधादि में भी अपने अज्ञान से भेद न जानता हुआ क्रोधादि में भी ज्ञान के समान ही आत्मपने (अपनेपन से) निशंकतया प्रवर्तता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि क्रोधादि क्रिया आत्मा की स्वभावभूत क्रिया नहीं है, परभावभूत (विभावभूत) क्रिया है, इसकारण उसमें निशंकतया प्रवर्तन का निषेध किया है।

यद्यपि परभावभूत होने से क्रोधादि क्रिया का निषेध किया गया है, तथापि अज्ञानी को उसमें स्वभावभूतपने का अभ्यास (अनुभव) होने से अज्ञानी क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, द्वेषरूप परिणमित होता है।

अपने अज्ञानभाव से ज्ञानभवनरूप सहज उदासीन अवस्था का त्याग करके अज्ञानभवन व्यापार रूप अर्थात् क्रोधादि व्यापार रूप प्रवर्तित होता हुआ अज्ञानी आत्मा कर्ता है और ज्ञानभवन व्यापाररूप प्रवृत्ति से भिन्न, अंतरंग में उत्पन्न क्रोधादि उसके कर्म हैं।

इसप्रकार अनादिकालीन अज्ञान से होनेवाली यह कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है।

इसप्रकार अपने अज्ञान के कारण, कर्ताकर्मभाव से क्रोधादि में प्रवर्तमान इस आत्मा के, क्रोधादि की प्रवृत्तिरूप परिणाम को निमित्तमात्र करके, स्वयं अपने भाव से ही परिणमित होता हुआ पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है।

इसप्रकार इस जीव के जीव और पुद्गल के परस्पर अवगाह लक्षणवाला संबंधरूप बंध सिद्ध होता है।

अनेकांतात्मक होने पर भी अनादि एक प्रवाहपन होने से इसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता है। यह बंध कर्ताकर्म की प्रवृत्ति के निमित्तभूत अज्ञान का निमित्त है।''

आत्मख्याति के भाव को पंडित जयचन्दजी भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह आत्मा जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होता है, उसीप्रकार जबतक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है, ज्ञान में और क्रोधादि में भेद नहीं जानता; तबतक उसके कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ वह स्वयं कर्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है। और अनादि अज्ञान से तो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से बन्ध है और उस बन्ध के निमित्त से अज्ञान है। इसप्रकार अनादि संतान (प्रवाह) है, इसलिए उसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता।

इसप्रकार जबतक आत्मा क्रोधादि कर्म का कर्ता होकर परिणमित होता है, तबतक कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है और तबतक कर्म का बन्ध होता है।"

अपने घर में सभी निशंकपने प्रवेश करते हैं। अपने घर में प्रवेश करते समय किसी को भी यह विकल्प नहीं आता कि पूछकर जाना चाहिए, किन्तु जब हम किसी दूसरे व्यक्ति के घर जाते हैं तो दरवाजे पर ही ठिठक जाते हैं, घंटी बजाते हैं, दरवाजा खुला हो तो भी बिना अनुमति के अन्दर नहीं जाते हैं, कदम-कदम पर सशंक प्रवृत्ति होती है। इससे यह निश्चित होता है कि आत्मा का जिन भावों में अपनापन होता है, उसकी उन भावों में सहज ही निशंक प्रवृत्ति होती है और जिन भावों में अपनापन नहीं होता, उन भावों में या तो प्रवृत्ति होती ही नहीं है या फिर सशंक प्रवृत्ति होती है।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, अपना भाव है, ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य संबंध है, इसीकारण जिनागम में आत्मा की ज्ञान में निशंक प्रवृत्ति का निषेध नहीं किया गया है, किन्तु क्रोधादि भाव आत्मा के विभाव हैं, विपरीत भाव हैं; वे आत्मा के स्वभावभाव नहीं हैं। उनका और आत्मा का संयोगसिद्ध संबंध हैं, इसकारण जिनागम में आत्मा की क्रोधादि में निशंक प्रवृत्ति का निषेध किया गया है।

ज्ञान आत्मा की स्वभावभूत क्रिया है और क्रोधादिभाव विभावभूत क्रिया है। ज्ञान करने योग्य क्रिया है और क्रोधादि निषेध करने योग्य क्रिया है। यह बात अत्यन्त स्पष्ट होने पर भी अज्ञानीजनों को क्रोधादिभाव भी ज्ञान के समान ही स्वभावभूत भासित होते हैं, अपने लगते हैं। अज्ञानियों को अपने अज्ञान के कारण परभावभूत होने पर भी, विभावरूप होने पर भी क्रोधादि में अपनापन भासित होता है। इसकारण अज्ञानियों की ज्ञान के समान ही क्रोधादि में भी निशंक प्रवृत्ति होती है।

इसप्रकार क्रोधादि में निशंकपने प्रवृत्ति करनेवाला अज्ञानी आत्मा उन क्रोधादि भावों का कर्ता होता है और क्रोधादि भाव उस अज्ञानी आत्मा के कर्म होते हैं। अज्ञानी आत्मा कर्ता और उसमें उत्पन्न होने वाले क्रोधादिभाव उसके

कर्म। - इसप्रकार अज्ञानी आत्मा के अनादिकाल से कर्ताकर्म की प्रवृत्ति विद्यमान है।

अज्ञानी आत्मा के इन क्रोधादिभावरूप अज्ञान का निमित्त पाकर पौद्गलिककार्माण वर्गणाएं स्वयं अपने भाव से ही कर्मरूप परिणमित होती हैं। इसप्रकार इस आत्मा के जीव और पुद्गल का परस्पर अवगाह लक्षणवाला संवंध रूप बंध सिद्ध होता है।

उक्त विषयवस्तु को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"यहाँ टीका में तीनप्रकार के संबंध कहे हैं -

१. ज्ञान और आत्मा का तादात्म्यसिद्धसंबंध।

२. राग और आत्मा का संयोगसिद्धसंबंध।

३. कर्म और आत्मा का परस्पर अवगाहसिद्धसंबंध।

ज्ञान और आत्मा का तादात्म्यसिद्ध संबंध है तथा दोनों का अभेदभाव से परिणमन होना धर्म है। राग व आत्मा में संयोगसिद्ध संबंध है तथा दोनों को एक मानकर परिणमन करना अज्ञान है।

कर्म और आत्मा में एकक्षेत्रावगाह संबंध है। कर्म और आत्मा परस्पर एक क्षेत्र में व्याप्त होकर रहते हैं - ऐसा संबंधरूप ही बंध है।[१]

क्रिया तीनप्रकार की होती हैं -

१. शरीर, मन, वाणी, धनादि जड़रूप परद्रव्य की क्रिया जड़ की क्रिया है।

२. परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न हुई राग की क्रिया विभावरूप क्रिया है।

३. स्वभाव के लक्ष्य से उत्पन्न हुई ज्ञान की क्रिया स्वभावभूत क्रिया है।

जड़ की क्रिया तो आत्मा तीन काल में कभी करता ही नहीं है, कर भी नहीं सकता। 'ज्ञान ही आत्मा' - इसप्रकार ज्ञान में एकत्वभाव से निशंकपने रहता हुआ आत्मा राग की क्रिया को भी नहीं करता। 'ज्ञान ही आत्मा है' -

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ३७

इसप्रकार स्वभावसन्मुख होकर स्वानुभव करने पर ज्ञानक्रिया का कर्ता होता है। इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों आ जाते हैं।

जानना, जानना, जानना मात्र जिसका स्वभाव है, वह आत्मा द्रव्य है, जाननेरूप ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान गुण है और गुण व गुणी दोनों, एक अभिन्न हैं। स्वलक्ष्यरूप जो परिणमन हुआ, वह ज्ञानक्रियारूप पर्याय है। इसप्रकार ज्ञानक्रिया में द्रव्य, गुण, पर्याय – तीनों आ जाते हैं। ऐसी यह स्वभावभूत क्रिया ही धर्म है, मोक्षमार्ग है।

'ज्ञान ही आत्मा है' – ऐसी स्व की ओर ढलती हुई जो स्वात्मप्रतीति हुई, वह श्रद्धान है, जो स्वात्मज्ञान हुआ, वह सम्यग्ज्ञान है तथा जो स्वात्मस्थिरता हुई, वह सम्यक्चारित्र है। इन सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र की एकरूप परिणति ही मोक्षमार्ग है।[१]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप जो ज्ञानक्रिया है, वह ज्ञानी का कर्म है और वह निषेध करने योग्य नहीं है। रागादिभावरूप जो विभावक्रिया है, वह ज्ञानी का कर्म नहीं है; अतः निषेध करने योग्य है। तथापि अज्ञानी जीव उसे ज्ञानक्रिया के समान ही स्वभावभूत क्रिया मानकर उसका कर्ता बनता है और मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन करता है, इसकारण वह उस अज्ञान क्रिया का कर्ता बनता है और वह अज्ञानक्रिया उसका कर्म बनती है। अज्ञानी की इसी प्रवृत्ति को कर्ताकर्म की प्रवृत्ति कहते हैं और इसी के निमित्त से मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है। जब वे मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्म उदय में आते हैं तो उनका निमित्त पाकर यह भगवान आत्मा मोह-क्रोधादि भावकर्म रूप परिणमित होता है और उन मोह-क्रोधादि भावों का निमित्त पाकर फिर मोहादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है। इसप्रकार इस आत्मा के अनादि से कर्म बंध हो रहा है।

यद्यपि यह आत्मा स्वयं अपनी उपादानगत योग्यता के कारण मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होता है, तथापि उसमें मोहादि कर्मों का उदय निमित्त अवश्य

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ३०

होता है। इसीप्रकार कार्माण वर्गणाएं भी स्वयं अपनी उपादानगत योग्यता के कारण कर्मरूप परिणमित होती हैं, फिर भी इनमें आत्मा के मोह-राग-द्वेष भाव निमित्त अवश्य होते हैं। इसप्रकार इनका यह निमित्त-नैमित्तिक संबंध अनादि से है।

उक्त संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्रकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का निम्नांकित कथन भी द्रष्टव्य है-

"जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥
एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

यहाँ जीवकृत रागादि परिणामों का निमित्तमात्र पाकर जीव से भिन्न कार्माण वर्गणारूप पुद्गल स्कंध अपने आप ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणम जाते हैं। इसीप्रकार अपने चिदात्मक रागादि परिणामों से स्वयं ही परिणमन करते उस आत्मा के भी पौद्गलिक ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म मात्र निमित्त ही होते हैं।- इसप्रकार यह आत्मा कर्मकृतरागादि व शरीरादिभावों से असमाहित होने पर भी, भिन्न होने पर भी अज्ञानीजनों को ये भाव अपने ही लगते हैं, अपने ही प्रतिभासित होते हैं। अज्ञानियों का यह प्रतिभास (रागादि व शरीरादि का अपना लगना) ही संसार का बीज है, संसार का कारण है।"

ज्ञानादि के समान ही रागादि में भी अपनापन होना अज्ञान है। यह अज्ञान ही कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का मूल (निमित्त) है और इस अज्ञान का मूल (निमित्त) पूर्वबद्ध कर्म है या पूर्वबद्ध कर्म का उदय है।

प्रश्न – कर्ताकर्म की प्रवृत्ति रूप अज्ञान से कर्म का बंध और कर्मों के उदय से कर्ताकर्म की प्रवृत्ति रूप अज्ञान। यह तो एक दूसरे के आश्रय हो गये; अतः इनमें इतरेतराश्रय नाम का दोष आयेगा। परस्पर एक दूसरे के आश्रय होने

को ही इतरेतराश्रय दोष कहते हैं। कर्म का कारण अज्ञान और अज्ञान का कारण कर्म – इसप्रकार यह अज्ञान और कर्म परस्पर एक-दूसरे के आश्रय हो गये। अतः यहाँ इतरेतराश्रय दोष हुआ। इस दोष को अन्योन्याश्रय दोष और परस्पराश्रय दोष भी कहते हैं।

उत्तर – इसप्रकार का दोष तो बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज में भी दिया जा सकता है, पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि जिस बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होता है, वह बीज उसी वृक्ष से उत्पन्न नहीं होता। इसीप्रकार जिस अज्ञान से जो कर्मबंध होता है, उस कर्म के उदय से वही अज्ञान नहीं होता, अपितु अन्य अज्ञान ही होता है। अतः इतरेतराश्रय दोष नहीं हो सकता।

प्रश्न – न सही इतरेतराश्रय, पर इसप्रकार मानने से अनवस्था दोष हो जावेगा; क्योंकि अज्ञान का कारण पूर्वकृत कर्म और पूर्वकृत कर्म का कारण उसके भी पहले का अज्ञान तथा पहले के अज्ञान का कारण उसके भी पहले का कर्म; इसप्रकार हम कहाँ तक पीछे जावेंगे, आखिर कहीं तो विराम लेना ही होगा ?

उत्तर – नहीं, ऐसी कोई परेशानी नहीं होगी; क्योंकि यह परम्परा अनादि है। आखिर बीज और वृक्ष के उदाहरण में भी तो अनादि परम्परा के आधार पर ही इन दोषों का निराकरण होता है। बीज और वृक्ष तथा कर्म और अज्ञान की अनादि परम्परा होने से न तो इसमें इतरेतराश्रय दोष आता है और न अनवस्था। अतः यह सम्पूर्ण कथन निर्दोष और निरापद है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्मबंध का मूल कारण कर्ताकर्मसंबंधी अज्ञान है, कर्ताकर्म प्रवृत्तिरूप अज्ञान है, आत्मा और आस्रवों में अभेदज्ञान है, आत्मा और आस्रवों के बीच होने वाले भेद ज्ञान का अभाव है। अतः मूल गाथा में यह ठीक ही कहा गया है कि जबतक यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों में भेद नहीं जानता, तबतक अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादि में वर्तन करता है और क्रोधादि में वर्तते हुए इस आत्मा के कर्म का संचय होता है। जीव के बंध का स्वरूप सर्वज्ञभगवान ने यही कहा है।

प्रश्न – यदि आत्मा और आस्रवों को भिन्न-भिन्न जान लेने मात्र से बंध का निरोध हो जाता है तो फिर आपने बताया और हमने जान लिया, तो क्या हमारे बंध का निरोध हो गया ?

उत्तर – अरे! भाई! ऐसे जानने से काम होने वाला नहीं है। आत्मानुभव पूर्वक जानने से बंध का निरोध होता है। यही कारण है कि आचार्य जयसेन ने इसी गाथा की व्याख्या में अज्ञानी का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''किंच यावत्क्रोधाद्यास्रवेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मस्वरूपं स्वसंवेदनज्ञानबलेन न जानाति तावत्कालमज्ञानी भवति। अज्ञानी सन् अज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं न मुंचति तस्माद्बन्धो भवति। बंधात्संसारं परिभ्रमतीत्यभिप्रायः।

दूसरी बात यह है कि जबतक क्रोधादि आस्रवभावों से भिन्न शुद्धात्मा का स्वभाव स्वसंवेदनज्ञान के बल से नहीं जानता, जबतक अज्ञानी रहता है। अज्ञानी रहते हुए अज्ञान से उत्पन्न होने वाली कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति को भी नहीं छोड़ता है, अतः बंध होता है। बंध से संसार परिभ्रमण होता है – यह अभिप्राय है।''

उक्त कथन में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि आत्मा और आस्रवों की भिन्नता मात्र शब्दों में नहीं जानना है, अपितु आस्रवों से भिन्न निज-भगवान आत्मा अनुभूति में आना चाहिए, अनुभव ज्ञान का विषय बनना चाहिए। जबतक निज भगवान आत्मा अनुभूति का विषय नहीं बनेगा, आत्मानुभूति नहीं होगी, तबतक कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति भी निवृत्त नहीं होगी और जबतक कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति निवृत्त नहीं होगी, तबतक बंध का निरोध भी नहीं होगा।

इसप्रकार इन गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि बंध का मूल कारण अज्ञानजन्य कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है और जबतक इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं होगी; तबतक कर्म का बंध भी नहीं रुकेगा। ●

समयसार गाथा ७१

६९ और ७०वीं गाथा में यह बताया गया है कि बंध का मूल कारण अज्ञानजन्य कर्ताकर्म की प्रवृत्ति ही है। अत: अब यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि कर्ताकर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति कब होगी, कैसे होगी? इसी प्रश्न के उत्तर में ७१वीं गाथा का जन्म हुआ है।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ७१वीं गाथा की उत्थानिका इसप्रकार देते हैं –

कदास्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरितिचेत् – यदि कोई कहे कि कर्ताकर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति कब होती है तो कहते हैं कि –

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥
आतमा अर आस्रवों में भेद जाने जीव जब ।
जिनदेव ने ऐसा कहा कि नहीं होवे बंध तब ॥७१॥

जब यह जीव आत्मा और आस्रवों का अन्तर और भेद जानता है, तब उसे बंध नहीं होता।

देखो, उत्थानिका में तो प्रश्न किया गया था कि कर्ताकर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति कब होती है और गाथा में उत्तर दिया जा रहा है कि जब यह जीव आत्मा और आस्रवों में भेद जानता है, तब उसे बंध नहीं होता है। तथा आत्मख्याति टीका के अन्त में निष्कर्ष निकालेंगे कि ऐसा होने पर ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि उत्थानिका के प्रश्न, गाथा के उत्तर और टीका के निष्कर्ष में कोई संगति नहीं है; पर जब गहराई में जाकर विचार करते हैं तो सबकुछ स्पष्ट हो जाता है।

यद्यपि देहादि पर और क्रोधादि आस्रवभावों में एकत्व-ममत्वबुद्धि भी अज्ञान ही है; तथापि यहाँ कर्ताकर्म अधिकार होने से, कर्ताकर्म का प्रकरण

होने से क्रोधादि आस्रवभावों में कर्तृत्व को ही अज्ञान कहा जा रहा है। आत्मा कर्ता और क्रोधादि आस्रवभाव कर्म – इसप्रकार की मान्यता का नाम ही यहाँ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है और इसे ही अज्ञान कहते हैं तथा यही बंध का मूल कारण भी है। अत: यह स्पष्ट ही है कि यह कर्ताकर्म संबंधी अज्ञान ही बंध का कारण है और इस अज्ञान के अभाव होने पर कर्ताकर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति भी हो जाती है और बंध का निरोध भी हो जाता है। अत: कर्ताकर्मसंबंधी अज्ञान के निरोध से अर्थात् ज्ञानमात्र से बंध का निरोध सहज ही सिद्ध हो जाता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि उत्थानिका में 'कब' शब्द द्वारा प्रश्न को कालवाचक बनाया गया है और गाथा में विधि बताकर पुरुषार्थ की मुख्यता से उत्तर दिया गया है। गाथा में 'कब' का उत्तर निश्चित समय न बताकर प्रश्नकार पर ही वजन डालकर, सम्पूर्ण उत्तरदायित्व डालकर कहा गया है कि जब तू आत्मा और आस्रवों के भेद को जानेगा, अन्तर को पहिचानेगा; तब बंध का निरोध होगा। इसतरह जानने पर वजन डालकर ज्ञानमात्र से बंध का निरोध सिद्ध किया गया है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"इस लोक में वस्तु अपने स्वभावमात्र ही होती है और स्व का भवन (होना-परिणमना) ही स्वभाव है। इससे यह निश्चय हुआ कि ज्ञान का होना परिणमना आत्मा है और क्रोधादि का होना-परिणमना क्रोधादि है। ज्ञान का होना-परिणमना क्रोधादि का होना-परिणमना नहीं है; क्योंकि ज्ञान के होते (परिणमन के) समय जिसप्रकार ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है, उसप्रकार क्रोधादि होते मालूम नहीं पड़ते। इसीप्रकार जो क्रोधादि का होना (परिणमना) है, वह ज्ञान का होना (परिणमना) नहीं है; क्योंकि क्रोधादि के होते समय जिसप्रकार क्रोधादि होते हुए मालूम पड़ते हैं, उसप्रकार ज्ञान होता हुआ मालूम नहीं पड़ता।

इसप्रकार आत्मा और क्रोधादि का निश्चय से एक वस्तुत्व नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और क्रोधादि एक वस्तु नहीं है।

इसप्रकार आत्मा और आस्रवों का विशेष (अन्तर) देखने से जब यह आत्मा उनमें भेद (भिन्नता) जानता है, तब इस आत्मा के अनादि होने पर भी अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति निवृत्त होती है। उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञान के निमित्त से होता हुआ पौद्गलिक द्रव्यकर्म का बंध भी निवृत्त होता है। – ऐसा होने पर ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध होता है।"

आत्मख्याति के भाव को तीन पंक्तियों में समेटते हुए पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"क्रोधादि और ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं; न तो ज्ञान में क्रोधादि हैं और न क्रोधादि में ज्ञान है। ऐसा उनका भेदज्ञान हो; तब उनके एकत्वरूप अज्ञान का नाश होता है और अज्ञान के नाश हो जाने से कर्मबंध भी नहीं होता। – इसप्रकार ज्ञान से ही बंध का निरोध होता है।"

'वस्तु स्वभावमात्र ही होती है' – इस नियम के आधार पर आत्मख्याति में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि विभाव को वस्तु में शामिल नहीं माना जाता। ज्ञान आत्मा का स्वभाव होने से ज्ञान के परिणमन को तो यहाँ आत्मवस्तु में शामिल किया गया है, किन्तु क्रोधादि भाव आत्मा के विकार होने से उन्हें आत्मवस्तु में शामिल नहीं किया गया है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणमन तो आत्मवस्तु में शामिल है, पर मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विकारी परिणमन आत्मवस्तु में शामिल नहीं है। इसप्रकार आत्मद्रव्य, ज्ञानादिगुण और उनका निर्मल परिणमन तो आत्मवस्तु में शामिल हैं, पर विकारी परिणमन नहीं।

४७ शक्तियों के प्रकरण में भी आत्मा में निर्मल पर्याय शामिल करके बात कही है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण दृष्टव्य है, जो इसप्रकार है –

"प्रश्न – नियमसार के शुद्धभाव अधिकार की गाथा ३८ में तो ऐसा कहा है कि जो त्रिकाली ध्रुव चैतन्यस्वभावमय वस्तु है, वह आत्मा है। वहाँ संवर,

निर्जरा तथा मोक्ष की पर्याय को हेय कहकर, ये शुद्धपर्यायें भी आत्मा नहीं है – ऐसा कहा है। अतः यह कथन किस अपेक्षा से है ?

उत्तर – भाई! वहाँ अपेक्षा जुदी है। वहाँ तो ध्यान का ध्येय, तथा सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली शुद्ध स्वभाव, शुद्ध चैतन्यमय वस्तु बतलाने का प्रयोजन है। एक त्रिकाली शुद्धवस्तु, अविनाशी आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट होते हैं, इसलिए वहाँ मात्र उसे ही उपादेय कहा है। पर्याय तो प्रतिक्षण विनाशीक है तथा उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता, बल्कि विकल्प ही होते हैं – इसकारण संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की पर्यायों को भी हेय कहा है। त्रिकाली ध्रुवद्रव्य में शामिल न होने से निर्मलपर्याय भी आत्मा नहीं है – ऐसा कहा है।

यहाँ तो कर्ता का कर्म बतलाने की अपेक्षा है, इसलिए कहते हैं कि जो रागरूप परिणमन नहीं करके स्वभावरूप-ज्ञानरूप परिणमन करे, वह आत्मा है। जो रागरूप परिणमन करे, वह आत्मा नहीं। आत्मा तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु है, इसलिए निर्मल ज्ञान-आनन्दरूप परिणमन करनेवाला ही आत्मा है। आत्मा के स्वभाव के अनुरूप परिणमन को यहाँ आत्मा कहा है। जैसी शुद्धचैतन्यमय वस्तु है, वैसा ही (शुद्धचैतन्यमय) परिणमन होना, कर्ता का कर्म है – यहाँ यह बात है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि दया, दान, व्रत आदि शुभरागरूप विकारी पर्यायें मेरे कर्म तथा मैं उनका कर्त्ता हूँ, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से जो निर्मल ज्ञानरूप परिणमन हुआ, वह मेरा कर्म है तथा पर के लक्ष्य से जो राग होता है, वह मेरा कर्म नहीं है। भाई! यह वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। लोगों ने बाह्य क्रियाकाण्ड को ही धर्म मान रखा है। उनमें कुछ लोगों को तो ऐसा लगता है कि इसप्रकार कहने से तो व्यवहार का लोप हो जाएगा, परन्तु यहाँ तो आचार्य भगवान स्पष्ट कहते हैं कि रागभाव तेरे स्वरूप में नहीं है और उसको तू अपना कर्म (कार्य) माने, तो यह तेरा अज्ञान है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ४४

स्वभावरूप से परिणमन होना – यह ज्ञानी का कर्म है तथा रागरूप परिणमन होना – यह अज्ञानी का कर्म है। पर का कुछ करना-धरना तो आत्मा के स्वभाव में ही नहीं है।[१]

प्रश्न – ज्ञानी के भी रागादि तो होते हैं न ?

उत्तर – हाँ, साधकदशा में ज्ञानी को राग होता है, परन्तु ज्ञानी के ज्ञानरूप परिणमते हुए वह राग ज्ञानरूप परिणमन से भिन्न रह जाता है। जो राग होता है, उसे ज्ञानी जानता हुआ प्रवर्तता है, उसका कर्त्ता नहीं बनता अर्थात् ज्ञानी राग का ज्ञाता-दृष्टा रहकर मात्र उसे जानता ही है, उससे तन्मय नहीं होता, ज्ञानी को उस राग की रुचि नहीं है, तथा उसका स्वामित्व एवं कर्तृत्व भी नहीं है।[२]

प्रश्न – 'समकिती निरास्रव है, उसे राग नहीं होता' – ऐसा कथन शास्त्र में आता है न ? उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर – हाँ, ऐसा कथन आता है, किन्तु उसकी क्या अपेक्षा है – यह जानना जरूरी है। दृष्टि के विषयरूप त्रिकाली शुद्धस्वरूप में राग नहीं है – इस अपेक्षा से ज्ञानी को राग नहीं है, ऐसा कहा है। यदि ज्ञान की अपेक्षा से देखें तो दसवें गुणस्थान में भी ज्ञानी को सूक्ष्म लोभ का परिणाम है, ज्ञानी की साधक दशा में ज्ञानधारा व कर्मधारा – दोनों धारायें एकसाथ रहती हैं। जबकि अज्ञानी को अकेली कर्मधारा – राग की रुचिरूप मिथ्यात्वधारा ही रहती है।

ज्ञानी को अकेली ज्ञानधारा है, परन्तु साथ में जो स्वभाव से विरुद्ध रागधारा है, उसे ज्ञानी ज्ञान का ज्ञेय बना लेता है। जितनी रागधारा है, उतना दुःख है, बन्धन है – ऐसा ज्ञानी जानता है। सम्यग्दृष्टि विषय के राग में अटका हो तो भी राग का ज्ञायक ही रहता है। अर्थात् 'मैं राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप ही हूँ' – इसप्रकार ज्ञानरूप से ही परिणमन करता है। ज्ञानी दोनों को भिन्न-भिन्न करके ज्ञानरूप से परिणमता है।[३]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ४५
२. वही, पृष्ठ ४५
३. वही, पृष्ठ ४९

प्रश्न – इस गाथा में जो ज्ञानमात्र से बंध का निरोध सिद्ध किया जा रहा है, वह कौन से गुणस्थान में होता है ?

उत्तर – उक्त सन्दर्भ में इसी गाथा की आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका का अर्थ लिखने के उपरान्त वीरसागरजी महाराज के द्वारा लिखा गया भावार्थ दृष्टव्य है, जो इसप्रकार है –

"जिससमय शुद्धात्मानुभव होता है, तब ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय अभेदरत्नत्रय प्रगट होता है; उसीसमय अज्ञान अवस्था नष्ट होती है, मिथ्यात्व अवस्था नष्ट होती है, ज्ञानी होता है यानि चतुर्थगुणस्थान प्रगट होता है, तब ही मोक्षमार्ग शुरू होता है, बंध का निरोध होता है।"

आचार्य अमृतचन्द की आत्मख्याति टीका से भी यही भाव प्रतिफलित होता है; क्योंकि उन्होंने अनादि अज्ञानजन्य कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के निषेध की बात की है। अनादिकालीन अज्ञान के नाश से तो सर्वप्रथम चतुर्थगुणस्थान ही प्रगट होता है। सम्पूर्ण प्रकरण पर ध्यान देने से भी यही स्पष्ट होता है कि यहाँ चतुर्थ गुणस्थान की ही बात चल रही है।

इसप्रकार इस गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा और आस्रवों के बीच जो भिन्नता जानी जाती है, वही ज्ञान है और उससे ही बंध का निरोध होता है।

भगवान आत्मा को जानो

णविएहिं जं णविज्जई झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।
थुत्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥

– मोक्षपाहुड, गाथा १०३

हे भव्यजीवो ! जिनको सारी दुनिया नमस्कार करती है, वे भी जिनको नमस्कार करें, जिनकी सारी दुनिया स्तुति करती है, वे भी जिनकी स्तुति करें एवं जिनका सारी दुनिया ध्यान करती है, वे भी जिनका ध्यान करें – ऐसे इस देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा को जानो ।

समयसार गाथा ७२

७१वीं गाथा में यह सिद्ध किया गया था कि ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध होता है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि ज्ञानमात्र से बंध का निरोध कैसे हो सकता है। क्या अकेले जानने मात्र से बंध का निरोध हो जावेगा, कुछ करना नहीं होगा ?

उक्त शंका के समाधान के लिए ही ७२वीं गाथा का जन्म हुआ है। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति की उत्थानिका में लिखते हैं –

कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत् – यदि कोई कहे कि ज्ञानमात्र से बंध का निरोध किसप्रकार हो सकता है तो उसके उत्तर में कहते हैं कि –

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

इन आस्रवों की अशुचिता विपरीतता को जानकर ।
आतम करे उनसे निवर्तन दुःख कारण मानकर ॥७२॥

आस्रवों की अशुचिता एवं विपरीतता जानकर और वे दुःख के कारण हैं – ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

'आस्रव अपवित्र हैं, आत्मा के स्वभाव से विपरीत स्वभाव वाले हैं और दुःखों के कारण हैं' – जब जीव ऐसा जान लेता है तो उन्हें छोड़ देता है, उनसे निवृत्त हो जाता है। ऐसा जान लेने के बाद उनसे निवृत्त नहीं होने का कोई कारण नहीं रह जाता है। आखिर कोई जीव अपने विरोधीभावों को, अपवित्रभावों को और जो दुःखों के कारण हैं, उन भावों से क्यों चिपटा रहेगा? अतः इसप्रकार की जानकारी हो जाने पर उनसे निवृत्त हो जाना सहजप्रक्रिया है। इसलिए ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध होता है – यह कथन उचित ही है।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में आचार्य अमृतचंद्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार काई (सेवाल) जल का मैल है, जल की कलुषता है; उसीप्रकार आस्रवभाव भी आत्मा के मैल हैं, वे आत्मा में कलुषता के रूप में ही उपलब्ध होते हैं, कलुषता के रूप में ही अनुभव में आते हैं; अतः अशुचि हैं, अपवित्र हैं; और भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यभाव से ज्ञायकभाव रूप से उपलब्ध होता है, अनुभव में आता है; अतः अत्यन्त शुचि ही है, परमपवित्र ही है।

जड़ स्वभावी होने से आस्रवभाव दूसरों के द्वारा जानने योग्य हैं, इसलिए वे चैतन्य से अन्य स्वभाव वाले हैं, विपरीत स्वभाव वाले हैं और भगवान आत्मा तो नित्य विज्ञानघनस्वभाव वाला होने से स्वयं ही चेतक है, जानने वाला है; इसलिए वह चैतन्य से अनन्य स्वभाव वाला है, अविपरीत स्वभाव वाला है।

आकुलता उत्पन्न करने वाले होने से आस्रवभाव दुःख के कारण हैं और भगवान आत्मा तो नित्य ही अनाकुल स्वभाव वाला होने से किसी का कार्य या कारण न होने से दुःख का अकारण ही है।

जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों में इसप्रकार का भेद जानता है, अन्तर जानता है, तब उसीसमय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है; क्योंकि उनसे निवृत्त हुए बिना आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं होती है। इसलिए क्रोधादि आस्रवभावों से निवृत्ति के साथ अविनाभावी रूप से रहने वाले ज्ञानमात्र से ही अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्म के बंध का निरोध सिद्ध होता है।

अब इसी बात को तर्क और युक्ति से सिद्ध करते हुए आचार्यदेव पूछते हैं कि आत्मा और आस्रवों का उक्त भेदज्ञान ज्ञान है कि अज्ञान है?

यदि अज्ञान है तो फिर आत्मा और आस्रवों के बीच अभेदज्ञान रूप अज्ञान से उसमें क्या अन्तर रहा, अर्थात् कोई अन्तर नहीं रहा और यदि वह ज्ञान है

तो हम पूछते हैं कि वह आस्रवों में प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त है? यदि वह ज्ञान आस्रवों में प्रवृत्त है तो भी आस्रवों और आत्मा के अभेदज्ञान रूप अज्ञान से उसमें कोई अन्तर नहीं रहा। और यदि वह ज्ञान आस्रवों से निवृत्त है तो फिर ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध क्यों नहीं होगा? अर्थात् ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध हो ही गया। इसप्रकार अज्ञान का अंश जो क्रियानय, उसका खण्डन हो गया। 'यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है' – ऐसा सिद्ध होने से ज्ञान के अंश एकान्त ज्ञाननय का भी खण्डन हो गया।"

इसीप्रकार का भाव आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में व्यक्त किया है।

गाथा में तो मात्र इतना ही है कि आस्रव अशुचि हैं, विपरीत भाव वाले हैं और दु:ख के कारण हैं; पर टीका में आचार्य अमृतचन्द्र यह भी बताते हैं कि भगवान आत्मा परमपवित्र है, ज्ञानभाव से अनन्य है – अविपरीत स्वभाव वाला है और दु:खों का अकारण है; क्योंकि प्रकरण भेदज्ञान का चल रहा है और वह भेदज्ञान आत्मा और आस्रवों के बीच ही करना है। अत: यह बताना आवश्यक ही है कि आत्मा और आस्रवों में न केवल भिन्नता है, अपितु परस्पर विपरीतता भी है। यही कारण है कि टीका में उन्हें आमने-सामने खड़ा करके यह बताया है कि आस्रव अपवित्र हैं और भगवान आत्मा परमपवित्र है, आस्रव जड़ हैं और भगवान आत्मा चेतन है तथा आस्रव दु:ख के कारण हैं और भगवान आत्मा दु:खों का कारण नहीं है, अकारण है। अत: ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं?

किसी व्यक्ति ने किसी को अपना हितैषी जानकर, पवित्र जानकर एवं सुख का कारण जानकर अपना रखा हो, अपना मान रखा हो; पर जब यह पता चले कि यह तो शत्रु है, शत्रु का गुप्तचर है, अपने को महासंकट का कारण है तो उसे तत्काल क्यों नहीं छोड़ देगा? ठीक इसीप्रकार जिस आत्मा ने आस्रवभावों को अपना अविरोधी भाव मान रखा हो, पवित्र भाव मान रखा हो और सुख का कारण मान रखा हो; किन्तु जब यह पता चले कि ये आस्रवभाव तो आत्मा

के स्वभाव के विपरीत भाव हैं, अपवित्र भाव हैं और दु:खों के कारणरूप भाव हैं, तो यह आत्मा उन्हें तत्काल क्यों नहीं छोड़ देगा? अत: ज्ञानमात्र से बंध का निरोध होना एक सहजक्रिया है, स्वाभाविक प्रक्रिया है।

प्रश्न – जब गाथा में अकेले आस्रव की ही बात है तो फिर टीका में आस्रव के साथ-साथ आत्मा की भी बात करना क्या अनुचित नहीं है?

उत्तर – नहीं; क्योंकि गाथा में 'विपरीयभावं' पद पड़ा है, जो यह बताता है कि आस्रव विपरीत स्वभाव वाले हैं। अत: यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि आस्रव किससे विपरीत स्वभाव वाले हैं। इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए टीका में यह स्पष्ट करना आवश्यक ही था कि वे आस्रव आत्मस्वभाव से विपरीत हैं। इस विपरीतता को स्पष्ट करने के लिए ही यहाँ तीनों बोलों में आत्मा और आस्रवभावों को आमने-सामने रख कर बात की है।

प्रश्न – आस्रव तो संवर से विपरीत हैं। अत: 'विपरीयभावं' पद से संवर से विपरीतता अर्थ निकालना अधिक उपयुक्त लगता है?

उत्तर – नहीं, यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ आत्मा और आस्रवों के बीच भेदविज्ञान का प्रकरण चल रहा है। प्रकरण के अनुसार अर्थ निकालना ही शास्त्रसंमत और तर्कसंगत है। अत: टीकाकार का उक्त कथन पूर्णत: निर्दोष है।

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा के साथ भगवान विशेषण लगाया है और वह भी एक बार नहीं, तीन-तीन बार। यहाँ जो भगवान की बात कही है, वह अरिहंत-सिद्ध भगवान की बात नहीं है, अपितु हम सभी के आत्मा की बात है। यहाँ सभी जीवों को भगवान कह कर संबोधित किया है। यह त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की बात है। जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसके जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसके ध्यान करने का नाम सम्यक्चारित्र है; उस निज भगवान आत्मा की बात है; क्योंकि उसी निज भगवान आत्मा को आस्रवों से भिन्न जानना है। उसके जानने से ही बंध का निरोध होता है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ सम्पूर्ण आस्रवभावों को अपवित्र कहा है, जड़ कहा है, दुःख का कारण कहा है। ऐसा नहीं कहा कि पापास्रव अपवित्र हैं, जड़ हैं, दुखों के कारण हैं और पुण्यास्रव पवित्र हैं, चेतन हैं और सुख के कारण हैं। पापास्रवों को तो सारा जगत ही दुःख का कारण बताता है, परन्तु यहाँ तो सम्पूर्ण आस्रवभावों को अर्थात् पुण्यभावों को भी दुःख का कारण बताया गया है।

प्रश्न – पुण्यभावों को दुःख का कारण बताना तो ठीक नहीं है; क्योंकि वे तो सुख के कारण हैं, उन्हें तो आगम में भी सुख का कारण बताया गया है।

उत्तर – अरे भाई! जिस सुख का कारण उन्हें बताया है, वह सुख भी तो वास्तविक सुख नहीं है, दुःख ही है। पंचेन्द्रियों के भोगों को ही तो सांसारिक सुख कहते हैं, पर वह सुख वास्तविक सुख नहीं है। यदि वह वास्तविक सुख है तो फिर उसे त्यागने की बात शास्त्रों में क्यों आती है? जो त्यागने योग्य है, वह सुख कैसे हो सकता है? – यह गंभीरता से सोचने की बात है।

यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि पुण्य-पाप बंध के कारणरूप जो शुभाशुभ भाव हैं, वे भाव ही भावास्रव हैं। वे सभी भाव आस्रवरूप होने से अपवित्र हैं, जड़ हैं और दुःखों के कारण हैं। ध्यान रहे यहाँ आस्रवों को भी जड़ कहा है और जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है, वह भाव भी बंध का कारण होने से, आस्रवभाव होने से अशुचि है, अपवित्र है और दुख का कारण है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है।

जगत को ऐसा लगता है कि ऐसा कैसे हो सकता है? पर कोई क्या करे, वस्तुतः बात ही ऐसी है। इस बात को भावना के वेग में बहकर समझने से काम नहीं चलेगा, अपितु गंभीरता से विचार करना होगा। निष्पक्ष भाव से आगम के आलोक में विचार करें तथा न्याय और युक्ति से विचार करें तो यह बात समझी जा सकती है। ऊपर-ऊपर से विचार करने से कुछ हाथ नहीं आयेगा।

जब सामान्यरूप से यह कहा जाता है कि आस्रवभाव अपवित्र हैं, दुःख के कारण हैं तो सभी लोग स्वीकार कर लेते हैं, पर जब उसी बात को स्पष्ट करते हुए यह कहा जाता है कि आस्रवभाव दो प्रकार के होते हैं – शुभास्रव और अशुभास्रव या पुण्यास्रव और पापास्रव। दोनों ही प्रकार के आस्रव आस्रव होने से अपवित्र ही हैं, दुःख के कारण ही हैं; तो लोग चौंक पड़ते हैं।

यह बात उन्हें नई लगती है, पर यह बात जिनवाणी में तो पहले से ही विद्यमान है। यदि हमारा ध्यान आज तक इस ओर नहीं गया तो इसमें जिनवाणी का क्या दोष है? चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ; चाहे पुण्यरूप हो, चाहे पापरूप – सभी प्रकार के आस्रवभाव अपवित्र ही हैं, जड़ ही हैं और दुःखों के ही कारण हैं। यहाँ तो डंके की चोट यह कहा जा रहा है।

प्रश्न – इस गाथा की आत्मख्याति टीका में क्रियानय और ज्ञाननय के खण्डन की बात आई है। उसका क्या भाव है?

उत्तर – राग की मंदता और तदनुरूप शरीरादि की क्रिया से बंध का निरोध मानना क्रियानय का एकान्त है और अनुभवज्ञान के बिना शास्त्रज्ञान से आत्मा और आस्रवों की भिन्नता जान लेने मात्र से बंध का निरोध मानना ज्ञाननय का एकान्त है। – इन दोनों एकान्तों का यहाँ खण्डन किया गया है।

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"यहाँ एकान्त क्रियानय व एकान्त ज्ञाननय का खण्डन किया गया है। जो राग की मंदता की क्रिया में धर्म मानता है, वह क्रिया जड़ है तथा जो जाननेमात्र को भेदज्ञान मानता है, वह शुष्कज्ञानी है। दूसरे प्रकार से कहें तो 'व्यवहार करते-करते धर्म हो जायेगा' – ऐसे क्रियानय के पक्षपातियों तथा परलक्ष्यी ज्ञानमात्र को सम्यग्ज्ञान कहने वाले एकान्त ज्ञाननय के पक्षपातियों का यहाँ खण्डन किया गया है।

आत्मवस्तु ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है। राग से भिन्न होकर उस आत्मवस्तु में एकत्वरूप परिणमन करनेवाला ज्ञान ही ज्ञान है और इसी में रमणता करना यही सच्ची क्रिया है और यही मोक्षमार्ग है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ७५

'राग की मंदतारूप क्रिया और परलक्ष्यी ज्ञान' – इसप्रकार 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' का कोई अर्थ करे तो यह यथार्थ नहीं है। अतः यहाँ इस बात का खण्डन किया है। राग से भिन्नस्वरूप का ज्ञान और ज्ञानस्वभाव में स्थिरतारूप या रमने रूप क्रिया – यही 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' सूत्र का यथार्थ अर्थ है।[१]''

इस गाथा में प्रतिपादित विषयवस्तु के सन्दर्भ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के भावार्थ का निम्नांकित अंश विशेष ध्यान देने योग्य है –

''यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि अविरतसम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी प्रकृतियों का तो आस्रव नहीं होता, किन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रव होकर बन्ध होता है; इसलिये उसे ज्ञानी कहना या अज्ञानी?

उसका **समाधान** – सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है; क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वक के आस्रवों से निवृत्त हुआ है। उसे प्रकृतियों का जो आस्रव तथा बन्ध होता है – वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव है; इसलिये जबतक उसके चारित्रमोह का उदय है, तबतक उसके उदयानुसार जो आस्रव-बन्ध होता है, उसका स्वामित्व उसको नहीं है। अभिप्राय में तो वह आस्रव-बंध से सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है; इसलिये वह ज्ञानी ही है।

जो यह कहा है कि ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, उसका कारण इसप्रकार है - मिथ्यात्वसम्बन्धी बन्ध जो कि अनन्त संसार का कारण है, वही यहाँ प्रधानतया विवक्षित है। अविरति आदि से जो बन्ध होता है, वह अल्पस्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है; इसलिये वह प्रधान नहीं माना गया। अथवा तो ऐसा है कि ज्ञान बन्ध का कारण ही नहीं है। जबतक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था, तबतक वह अज्ञान कहलाता था और मिथ्यात्व के जाने के बाद अज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञान ही है। उसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार हैं, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है; क्योंकि विकार जो कि बन्धरूप है और बन्ध का कारण है, वह तो बन्ध की पंक्ति में है, ज्ञान की पंक्ति में नहीं। इस अर्थ का समर्थनरूप कथन आगे गाथाओं में आयेगा।''

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ७४

कर्ताकर्माधिकार के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र ने कर्ताकर्म प्रवृत्ति सम्बन्धी अज्ञान का नाश करने वाली धीर-वीर जिस सम्यग्ज्ञानज्योति को याद किया था; अब कर्ताकर्माधिकार की आरम्भिक चार गाथाओं के बाद उसके प्रताप को अगले कलश के रूप में फिर याद कर रहे हैं।

उक्त चार गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि जबतक यह आत्मा आत्मा और आस्रवों के भेद को नहीं जानेगा, तबतक कर्म का बंध होगा और जब यह आत्मा उन दोनों की भिन्नता आत्मानुभूतिपूर्वक भलीभांति जान लेगा; तब बंध का निरोध हो जायेगा। अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ज्ञान ही एक ऐसा साधन है कि जिसके माध्यम से कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति भी होगी और पौद्गलिक कर्म के बंध का भी निरोध होगा। अतः अब आगामी कलश के माध्यम से उस ज्ञान की महिमा बता रहे हैं।

ध्यान रहे यह कलश चार गाथाओं की विषयवस्तु को अपने में समेटे है; अतः यह कलश इन चार गाथाओं रूपी मन्दिर पर चढ़ाया जा रहा है।

(मालिनी)

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः॥
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥४७॥

(हरिगीत)

परपरणति को छोड़ती अर तोड़ती सब भेदभ्रम।
यह अखण्ड प्रचण्ड प्रगटित हुई पावन ज्योति जब॥
अज्ञानमय इस प्रवृत्ति को है कहाँ अवकाश तब।
अर किसतरह हो कर्मबंधन जगी जगमग ज्योति जब॥

परपरिणति को छोड़ता हुआ, भेद के कथनों को तोड़ता हुआ यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है। अहो! ऐसे ज्ञान में कर्ताकर्म प्रवृत्ति को कहाँ अवकाश है तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है?

तात्पर्य यह है कि ज्ञानरूपी सूर्य के अखण्ड और प्रचण्ड उदय होने पर कर्ताकर्म प्रवृत्ति और कर्मबन्ध का अंधकार नष्ट होता ही है।

ज्ञेयों के निमित्त से तथा क्षयोपशम के विशेष से ज्ञान में जो अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते हैं; उनसे रहित ज्ञानमात्र आकार अनुभव में आया; इसकारण ज्ञान को अखण्ड विशेषण दिया गया है। पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित नहीं होता, बलवान है; इसकारण अत्यन्त प्रचण्ड कहा है। मतिज्ञानादि जो अनेक भेद हैं; उन्हें दूर करता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिए भेदकथनों को तोड़ता हुआ कहा है और पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होता था; उसे छोड़ता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिए परपरिणति को छोड़ता हुआ कहा है।

यह आत्मानुभूति की ही बात है, केवलज्ञान की नहीं। जब भगवान आत्मा अपने अनुभव में आता है तो मति-श्रुतज्ञान में उठनेवाली विकल्प तरंगों का शमन हो जाता है, अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय एवं मिथ्यात्वभाव का अभाव हो जाता है; एक त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा ही ज्ञान का ज्ञेय बनता है; अतः ज्ञान एकाकार हो जाता है। पर ज्ञेयों के निमित्त से ज्ञान में विभिन्न आकार झलकते थे, जिनके कारण ज्ञान अनेकाकार हो जाता था, आत्मानुभव के काल में ऐसा नहीं होता; अतः एकाकार ही रहता है। ऐसी स्थिति में पर के कर्तृत्व की बुद्धि कैसे हो सकती है और तत्संबंधी पौद्गलिक कर्म का बंध भी कैसे हो सकता है?

उक्त संबंध में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"अखण्ड एकरूप ज्ञायक के ऊपर दृष्टि जाते ही भेदभाव खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और ज्ञान प्रगट हो जाता है। देखो ! यह केवलज्ञान की बात नहीं है। अकेला ज्ञान ···· ज्ञान ···· ज्ञान चैतन्य सामान्य, एक, सदृश, पर्याय रहित, ध्रुव स्वभाव प्रगट होता है।

मति-श्रुतज्ञान आदि जो खण्ड-खण्डरूप भेद थे, उन्हें दूर करता हुआ, मेटता हुआ अखण्डज्ञान उदित हुआ है। अभेददृष्टि में भेदवाद मिट जाते हैं।

कर्म के क्षयोपशम के कारण ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान में जो खण्ड भेद पड़ते थे, जो खण्डरूप ज्ञान के आकार प्रतिभासित होते थे, अब ज्ञायक पर दृष्टि स्थिर होते ही वह ज्ञान अखण्डरूप से उदित हुआ है। अर्थात् एक ज्ञानमात्र अखण्ड वस्तु ही ज्ञान में ज्ञात होने लगी है, ज्ञान के भेद नहीं।

मैं अखण्ड, एक, ज्ञायकमूर्ति भगवान हूँ – ऐसी दृष्टि होने पर विकार तो दूर रहा, मतिश्रुत अवस्था के ज्ञान के भेद भी बाहर ही रह जाते हैं, मात्र अखण्ड, ज्ञायक भगवान ही ज्ञान में आता है।[१]"

ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा का ज्ञान ही वह ज्ञान है, जो भेदवादों को भेदता हुआ और परपरिणति को छोड़ता हुआ आत्मानुभूति में प्रगट होता है और उसी से कर्ताकर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति होती है और अज्ञानजन्य बंध का निरोध होता है। उसी ज्ञान की महिमा यहाँ बताई जा रही है।

यह प्रचण्ड और अखण्ड ज्ञान यदि वही ज्ञानज्योति है, जिसे ४६वें कलश में कर्ताकर्माधिकार के मंगलाचरण के रूप में स्मरण किया गया है तो फिर उस ज्ञानज्योति का अर्थ निश्चित रूप से सम्यग्ज्ञान ही होना चाहिए, केवलज्ञान नहीं; क्योंकि कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का श्रद्धा में अभाव तथा तत्संबंधी कर्म बंध का अभाव चतुर्थगुणस्थान में ही हो जाता है।

यदि वहाँ ज्ञानज्योति का अर्थ केवलज्ञान लेना ही अभीष्ट हो तो फिर यहाँ भी इस प्रचण्ड और अखण्ड ज्ञान को केवलज्ञान के अर्थ में ही लेना चाहिए। ऐसी स्थिति में वहाँ के समान यहाँ भी सभी विशेषणों का अर्थ केवलज्ञान के अनुरूप करना ही अभीष्ट होगा।

इसप्रकार दोनों ही स्थानों पर दोनों अर्थों को यथासंभव घटित किया जा सकता है। सम्पूर्ण स्थिति पर गहरा दृष्टिपात करने के बाद सम्यग्ज्ञान अर्थ ही अधिक सशक्त प्रतीत होता है; पर मंगलाचरणों में अधिकांशतः केवलज्ञानज्योति को स्मरण किया जाता रहा है; अतः उस ओर भी बलाधान होता है। •

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ७८

समयसार गाथा ७३

कर्ताकर्माधिकार की प्रारंभिक गाथाओं में अबतक यह बताया गया है कि कर्मबंध का मूल कारण कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, तत्संबंधी अज्ञान है, आत्मा और आस्रवों के बीच भेदज्ञान का अभाव है, स्वयं को परद्रव्य और परभावों का कर्ता मानना है; तथा यह भी बताया गया है कि भेदविज्ञान से बंध का निरोध होता है।

यह सब जान लेने के बाद अब जिज्ञासु शिष्य यह जानना चाहते हैं कि बंध के निरोध की विधि क्या है, आस्रवों से निवृत्ति की प्रक्रिया क्या है ?

शिष्यों की इसी जिज्ञासा के शमन के लिए ७३वीं गाथा का जन्म हुआ है। यही कारण है कि उत्थानिका के वाक्य में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं -

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत् – यदि कोई कहे कि यह आत्मा आस्रवों से किस विधि से निवृत्त होता है तो उससे कहते हैं कि -

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥ ७३॥

मैं एक हूँ मैं शुद्ध निर्मम ज्ञान-दर्शन पूर्ण हूँ ।
थित लीन निज में ही रहूँ सब आस्रवों का क्षय करूँ ॥ ७३॥

ज्ञानी विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ और ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ। इसप्रकार के आत्मस्वभाव में स्थित रहता हुआ, उसी में लीन होता हुआ मैं इन सभी क्रोधादि आस्रवभावों का क्षय करता हूँ।

यह गाथा समयसार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गाथाओं में से एक गाथा है, इसमें जिनागम का सार भर दिया गया है, आत्मा के अनुभव की विधि बताई गई है, अनुभव होने की प्रक्रिया समझाई गई है। इस गाथा की प्रथम पंक्ति में दृष्टि के विषयभूत एवं ध्यान के ध्येयरूप आत्मा का स्वरूप समझाया गया है

और दूसरी पंक्ति में उक्त आत्मा में स्थिरता और लीनता की महिमा बताई गई है। गाथा की पहली पंक्ति में द्रव्यस्वभाव की बात है और दूसरी पंक्ति में उसके अनुभव की बात है, आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई निर्मल पर्याय की बात है। पहली पंक्ति में निज भगवान आत्मा की बात है और दूसरी पंक्ति में उसी भगवान आत्मा में स्थिर और लीन होने की बात है। पहली पंक्ति में नवतत्त्वों से भिन्न आत्मतत्त्व (निजजीवतत्त्व) की बात है और दूसरी पंक्ति में आस्रव-बंध एवं पुण्य-पाप के निरोधक संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व की बात है। अद्भुत है यह गाथा।

इस गाथा में समागत प्रत्येक शब्द विशिष्ट अर्थ रखता है। आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा का अर्थ आत्मख्याति में इसप्रकार करते हैं -

"मैं, यह प्रत्यक्ष, अखण्ड, अनन्त, चिन्मात्रज्योति आत्मा; अनादि-अनन्त, नित्य-उदयरूप, विज्ञानघनस्वभावभाववाला होने से एक हूँ; समस्त (छह) कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूति मात्रपने से शुद्ध हूँ; पुद्गल द्रव्य है स्वामी जिनका - ऐसे विश्वरूप (अनेकप्रकार के) क्रोधादिभावों के स्वामीपने से स्वयं सदा ही परिणमित नहीं होने से निर्मम हूँ और चिन्मात्रज्योति का वस्तुस्वभाव से ही सामान्य-विशेषात्मक होने से, सामान्य-विशेष से परिपूर्ण होने से ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ; - ऐसा मैं आकाशादि द्रव्यों के समान ही पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ।

इसलिए अब मैं समस्त परद्रव्यों में प्रवृत्ति से निवृत्ति के द्वारा इसी आत्मा में - अपने ही आत्मा में, आत्मस्वभाव में ही निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्यों के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होती हुई चंचल कल्लोलों के निरोध से इसको (आत्मा को) ही अनुभव करता हुआ, अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न सभी क्रोधादिभावों का क्षय करता हूँ।

इसप्रकार अपने आत्मा (मन) में निश्चय करके; जिसने बहुत समय से पकड़े हुए जहाज को छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भँवर की भाँति; जिसने सर्वविकल्पों का शीघ्र वमन कर दिया है, ऐसे निर्विकल्प, अचलित, अमल

आत्मा का अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।"

गाथा में जो 'अहं' शब्द है, उसका अर्थ टीका में - मैं यह प्रत्यक्ष, अखण्ड, अनन्त, चिन्मात्रज्योति आत्मा किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'मैं' शब्द से वाच्य जो अपना आत्मा है, वह प्रत्यक्षानुभूति का विषय है, अनन्त गुणमय है, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, चिन्मात्र है अर्थात् ज्ञानदर्शनमय है और ज्योतिस्वरूप है।

'अहं' शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं कि - **"निश्चयनयेन स्वसंवेदन ज्ञानप्रत्यक्ष शुद्धचिन्मात्रज्योतिरहं** - निश्चयनय से स्वसंवेदनज्ञान से प्रत्यक्ष होनेवाला मैं शुद्धचिन्मात्रज्योतिस्वरूप हूँ"।

यहाँ 'चिन्मात्रज्योति' कहकर दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को अजीव द्रव्यों से भिन्न बताया गया है तथा 'मैं' और 'यह' कहकर परजीवों से भिन्न बताया गया है; प्रत्यक्ष कहकर यह स्पष्ट किया गया है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी अगम्य नहीं है, केवलज्ञान द्वारा तो प्रत्यक्षगम्य है ही, साथ ही अनुभूति द्वारा भी प्रत्यक्षगम्य है। अनन्त कहकर उसे अनन्तगुणात्मक बताया गया है और अखण्ड कहकर यह स्पष्ट किया गया है कि अनन्त गुणों और असंख्य प्रदेशोंवाला होने पर भी अखण्ड है, गुणभेद व प्रदेशभेद से खण्डित नहीं होता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि पर से भिन्न, प्रत्यक्षानुभूतिगम्य, अखण्डानन्त, चिन्मात्रज्योति स्वरूप भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ, अन्य कोई नहीं। यह निज भगवान आत्मा की ही बात है; किसी अन्य की नहीं।

गाथा में समागत 'एक्को' शब्द का अर्थ आत्मख्याति में ऐसा किया गया है कि मैं (आत्मा) अनादि-अनंत, नित्योदित, विज्ञानघनस्वभावभाववाला होने से एक हूँ; तथा जयसेनीय तात्पर्यवृत्ति में ऐसा किया गया कि अनादि-अनंत टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाववाला होने से एक हूँ।

अनादि-अनंत पद तो दोनों ही टीकाओं में है, जो आत्मा को अनादि-अनंत बताकर समस्त पर्यायों से पार घोषित करता है; क्योंकि पर्यायें क्षणवर्ती होने से अनादि-अनन्त नहीं हो सकतीं। अनादि-अनंत कहकर पर्यायों से पार तो बताया, पर काल की अखण्डता को कायम रख लिया। द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव की अखण्डता के बारे में ७वीं गाथा के अनुशीलन में मंथन किया ही जा चुका है। स्मृति की ताजगी के लिए एक बार फिर उसे देख लें तो अच्छा रहेगा।

नित्योदित विज्ञानघनस्वभाव और टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव लगभग समानार्थवाची ही हैं; क्योंकि ज्ञान का घन (ठोस) पिण्ड एक ज्ञायकभाव ही तो है, अन्य कोई नहीं; और वह ज्ञान का घनपिण्ड ज्ञायकभाव टांकी से उकेरे गये अक्षरों की भाँति स्थाई और सदा ही उदित है, प्रकाशमान है।

जिसप्रकार फुट में सिर्फ लम्बाई होती है, वर्गफुट में लम्बाई के साथ चौड़ाई भी होती है; किन्तु घनफुट में लम्बाई और चौड़ाई के साथ-साथ मोटाई भी होती है तथा जिसप्रकार गर्म लोहे को पीटनेवाला लुहार का घन ठोस होता है, पोला नहीं; क्योंकि जो पोला होता है, उससे दूसरे को पीटा नहीं जा सकता। यदि उससे दूसरे को पीटा जायेगा तो वह स्वयं पिट जायेगा।

उसीप्रकार भगवान आत्मा भी लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई सभी ओर से ठोस होता है, अखण्ड होता है; अत: उसे विज्ञानघन कहा गया है। अनादि-अनन्तता आत्मा की लम्बाई है, असंख्य प्रदेशीपना चौड़ाई है और अनन्तगुणों का होना मोटाई है। यह भगवान आत्मा अनादि-अनन्त होने से काल से अखण्ड है, असंख्यप्रदेशी एक होने से क्षेत्र से अखण्ड है और अनन्तगुणात्मक एक होने से भाव से अखण्ड है; इसीकारण घनपिण्ड है।

इसप्रकार यह पर से भिन्न, प्रत्यक्षानुभूति गम्य, अखण्डानन्त, चिन्मात्रज्योति आत्मा अनादि-अनन्त नित्योदित विज्ञानघनस्वभाववाला और टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाववाला होने से एक है। 'मैं एक हूँ' का यह भाव है।

३८वीं गाथा में भी 'एक' शब्द आया है। आचार्य जयसेन ने तो वहाँ भी टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाववाला होने से एक है - यही अर्थ किया है, परन्तु आचार्य अमृतचन्द्र ने वहाँ चिन्मात्र आकार के कारण समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप से प्रवर्तमान व्यवहारिक भावों से भेदरूप नहीं होने से एक हूँ - ऐसा अर्थ किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा गुणस्थानातीत है, मार्गणास्थानातीत है। इस संबंध में विस्तृत विचार ३८वीं गाथा के अनुशीलन में किया जा चुका है।

'मैं शुद्ध हूँ' के अर्थ में 'मैं' का अर्थ तो ऊपर स्पष्ट किया ही जा चुका है, वही यहाँ भी लेना। 'शुद्ध' शब्द का अर्थ आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति में लगभग एक-सा ही किया गया है। आत्मख्याति में सकलकारकचक्र की प्रक्रिया से पार निर्मल अनुभूतिमात्र होने से शुद्ध कहा है, परन्तु तात्पर्यवृत्ति में षट्कारकों के नाम भी दे दिये गये हैं तथा कहा गया है कि उक्त षट्कारकों के विकल्पचक्र से रहित होने से शुद्ध है। कारकचक्र की प्रक्रिया से पार और षट्कारक संबंधी विकल्पचक्र से रहित का एक ही अर्थ है।

३८वीं गाथा में 'शुद्ध' शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में शुद्धता का कारण व्यवहारिक नवतत्त्वों से भिन्नता को बताते हैं और आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में व्यवहारिक नवतत्त्वों से भिन्नता को स्वीकार करते हुए भी अथवा के रूप में रागादिभावों से भिन्नता की बात भी करते हैं।

३८वीं व ७३वीं गाथा में समागत एक व शुद्ध शब्द के अर्थों में यह विभिन्नता क्यों है ? - इस संदर्भ में ३८वीं गाथा के अनुशीलन में विस्तार से विचार किया जा चुका है। अतः अब यहाँ कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार 'मैं शुद्ध हूँ' का अर्थ यह हुआ कि पर से भिन्न, प्रत्यक्षानुभूतिगम्य, अखण्डानन्त, चिन्मात्रज्योति आत्मा कर्ता-कर्मादि षट्कारकों के विकल्पचक्र से पार निर्मल अनुभूति मात्र होने से शुद्ध है।

यहाँ जो 'निर्मल अनुभूतिमात्र' कहा, वह पर्याय की बात नहीं है, त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा की ही बात है; अनुभूति में जो दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा आता है, उसकी बात है। यहाँ उसे ही शुद्ध कहा जा रहा है। वह आत्मा कारकचक्र की प्रक्रिया से पार है, षट्कारकों के विकल्पों से रहित है। मेरा अपनापन तो मात्र उसी में है। मैं तो वही हूँ। वह एक व शुद्धतत्त्व मैं ही हूँ। यहाँ इसी बात को वजन देकर समझाया जा रहा है।

'मैं कारकचक्र की प्रक्रिया से पार हूँ, कारकों के विकल्पचक्र से रहित हूँ' का आशय यह है कि मैं किसी का कर्त्ता नहीं हूँ, किसी का कुछ करने का भार मेरे माथे पर नहीं है। मैं किसी का कर्म (कार्य) भी नहीं हूँ, किसी ने मुझे बनाया हो - ऐसी बात नहीं है। मैं किसी का करण भी नहीं हूँ, साधन भी नहीं हूँ, कोई मेरा उपभोग करना चाहे, उपयोग करना चाहे तो यह संभव नहीं है; क्योंकि मैं किसी की बंदूक का कंधा नहीं हूँ, मैं किसी की स्वार्थपूर्ति का साधन बनूँ - ऐसा मेरा स्वभाव नहीं है; इसलिए मैं करण भी नहीं हूँ।

मैं सम्प्रदान भी नहीं हूँ; मैं किसी के लिए नहीं हूँ, किसी अन्य के लिए मेरी उपयोगिता हो - ऐसा मैं नहीं हूँ। मैं किसी का अपादान नहीं हूँ, मैं किसी का उपादान नहीं हूँ; मुझसे कोई उत्पन्न नहीं हुआ है, सबकी सत्ता स्वयं से स्वयं ही है। तथा मैं किसी का आधार भी नहीं हूँ।

इसीप्रकार कोई मेरा कर्त्ता नहीं है, मैं तो अनादिनिधन स्वयंसिद्ध वस्तु हूँ। कोई मेरा कर्म भी नहीं है, मैंने किसी को बनाया हो - ऐसी बात भी नहीं है। कोई मेरा करण भी नहीं है, मैं किसी को साधन के रूप में उपयोग करूँ - ऐसा मेरा स्वभाव नहीं है। अन्य कोई भी पदार्थ मेरे सम्प्रदान नहीं हैं; वे मेरे लिए नहीं है, अन्य की सत्ता मेरे लिए हो - ऐसी बात ही नहीं है। मेरा कोई अपादान नहीं है, उपादान नहीं है; मैं किसी से उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, मैं तो अनादिनिधन स्वयंसिद्ध वस्तु हूँ तथा मेरा कोई आधार नहीं है, मुझे किसी के आधार की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि सभी पदार्थ स्वयं के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं।

वस्तुतः बात यह है कि ये षट्कारक किसी न किसी क्रिया के होते हैं, क्रिया की अपेक्षा रखते हैं, पर मैं तो निष्क्रिय तत्त्व हूँ; क्रिया पर्याय में होती है, क्रिया स्वयं पर्याय ही है; अतः कारक भी पर्याय में ही होते हैं; पर मैं तो द्रव्यतत्त्व हूँ, पर्यायतत्त्व नहीं। जीव और अजीव द्रव्यतत्त्व हैं और आस्रवादि पर्यायतत्त्व हैं। पर्यायों से पार होने के कारण मैं (जीवतत्त्व) कारकचक्र की प्रक्रिया से भी पार हूँ, कारकचक्रों के विकल्पों से भी पार हूँ।

जब कुछ नया होता है तो उसमें, कारकों का चक्र घटित होता है, पर मैं तो अनादिनिधन ध्रुवतत्त्व हूँ; मुझमें कुछ नया हुआ ही नहीं, होता ही नहीं; तो फिर कारकचक्र भी कैसे घटित होगा ?

यहाँ कारकचक्र का घटित होना ही अशुद्धि है और कारकचक्र का घटित नहीं होना ही शुद्धि है। इसलिए यह ठीक ही कहा है कि मैं कारकचक्र की प्रक्रिया के पार होने के कारण शुद्ध हूँ।

ध्यान रहे मैं प्रगट होने वाली अनुभूति नहीं, मैं तो अनुभूतिस्वरूप ही हूँ।

इसप्रकार मैं अनादि-अनन्त नित्योदित विज्ञानघनस्वभावभाववाला होने के कारण एक हूँ और कारकचक्र की प्रक्रिया से पार निर्मल अनुभूतिमात्र होने से शुद्ध हूँ। - यह एक और शुद्ध की बात हुई, अब 'मैं निर्मम हूँ' की बात करते हैं।

आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति - दोनों ही टीकाओं में निर्मम शब्द का लगभग एक जैसा ही अर्थ किया गया है, जिसका आशय यह है कि यह भगवान आत्मा क्रोधादिभावों के स्वामीपने से सदा ही परिणमित नहीं होता; इसकारण निर्मम है।

निर्मम शब्द का अर्थ होता है - ममत्व से रहित। ममत्व को स्वामित्व भी कहते हैं; क्योंकि जो मेरा होगा, वह मेरी सम्पत्ति होगी और मैं उसका स्वामी। इसप्रकार स्व-स्वामी संबंध को ही ममत्व कहा जाता है। अनेकप्रकार के क्रोधादिभावों में भगवान आत्मा का ममत्व नहीं है, स्वामित्व नहीं है; इसकारण

वह निर्मम है। इसी बात को यहाँ इस भाषा में व्यक्त किया गया है कि आत्मा अनेकप्रकार के क्रोधादिभावों के स्वामीपने से सदा ही परिणमित नहीं होता; इसकारण निर्मम है।

क्रोधादिभावों में सभीप्रकार के विकारी भाव पुण्य-पाप के परिणाम आ जाते हैं; सभीप्रकार के आस्रवभाव और बंधभाव आ जाते हैं; आस्रव, बंध, पुण्य और पाप - ये चारों तत्त्व आ जाते हैं। ये सभी भाव आत्मा की ही विकारी पर्यायें होने पर भी, दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा की सीमा में नहीं आते। ये क्रोधादिभाव आत्मा तो हैं ही नहीं, भगवान आत्मा इनका स्वामी भी नहीं है, वह इनके स्वामीपने से परिणमित भी नहीं होता है।

यदि भगवान आत्मा स्वयं को इनका स्वामी मानेगा और इनके स्वामित्वभाव से परिणमित होगा तो फिर इनमें निःशंक प्रवृत्ति भी अवश्य करेगा; इनका कर्त्ता-भोक्ता भी होगा ही। ऐसी स्थिति में इनसे भिन्न कैसे रह सकेगा ? इनके स्वामीपने से परिणमित होने का आशय ही यह है कि वह इनमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व - सभी स्थापित करेगा।

अतः ज्ञानी धर्मात्मा तो ऐसा जानते हैं कि मैं तो निश्चय से इन पुण्य-पाप के भावों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ और ज्ञानानन्दस्वभावरूप से परिणमित होना ही मेरा कर्म (कार्य) है। मैं तो एक ज्ञानानन्दस्वभाव का ही स्वामी हूँ, कर्त्ता-भोक्ता हूँ; विकारी भावों का स्वामी नहीं, कर्त्ता-भोक्ता भी नहीं।

परपदार्थों का स्वामी या कर्त्ता-भोक्ता तो मैं हूँ ही नहीं; परन्तु अपनी ही आत्मा में उत्पन्न होनेवाले विकारी भावों - पुण्य-पाप के परिणामों का स्वामी और कर्त्ता-भोक्ता भी मैं नहीं हूँ। - इसप्रकार के भावों से परिणमित होना ही आत्मा का कर्म (कार्य) है और इसी कारण वह निर्मम है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"इन विकारी भावों का स्वामी मैं नहीं हूँ - यह बात तो ठीक, परन्तु यहाँ मैं उनके स्वामीपने कभी भी परिणमित नहीं होता - ऐसा कहते हैं।

पुण्य-पाप के जो अनेकप्रकार के विकारी भाव हैं, उनके स्वामीपने से मैं कभी भी परिणमित नहीं होता, इसलिए निर्मम हूँ। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के बाद भी राग तो यथासंभव आता है, मुनिराज की भूमिका में भी व्यवहार रत्नत्रय का राग तो आता है; परंतु उस राग के स्वामीपने कभी भी परिणमित नहीं होने से मैं (आत्मा) निर्मम हूँ - ऐसा धर्मी मानता है।[१]

धर्मीजीव ऐसा कहते हैं कि जो राग होता है, मैं उसके स्वामीपने कभी नहीं परिणमता। जो स्वरूप में नहीं है व स्वरूप के आश्रय से उत्पन्न हुई निर्मल परिणति में भी नहीं है; उस राग का स्वामीपना मुझे नहीं हैं। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल निर्मल हैं ही; तथा उसके आश्रय से जो निर्मल दशा प्रगट हुई, वह मेरा स्व एवं मैं उसका स्वामी हूँ - ऐसा धर्मीजीव मानता है।[२]"

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह स्पष्ट है कि यहाँ निर्मम शब्द के अर्थ में विकारी भावों के स्वामित्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निषेध है, निर्मल पर्यायों के स्वामित्वादि का नहीं।

प्रश्न – तो क्या दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा निर्मल पर्यायों का स्वामी, कर्त्ता और भोक्ता है ? क्या निर्मल पर्यायें किसी भी रूप में दृष्टि के विषय में सम्मिलित हैं ? यदि नहीं तो फिर यहाँ उसे निर्मल पर्यायों का स्वामी और कर्त्ता-भोक्ता क्यों बताया जा रहा है ?

उत्तर – यहाँ तो मात्र इतना ही कहा गया है कि यह भगवान आत्मा क्रोधादिभावों के स्वामीपने से परिणमित नहीं होता; इसकारण निर्मम है। यहाँ निर्मल पर्यायों के बारे में भी कुछ नहीं कहा गया है, उनके बारे में मौन रखा गया है, उन्हें गौण किया गया है; क्योंकि कर्त्ता-कर्म अधिकार के इस प्रकरण में उनके स्वामित्व-कर्तृत्वादि का निषेध इष्ट नहीं है और दृष्टि के विषय में भी वे सम्मिलित नहीं हैं। अत: इस प्रकरण में उनके बारे में मौन ही इष्ट है। जब उनकी चर्चा होगी, तब सब स्पष्ट करेंगे।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ९०-९१
२. वही, पृष्ठ ९२

प्रश्न – यदि यह बात है तो फिर यहाँ इस अनुशीलन में स्वामीजी को उद्धृत करते हुए यह क्यों कहा जा रहा है कि निर्मल पर्यायें मेरी 'स्व' हैं और मैं उनका 'स्वामी' हूँ ?

उत्तर – कर्त्ताकर्म के इस प्रकरण में कोई व्यक्ति निर्मल पर्यायों के स्वामित्व और कर्त्तृत्व का भी निषेध न समझ ले - इस आशंका को निर्मूल करने के लिए यह कहा है। तात्पर्य यह है कि दृष्टि के विषय में तो निर्मल पर्यायें शामिल नहीं हैं, परन्तु निर्मल पर्यायों के कर्त्ता-भोक्ता और स्वामी ज्ञानी धर्मात्मा होते ही हैं।

प्रश्न – प्रवचनसार में कर्त्तानय से आत्मा को रागादिभावों का कर्त्ता कहा है और आप यहाँ निषेध कर रहे हैं ?

उत्तर – हाँ, कहा है, अवश्य कहा है; पर वहाँ अपेक्षा जुदी है और यहाँ जुदी। अपेक्षा समझे बिना इसप्रकार के प्रश्न उठना स्वाभाविक ही हैं।

उक्त शंका का समाधान स्वामीजी इसप्रकार करते हैं -

"प्रवचनसार में ४७ नयों के प्रकरण में आया है कि कर्त्तानय से जिसप्रकार रंगरेज रंग का कर्त्ता है, उसीप्रकार ज्ञानी को वर्तमान में जितना राग का परिणमन है, उसका वह कर्त्ता है; परन्तु उक्त कथन तो ज्ञानी के जो रागरूप परिणमन है, उसकी अपेक्षा से है और यहाँ यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी उक्त राग का स्वामीपने कर्त्ता बनता नहीं है। 'यह राग मेरा कर्त्तव्य है, करने योग्य है' - इसप्रकार की मान्यतापूर्वक ज्ञानी के उसका स्वामित्व नहीं है।[१]

अनन्त-अनन्त निर्मल गुणों का जो खजाना है, उस भगवान आत्मा के सम्मुख उपयोग के ढलते ही राग का स्वामीपना सहज ही छूट जाता है - यही वास्तविक धर्म है। गणधरदेव के भी जो रागरूप परिणमन है, वे भी इसे जानते तो हैं, परन्तु उसके स्वामीपने परिणमित नहीं होते; क्योंकि जबतक पूर्ण वीतरागता न हो, तबतक धर्मात्माओं को भी व्यवहार के विकल्प आते तो

---

१. प्रवचनरत्नाकर (गुजराती) भाग-४, पृष्ठ ६३

अवश्य हैं; परन्तु वे धर्मात्मा - 'वे विकल्प मेरे कर्त्तव्य हैं, करने योग्य हैं' - ऐसा मानकर उनके स्वामीपने परिणमित नहीं होते।[१]''

अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब यह भगवान आत्मा उन अनेकप्रकार के क्रोधादि भावों का, विकारी भावों का स्वामी नहीं है तो फिर उनका स्वामी कौन है ?

इस प्रश्न के उत्तर में आत्मख्याति में कहा गया है कि उनका स्वामी पुद्गल द्रव्य है।

उक्त कथन का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

''यहाँ कहा है कि -'क्रोधादि विकार का स्वामी पुद्गल है' - इसकारण कोई ऐसा मानने लगे कि विकार पुद्गल से होता है, तो यह भी यथार्थ नहीं है। पुदगल के कारण विकार नहीं होता; क्योंकि पुद्गल तो परद्रव्य है। हाँ, इतना अवश्य है कि जब भी विकार होगा तो वह पुद्गल के लक्ष्य से या यों कहें कि निमित्त के लक्ष्य से ही होगा; क्योंकि स्वभाव में तो विकार है ही नहीं। विकार निमित्त के या पुद्गल के लक्ष्य से हुआ है - इस अपेक्षा विकार का स्वामी पुद्गल है। इसप्रकार जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे बराबर समझना चाहिये।[२]''

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि पुण्य-पाप के परिणाम पुद्गल कर्म के उदय से होते हैं या पुद्गल के लक्ष्य से होते हैं; इसकारण पुद्गल द्रव्य उनका स्वामी है। उन अनेकप्रकार के पुण्य-पाप भावों के स्वामीपने, कर्त्तापने, भोक्तापने परिणमने का स्वभाव आत्मा का नहीं है - इसकारण आत्मा निर्मम है।

निराकार-सामान्यग्राही दर्शन और साकार-विशेषग्राही ज्ञान से परिपूर्ण होने से आत्मा ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (गुजराती) भाग-४, पृष्ठ ६४
२. प्रवचनरत्नाकर भाग-३, पृष्ठ ९२

इसप्रकार पर से भिन्न, प्रत्यक्षानुभूतिगम्य, अखण्डानन्त, चिन्मात्रज्योतिस्वरूप मैं अनादि-अनन्त नित्योदित विज्ञानघनस्वभावभाव के कारण एक हूँ, सकलकारकचक्र की प्रक्रिया से पार निर्मल अनुभूतिमात्रपने से शुद्ध हूँ, पुण्य-पाप के विकारी भावों के स्वामीपने से परिणमित नहीं होने से निर्मम हूँ और सामान्य-विशेषात्मक स्वभाववाला होने से ज्ञानदर्शनस्वभावी हूँ तथा आकाशादि पदार्थों की भाँति एक वस्तु विशेष हूँ।

'मैं आकाशादि की भाँति पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ ? – ऐसा कहकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि आत्मा कोई काल्पनिक पदार्थ नहीं है, अपितु लोक में उसकी सत्ता आकाशादि पदार्थों के समान ही वास्तविक है। इस लोक में ऐसे भी बहुत लोग हैं, जो आत्मा की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। उनको दृष्टि में रखकर आचार्यदेव कह रहे हैं कि हे भाई ! जिस आत्मा के अनुभव की बात हम कर रहे हैं, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसके ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है; वह असंख्यप्रदेशी, अनन्तगुणात्मक, अनादि-अनन्त आत्मा एक वास्तविक वस्तु है और वह तू स्वयं ही है।

इसप्रकार गाथा की पहली पंक्ति में आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप स्पष्ट कर अब दूसरी पंक्ति में आचार्यदेव कहते हैं कि उक्त आत्मा में स्थित होना और लीन होना ही अज्ञानजन्य समस्त आस्रवों के क्षय का एकमात्र उपाय है।

आत्मस्वभाव में स्थित होने का अर्थ है आत्मस्वभाव को प्रत्यक्षज्ञान का ज्ञेय बनाना, प्रत्यक्ष जानना और लीन होने का अर्थ है उसी को जानते रहना, उसी में तन्मय हो जाना, तन्मय होकर जानते रहना। स्थित होना और लीन होना – दोनों ही आत्मानुभूतिरूप हैं, शुद्धोपयोगरूप हैं; क्योंकि प्रथम समय में जिसे स्थित होना कहते हैं, द्वितीयादि समयों में उसी दशा को लीन होना कहते हैं। अनन्तगुणों का आत्मसन्मुख होकर, उसी में तदाकार हो जाना ही स्थित होना, लीन होना है और वही आस्रवभावों के क्षय का हेतु है। तात्पर्य यह है कि आत्मानुभूति और शुद्धोपयोग ही कर्मक्षय के मुख्य हेतु हैं।

चूंकि पहले उपयोग पर पदार्थों से हटकर आत्मा की ओर आता है; अत: स्थित होने का कारण परद्रव्यों में प्रवृत्ति से निवृत्ति को बताया और लीनता में बाधक होती है उपयोग की चंचलता; अत: परद्रव्यों के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होती हुई कल्लोलों के निरोध को लीनता का हेतु बताया है।

अन्त में सागर की भँवर में फंसे हुए जहाज का उदाहरण देकर आस्रवों से निवृत्ति की विधि स्पष्ट कर दी है।

कोई पानी का जहाज समुद्र की भँवर में फंस गया हो तो जबतक समुद्र की भँवर स्वयं शान्त होकर उस जहाज को न छोड़े, तबतक उस जहाज का छूटना संभव नहीं है; क्योंकि जहाज तो छूटने के लिए प्रयत्नशील है ही, पर भँवर की उलझन इतनी प्रबल है कि छूटना संभव नहीं रह गया है। ऐसी स्थिति में जब समुद्र की भँवर स्वयं शान्त होकर जहाज को छोड़े तो जहाज तत्काल छूट जाता है।

उसीप्रकार इस आत्मारूपी सागर में उठ रही विकल्प तंरगों के भँवर में क्रोधादि आस्रवभावों का जहाज फंस गया है। जब यह आत्मारूपी सागर सर्वविकल्पों का वमन कर, सर्वविकल्परूपी भँवरों का उपशमन कर, अपने निर्विकल्प, अचलित, अमल आत्मा का अवलम्बन करता हुआ विज्ञानघन होता है, आत्मस्थित होता है, आत्मलीन होता है, शान्त होता है; तब आस्रवरूपी जहाज निवृत्त होकर चला जाता है। - आस्रवों की निवृत्ति की यही विधि है।

वस्तुत: बात यह है कि आस्रवों ने आत्मा को नहीं जकड़ रखा है, अपितु आत्मा ने ही अपने में उत्पन्न होने वाले विकल्पों के माध्यम से आस्रवों को पकड़ रखा है। अत: आस्रवों से निवृत्ति का उपाय भी उसे ही करना है।

ऐसा कहकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि आस्रवों में प्रवृत्ति भी तेरी भूल के कारण हो रही है और उनसे निवृत्त होना भी तेरे ही हाथ में है। उनसे निवृत्त होने का उपाय भी उनकी ओर देखना नहीं, उनमें कुछ करना

नहीं है; अपितु उनसे अपने उपयोग को निवृत्त कर स्वयं में स्थित होना है, स्वयं में लीन होना है, स्वयं में ही समा जाना है, विज्ञानघन होते जाना है।

प्रश्न – विज्ञानघन होते जाने का क्या आशय है ?

उत्तर – विज्ञानघन होने का अर्थ भी आत्मस्थित होना ही है, आत्मलीन होना ही है।

आस्रवों से निवृत्त होने की विधि कितनी सरल और सहज है, पर हमने अपने अज्ञान के कारण, अनभ्यास के कारण, उसे कठिन मान रखा है। एक बार हम स्वयं के पौरुष को संभाल के तो देखें, कर्म और आस्रव सब भागते नजर आवेंगे। यही कारण है कि उन्हें आगामी गाथा में अशरण कहने वाले हैं।

इसप्रकार इस गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि जब यह आत्मा अपने एक, शुद्ध, निर्मम और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण आत्मस्वभाव में स्थित होता है, लीन होता है, तो आस्रवभावों से सहज ही निवृत्त हो जाता है। आस्रवों से निवृत्ति की यही विधि है। ●

आत्मानुभूति क्या है ?

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसीसमय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है, सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एकनाम आत्मानुभूति है। – आत्मा ही है शरण, पृष्ठ २२१

समयसार गाथा ७४

आस्रवों से निवृत्ति की विधि स्पष्ट हो जाने के बाद अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मज्ञान होने और आस्रवों की निवृत्ति का एक काल कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर समाहित है ७४वीं गाथा में, जो इसप्रकार है -

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं ॥ ७४॥

ये सभी जीवनिबद्ध अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं ।
दुःखरूप दुःखफल जानकर इनसे निवर्तन बुध करें ॥७४॥

ये आस्रवभाव जीव के साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं और दुःख के रूप में फलते हैं, दुःख के कारण हैं; - ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्त होता है।

७२वीं गाथा में आस्रवों को अशुचि, जड़ और दुःखों का कारण कहा था और अब इस ७४वीं गाथा में जीव से निबद्ध इन आस्रवों को अध्रुव, अनित्य, अशरण, दुःखरूप और दुःखों के रूप में फलने वाला कहा जा रहा है।

जब यह आत्मा आस्रवों की अध्रुवता, अनित्यता, अशरणता एवं वर्तमान में और आगामी काल में दुःखरूपता जान लेगा तो फिर वह उन्हें तत्काल ही क्यों नहीं छोड़ देगा ? अवश्य ही तत्काल छोड़ देगा। - इसप्रकार ज्ञान के होने और आस्रवों के निवृत्त होने का समकाल सहज ही सिद्ध हो जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में अनेक उदाहरण देकर इस गाथा के मर्म को इसप्रकार उद्घाटित करते हैं -

"वृक्ष और लाख की भाँति बध्य-घातक स्वभाववाले होने से आस्रव जीव के साथ बंधे हुए हैं, तथापि अविरुद्धस्वभाव का अभाव होने से वे जीव नहीं हैं।

आस्रव मृगी के वेग की भाँति बढ़ते-घटते होने से अध्रुव हैं, चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है।

आस्रव शीत-दाहज्वर के आवेश की भाँति अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, इसकारण अनित्य हैं और विज्ञानघनस्वभावी जीव नित्य है।

जिसप्रकार वीर्यस्खलन के साथ ही दारुण कामसंस्कार नष्ट हो जाता है, किसी से रोका नहीं जा सकता; उसीप्रकार कर्मोदय के स्खलन के साथ ही आस्रवभाव नष्ट हो जाते हैं, उन्हें रोका नहीं जा सकता; इसलिए आस्रव अशरण हैं और स्वयंरक्षित सहजचित्शक्तिरूप जीव ही एकमात्र शरणसहित है।

आस्रव सदा ही आकुलस्वभाववाले होने से दुःखरूप हैं और अनाकुलस्वभाववाला जीव ही एकमात्र अदुःखरूप है, सुखस्वरूप है।

आगामी काल में आकुलता उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणामों के हेतु होने से आस्रव दुःख-फलरूप हैं, दुःखफलों के रूप में फलते हैं और समस्त पुद्गलपरिणामों का अहेतु होने से जीव दुःखफलरूप नहीं है।

जिसमें बादलों की रचना खण्डित हो गई है, ऐसे दिशा विस्तार की भाँति अमर्याद है विस्तार जिसका और कर्मविपाक शिथिल हो गया है जिसका - ऐसा यह आत्मा, आस्रव और जीव के बीच उक्तप्रकार का भेदज्ञान होते ही सहजरूप से विकास को प्राप्त चित्शक्ति से ज्यों-ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, और ज्यों-ज्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानघन होता जाता है।

यह आत्मा उतना ही विज्ञानघनस्वभाव होता है कि जितना आस्रवों से निवृत्त होता है और उतना ही आस्रवों से निवृत्त होता है कि जितना विज्ञानघनस्वभाव होता है।

इसप्रकार ज्ञान का होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल है।''

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के स्पष्टीकरण में आत्मख्याति का ही अनुशरण करते हैं।

गाथा में तो मात्र आस्रवों के बारे में ही कहा गया है कि वे जीव निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, वर्तमान में दु:खरूप हैं और आगामी काल में दु:ख के हेतुभूत कर्मों के बंध के कारण हैं; परन्तु टीका में आचार्य अमृतचन्द्र आस्रवों का आत्मा से विरुद्धस्वभावत्व सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि आस्रव अध्रुव हैं और आत्मा ध्रुव है, आस्रव अनित्य हैं और आत्मा नित्य है, आस्रव अशरण हैं और आत्मा शरणभूत है, आस्रव दु:खरूप हैं और आत्मा सुखस्वरूप है तथा आस्रव दु:खों के कारणभूत कर्मों के बँधन के कारण हैं और आत्मा किसी भी कर्मबंध का कारण नहीं है। – इसप्रकार आत्मा और आस्रवों का स्वभाव परस्पर विरुद्ध है। इसप्रकार जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों का विरुद्धस्वभावत्व जान लेता है तो वह आस्रवों से निवृत्त हो जाता है।

यह परस्पर विरुद्धस्वभावत्व टीका में अनेक उदाहरणों और युक्तियों के माध्यम से सिद्ध किया गया है।

सर्वप्रथम वे कहते हैं जिसप्रकार पीपल और लाख में परस्पर वध्य-घातक संबंध है; उसीप्रकार आत्मा और आस्रवों में भी परस्पर वध्य-घातक संबंध है। आत्मा वध्य है और आस्रव घातक हैं।

जिस पीपल में लाख पैदा हो जाती है, वह पीपल नष्ट हो जाता है। यद्यपि लाख पीपल में ही पैदा होती है, पीपल का ही अंग है, अंश है; तथापि वह पीपल की घातक होने से पीपल नहीं है। उसीप्रकार आस्रवभाव भी आत्मा में ही पैदा होते हैं, आत्मा की ही विकारी पर्यायें हैं; तथापि आत्मस्वभाव के घातक होने से आत्मा नहीं हैं।

प्रश्न – आत्मा तो नित्य है, वह वध्य कैसे हो सकता है, उसका घात कैसे हो सकता है?

उत्तर – स्वभावपर्याय प्रगट नहीं हो पाना ही घात है। जबतक आस्रव भाव का अभाव नहीं होगा, तबतक संवर नहीं होगा - यही आत्मा का घात है।

आत्मख्याति में मृगी के वेग और शीत-दाहज्वर का उदाहरण देकर आस्रवों की अध्रुवता और अनित्यता सिद्ध की है। यद्यपि अध्रुव और अनित्य

शब्दों को एकार्थवाची समझा जाता है; क्योंकि बारह भावनाओं में पहली भावना को अनित्य भावना भी कहा जाता है और अध्रुव भावना भी कहा जाता है। द्वादशानुप्रेक्षा में आचार्य कुंदकुंद स्वयं पहली भावना को अध्रुव भावना नाम से संबोधित करते हैं। अनित्य भावना नाम तो अनेक स्थानों पर प्राप्त होता ही है। ऐसा होने पर भी अध्रुवता और अनित्यता में सूक्ष्म अंतर है, जिसे आत्मख्याति में मृगी का वेग और शीत-दाहज्वर के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

मृगी एक वायुविकार संबंधी बीमारी का नाम है, जिसका दौरा पड़ता है। वह दौरा कभी अधिक उग्र और कभी अपेक्षाकृत कम उग्र होता है। वह घटता-बढ़ता रहता है। उसका यह घटना-बढ़ना ही अध्रुवता है।

शीत-दाहज्वर भी एक ऐसे ज्वर का नाम है, जिसमें कभी तो सर्दी लगती है और कभी गर्मी। सर्दी मिटकर गर्मी लगना और गर्मी मिटकर सर्दी लगना ही सर्दी-गर्मी की अनित्यता है।

एक ही दिशा में रहकर घटना-बढ़ना अध्रुवता है और मिटकर विपरीत दिशा में जाना अनित्यता है। कभी कम सर्दी लगना, कभी अधिक सर्दी लगना अध्रुवता है और अनुक्रम से सर्दी मिटकर गर्मी लगना और गर्मी मिटकर सर्दी लगना अनित्यता है।

आस्रवभावों में इस बात को इसप्रकार घटित किया जा सकता है - शुभभाव से अशुभभाव हो जाना और अशुभभाव से शुभभाव हो जाना - अनुक्रम से क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ - यह आस्रवों की अनित्यता है और तीव्र-अशुभ से मंद-अशुभ हो जाना और मंद-अशुभ से तीव्र-अशुभ हो जाना अथवा मंद-शुभ से तीव्र-शुभ हो जाना और तीव्र-शुभ से मंद-शुभ हो जाना अध्रुवता है।

क्षण में पुण्यास्रव, क्षण में पापास्रव हो जाना आस्रव भावों की अनित्यता है और पुण्यास्रवों में मंदता-तीव्रता होते रहना एवं पापास्रवों में मंदता-तीव्रता होते रहना अध्रुवता है।

आस्रवभावों में दोनों ही प्रकार की स्थितियाँ बनती हैं; अत: आस्रवभाव अध्रुव भी है और अनित्य भी है और भगवान आत्मा चैतन्यमात्र होने से ध्रुव है और विज्ञानघनस्वभावी होने से नित्य है। चैतन्यस्वभाव घटता-बढ़ता नहीं; अत: आत्मा ध्रुव है और विज्ञानघनस्वभाव बदलता नहीं है; अत: आत्मा नित्य है।

इसप्रकार आस्रवभाव और भगवान आत्मा परस्पर विरुद्धस्वभाव वाले हैं, अत: भिन्न ही हैं, एक नहीं।

कामसेवन के समय वीर्यस्खलन के साथ ही दारुण कामसंस्कार के नाश का उदाहरण देकर आस्रवों की अशरणता को समझाया गया है। जिसप्रकार कामसेवन के समय वीर्यस्खलन होते ही कामवासना नष्ट हो जाती है, उसे नष्ट होने से रोकने का कोई उपाय नहीं है, कोई शरण नहीं है; इसकारण वह अशरण है।

ठीक उसीप्रकार जिस कर्मोदय के निमित्त से जो आस्रवभाव होते हैं, उस कर्मोदय के समाप्त होते ही वे आस्रवभाव भी नष्ट हो जाते हैं, उन्हें नष्ट होने से रोका नहीं जा सकता; अत: वे अशरण हैं, उन्हें कोई शरण नहीं है। अपने स्वभाव से ही स्वयं सुरक्षित जीव ही शरणभूत है; क्योंकि उसकी सहज चैतन्यशक्ति का नाश संभव नहीं है।

देखो, जगत कहता है कि आत्मा अशरण है, पर यहाँ कहा जा रहा है कि अशरण तो आत्मा के विरोधी आस्रवभाव हैं, आत्मा तो परमशरण है, शरणभूत है।

उक्त संदर्भ में अशरण भावना के संदर्भ में लिखे गये निम्नांकित कथन मननीय हैं -

(दोहा)

शरण न जिय को जगत में, सुर-नर खगपति सार ।
निश्चय शुद्धातम शरण, परमेष्ठी व्यवहार ।।[१]

१. पंडित दीपचंदशाह कृत बारह भावना, अशरण भावना

शुद्धातम अरु पंचगुरु, जग में सरनौ दोय।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय ।।[1]

(हरिगीत)

निज आतमा निश्चयशरण व्यवहार से परमातमा ।
जो खोजता पर की शरण वह आतमा बहिरातमा ॥
ध्रुवधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है ।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ॥
संयोग हैं अशरण सभी निज आतमा ध्रुवधाम है ।
पर्याय व्ययधर्मा परंतु द्रव्य शाश्वत धाम है ।।
इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है ।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है ।।[2]

उक्त छन्दों में भगवान आत्मा को निश्चय शरण बताया गया है। अशरण तो संयोग और संयोगीभाव हैं, त्रिकालीस्वभाव अशरण नहीं होता।

अध्रुव, अनित्य और अशरण विशेषणों को गहराई से समझने के लिए लेखक की अन्यकृति 'बारह भावना : एक अनुशीलन' के अनित्य और अशरण भावना संबंधी प्रकरणों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

आस्रवभाव वर्तमान में ही दु:खरूप हैं और भविष्य में भी दु:ख देनेवाले हैं। मोह-राग-द्वेष भाव ही आस्रवभाव हैं। ये अशान्तिस्वरूप और आकुलतारूप होने से वर्तमान में दु:खरूप हैं तथा अशान्ति और आकुलता के जनक कर्मों के बंध के कारण होने से दु:खफलरूप हैं।

ये आस्रवभाव वर्तमान में तो दु:ख देते ही हैं; दु:ख क्या देते हैं, ये दु:ख ही हैं और इनका निमित्त पाकर जो कर्म बंधेंगे, उन कर्मों का भविष्य में जब उदय आवेगा, तब उसके निमित्त से जो राग-द्वेष होंगे तथा अनेकप्रकार की प्रतिकूलताएँ होंगी, उनके भी दु:खरूप होने से ये आस्रवभाव आगामी दु:खों के भी कारण हैं।

---

१. पंडित जयचन्दजी छाबड़ाकृत बारह भावना, अशरण भावना
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्लकृत बारह भावना, अशरण भावना

आस्रवभाव पुण्यरूप भी होते हैं और पापरूप भी। तात्पर्य यह है कि आस्रव दो प्रकार के होते हैं - १. पुण्यास्रव और २. पापास्रव अथवा १. शुभास्रव और २. अशुभास्रव।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ दोनों ही प्रकार के आस्रवभावों को अध्रुव, अनित्य, अशरण, दु:खरूप और दु:खों का कारण बताया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि पुण्यभाव भी, शुभभाव भी अध्रुव, अनित्य और अशरण तो हैं ही, दु:खरूप भी हैं और दु:खों के कारण भी हैं। पुण्य और पाप दोनों ही भाव संसार परिभ्रमण के कारण होने से समान ही हैं। दोनों की समानता को आगे चलकर पुण्य-पापाधिकार में, पुण्य-पाप एकत्वद्वार में विस्तार से स्पष्ट किया जायेगा। अत: इस विषय पर गहरी मीमांसा वहाँ ही करेंगे। यहाँ तो मात्र इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि पुण्य और पाप - दोनों ही भाव आस्रवभाव होने से आत्मा के स्वभाव के विरुद्ध भाव हैं; इसकारण वे आत्मा नहीं हो सकते और इसीकारण हेय हैं, उपादेय नहीं।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी का संबोधन भी मननीय है, जिसका भाव इसप्रकार है -

"जिस आस्रवभाव से तुझे निवर्तित होना है, बचना है, हटना है; उसी में अटकेगा, उसी में रहेगा तो उनसे निवृत्त कैसे हो सकेगा ? इस तरह तेरे जन्म-मरण का अन्त कब आयेगा ? भाई ! पुण्य-पाप के भावों से तुझे हटना है। जिसप्रकार पाप से हटना है, उसीप्रकार पुण्य से भी हटना ही है। पुण्य-पाप दोनों एक ही वस्तु हैं अर्थात् आस्रव ही हैं। योगसार में आया है कि -

पाप तत्त्व को पाप तो, जानत जग सब कोई ।
पुण्य तत्व भी पाप है, कहै अनुभवी कोई ॥७१॥

इसी समयसार शास्त्र की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में पुण्य-पापाधिकार के अन्त में प्रश्न किया कि इस अधिकार को तो आप पापाधिकार कहते हैं, फिर इसमें व्यवहाररत्नत्रय को क्यों लिया गया ?

उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चयरत्नत्रय का निमित्त कारण होने से तथा परम्परा से जीव को पवित्रता का कारण होने से पुण्य कहा जाता है; तथापि बहिद्रव्य के आलम्बन द्वारा पराधीन होने से आत्मा को शुद्धस्वभाव से पतित करता है, निर्विकल्प समाधि में स्थित जीव व्यवहार के विकल्पों के कारण शुद्धात्मस्वरूप से पतित होते हैं; इसकारण वह पाप ही है।[१]

भाई ! जगत को पुण्यभाव की खूब मिठास है और यह मिठास ही उसको मारती है। पुण्य के फल में धन-सम्पत्ति, मान-सम्मान आदि मिलता है। अज्ञानी इस में फूल जाता है, खुश हो जाता है; किन्तु यहाँ कहते हैं कि तुझे जो यह पुण्यभाव की मिठास है न ? यह मिठास तेरी घातक है।[२]"

उक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि पापास्रव के समान पुण्यास्रव भी आत्मा नहीं है; क्योंकि वह भी आत्मस्वभाव से विरुद्धस्वभाववाला है, आत्मा का घातक है, अध्रुव है, अनित्य है, अशरण है, दुःखरूप है और आगामी काल में भी दुख देनेवाला है।

इसप्रकार जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों के बीच भेद जान लेता है तो आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। आस्रवों की निवृत्ति की प्रक्रिया समझाते हुए टीका में कहा गया है कि यह आत्मा ज्यों-ज्यों और जितना-जितना विज्ञानघन होता जाता है, त्यों-त्यों और उतना-उतना आस्रवों से निवृत्त होता जाता है तथा ज्यों-ज्यों और जितना-जितना आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों और उतना-उतना विज्ञानघन होता जाता है - इसप्रकार ज्ञान के होने और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल है।

उक्त संदर्भ में पंडित जयचंदजी छाबड़ा द्वारा लिखा गया इस गाथा का भावार्थ दृष्टव्य है, जो इसप्रकार है -

"आस्रवों का और आत्मा का जैसा ऊपर कहा है, तदनुसार भेद जानते ही जिस-जिस प्रकार से जितने-जितने अंश में आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता

१. प्रवचन रत्नाकर भाग ३, पृष्ठ १०४-१०५
२. वही, पृष्ठ १०८

है, उस-उस प्रकार से उतने-उतने अंश में वह आस्रवों से निवृत्त होता है। जब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव होता है, तब समस्त आस्रवों से निवृत्त होता है। इसप्रकार ज्ञान का और आस्रव-निवृत्ति का एक काल है।

यह आस्रवों के दूर होने का और संवर होने का वर्णन गुणस्थानों की परिपाटी रूप से तत्त्वार्थसूत्र की टीका आदि सिद्धान्तशास्त्रों में है, वहाँ से जानना। यहाँ तो सामान्य प्रकरण है, इसलिये सामान्यतया कहा है।

'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है' - इसका क्या अर्थ है ?

उसका उत्तर - आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है अर्थात् आत्मा ज्ञान में स्थित होता जाता है। जबतक मिथ्यात्व हो, तबतक ज्ञान को (भले ही क्षायोपशमिक ज्ञान अधिक हो तो भी) अज्ञान कहा जाता है और मिथ्यात्व के जाने के बाद उसे (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प हो तो भी) विज्ञान कहा जाता है। ज्यों-ज्यों वह ज्ञान अर्थात् विज्ञान स्थिरघन होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों की निवृत्ति होती जाती है और ज्यों-ज्यों आस्रवों की निवृत्ति होती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञान (विज्ञान) स्थिरघन होता जाता है, अर्थात् आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है।''

प्रश्न – गाथा ७३ में 'एक' विशेषण का भाव समझाते हुए भगवान आत्मा को विज्ञानघन स्वभावी कहा था और यहाँ विज्ञानघन होते जाने की बात की जा रही है। अब प्रश्न यह है कि यह भगवान आत्मा विज्ञानघनस्वभावी है या उसे विज्ञानघन होना है ?

उत्तर – यह भगवान आत्मा विज्ञानघनस्वभावी है भी और इसे विज्ञानघन होना भी है। द्रव्य स्वभाव की दृष्टि से तो यह विज्ञानघनस्वभावी है, किन्तु पर्याय में इसे विज्ञानघनस्वभाव से परिणमित होना है। जब श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रादि गुण विज्ञानघनस्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर, उसके सन्मुख होकर परिणमित होते हैं; तब यह आत्मा पर्याय में विज्ञानघन होता है और आस्रवों से निवृत्त होता है। जिस अनुपात में विज्ञानघनस्वभाव में परिणमित होता जाता है, उसी अनुपात में आस्रवों से निवृत्त होता जाता है तथा जिस

अनुपात में आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, उसी अनुपात में विज्ञानघनस्वभाव से परिणमित होता जाता है। आस्रवों से निवृत्ति की यही प्रक्रिया है और इसीलिए ज्ञान के होने और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल भी है।

अब आगामी कलश में आचार्य अमृतचन्द्र ७३ एवं ७४वीं गाथा का उपसंहार करते हुए ७५वीं गाथा की सूचना भी देते हैं, जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीड़ित)

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां ।
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिध्नुवानः परम् ॥
अज्ञानोत्थितकर्त्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं ।
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥४८॥

(सवैया इकतीसा)

इसप्रकार जान भिन्नता विभावभाव की,
कर्त्तृत्व का अहं विलायमान हो रहा ।
निज विज्ञानघनभाव गजारूढ़ हो,
निज भगवान शोभायमान हो रहा ॥
जगत का साक्षी पुरुषपुराण यह,
अपने स्वभाव में विकासमान हो रहा ।
अहो सद्ज्ञानवंत दृष्टिवंत यह पुमान,
जग-मग ज्योतिमय प्रकाशमान हो रहा ॥४८॥

इसप्रकार पूर्वोक्त विधि के अनुसार परद्रव्यों से सर्वप्रकार से उत्कृष्ट निवृत्ति करके तत्काल ही अपने विज्ञानघनस्वभाव पर निर्भयता से आरूढ़ होता हुआ, स्वयं का आश्रय करता हुआ, स्वयं को निशंकतया अस्तिक्यभाव में स्थिर करता हुआ तथा अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति से उत्पन्न क्लेशों से निवृत्त होता हुआ, स्वयं ज्ञानी होता हुआ, जगत का साक्षी ज्ञाता-दृष्टा पुराण-पुरुष भगवान आत्मा अब प्रकाशित हो रहा है।

कलश की अंतिम पंक्ति में यह कहा गया है कि 'ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति- यह भगवान आतमा ज्ञानी होकर अब यहाँ प्रकाशमान हो रहा है' और आगामी

गाथा में ज्ञानी की पहिचान बताई गई है। इसप्रकार यह कलश आगामी गाथा की भूमिका भी बाँधता है और परप्रवृत्ति की उत्कृष्ट निवृत्ति की बात कर पिछली गाथाओं का उपसंहार भी करता है।

पंडित बनारसीदासजी ने समयसार नाटक में इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

जग मैं अनादि को अग्यानी कहै मेरौ कर्म,
करता मैं याकौ किरिया कौ प्रतिपाखी है ।
अंतर सुमति भासी जोग सौं भयौ उदासी,
ममता मिटाइ परजाइबुद्धि नाखी है ॥
निरभै सुभाव लीनौ अनुभौके रस भीनौ,
कीनौ विवहार दृष्टि निहचै में राखी है ।
भरम की डोरी तोरी धरम को भयौ धोरी,
परमसौं प्रीत जोरी करम कौ साखी है ॥

यद्यपि इस जगत में अनादि का अज्ञानी जीव कहता है कि कर्म मेरे हैं, मैं उनका कर्त्ता हूँ। – इसप्रकार यद्यपि वह क्रिया का पक्षपाती है, कर्तृत्व के अंहकार में डूबा है; तथापि जब अंतरंग में सुमति जागृत हुई, सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ; तब इसने मन-वचन-कायरूप योगों की क्रिया से उदास होकर, ममता को मिटाकर, पर्यायबुद्धि को छोड़ दिया और निर्भय होकर, निजस्वभाव को ग्रहण कर यह आत्मा अनुभव के रस में भीग गया।

इसप्रकार ज्ञानी होकर भी यद्यपि व्यवहार में प्रवर्तता है, तथापि दृष्टि तो निश्चय में ही केन्द्रित रखी है, भ्रम की डोरी को तोड़ दिया है, धर्म का धौरी (धारण करने वाला) बन गया है, परमपदार्थ निज भगवान आत्मा से प्रीति जोड़ ली है और कर्मों का ज्ञाता-दृष्टा बन गया है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं रहा।

इसप्रकार इस कलश में यह कहा गया है कि यह भगवान आत्मा परद्रव्यों से सर्वप्रकार निवृत्त होकर अपने विज्ञानघन स्वभाव में निर्भयता से आरूढ़ होता हुआ जगत का साक्षी बनकर प्रकाशमान हो रहा है। •

समयसार गाथा ७५

७४वीं गाथा के बाद समागत ४८वें कलश में यह कहा गया है कि आत्मा ज्ञानी होकर प्रकाशमान हो रहा है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि यह कैसे जानें कि आत्मा ज्ञानी हो गया? यही कारण है कि ७५वीं गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत् – आत्मा ज्ञानी हो गया – यह कैसे जाना जाय ? – यदि कोई ऐसा पूछे तो कहते हैं कि –

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
रेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ७५॥

[illegible] के परिणाम को नोकरम के परिणाम को ।
जो ना करें बस मात्र जाने प्राप्त हों सद्ज्ञान को ॥ ७५॥

जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को करता नहीं है, मात्र जानता ही है, वह ज्ञानी है।

कर्ताकर्माधिकार होने से यहाँ ज्ञानी की पहिचान बताते हुए भी यही कहा गया है कि जो कर्म व नोकर्म के परिणाम को करता नहीं है, मात्र जानता है, वह ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि पर में कर्तृत्वबुद्धि ही अज्ञान है; अतः उसके समाप्त होते ही अज्ञान का नाश हो जाता है और आत्मा ज्ञानी हो जाता है।

१९वीं गाथा में यह कहा था कि जबतक यह आत्मा कर्म और नोकर्म में अहंबुद्धि – एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि रखेगा, तबतक अज्ञानी रहेगा और यहाँ यह कहा जा रहा है कि कर्म और नोकर्म में कर्तृत्वबुद्धि नहीं रखनेवाला ज्ञानी है।

अज्ञानी और ज्ञानी को परिभाषित करते हुए दोनों ही गाथाओं में कर्म और नोकर्म की बात तो समान ही कही है, परन्तु १९वीं गाथा में अज्ञानी का स्वरूप समझाते हुए एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि की बात की और यहाँ ज्ञानी का

स्वरूप समझाते हुए कर्तृत्वबुद्धि के निषेध की बात कर रहे हैं। यह अंतर अधिकारों के विभाजन के कारण आया है, वैसे तो कर्म और नोकर्म में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व रखनेवाला अज्ञानी है और इनमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व न रखनेवाला; मात्र जाननेवाला ही ज्ञानी है।

कर्म में द्रव्यकर्म और भावकर्म – दोनों आ जाते हैं और नोकर्म में शरीरादि संयोगी पदार्थ आते हैं। द्रव्यकर्म का उदय भावकर्म और नोकर्म के रूप में प्रतिफलित होता है। आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भावों में द्रव्यकर्म का उदय निमित्त होता है और शरीरादि बाह्य पदार्थों के संयोग में भी द्रव्यकर्म का उदय निमित्त होता है। इसप्रकार द्रव्यकर्मों के उदयानुसार होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भावरूप भावकर्म में तथा पुण्य-पाप के उदयानुसार मिलनेवाले अनुकूल-प्रतिकूल – सभी शरीरादि व स्त्री-पुत्रादि, मकानादि, देश-नगरादि संयोगरूप नोकर्म में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ही अज्ञान है, मिथ्यात्व है, संसारमार्ग है तथा इनमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभाव, सहज ज्ञाता-दृष्टाभाव ही ज्ञान है, सम्यक्त्व है, मुक्तिमार्ग है।

उक्त बात परमसत्य होने पर भी यहाँ कर्ताकर्माधिकार होने से सभी बात कर्तृत्व की मुख्यता से ही होगी – यह बात ध्यान में रहेगी तो कर्ताकर्माधिकार के मर्म को समझने में सुगमता रहेगी।

प्रश्न – क्या पाप के उदय से भी शरीरादि, स्त्री-पुत्रादि, धन-धान्यादि, देश-नगरादि मिलते हैं?

उत्तर – क्यों नहीं? स्वस्थ-सुन्दर शरीर, अनुकूल पत्नी, सुयोग्य पुत्र, आज्ञाकारी सेवक और सर्वप्रकार अनुकूल गृह, ग्राम, नगर और देशादि यदि पुण्योदय से प्राप्त होते हैं तो अस्वस्थ-असुन्दर शरीर, प्रतिकूल पत्नी, अयोग्य पुत्र, अविश्वसनीय सेवक और प्रतिकूल गृह, ग्राम, नगर और देशादि पापोदय से प्राप्त होते हैं। – ये सभी नोकर्म में आ जाते हैं।

इसप्रकार मोह-राग-द्वेषादि विकारीभावों और शरीरादि एवं देश-नगरादि संयोगों में कर्तृत्वबुद्धि नहीं होना और इनके ज्ञाता-दृष्टा भाव से परिणमित होना ही ज्ञान है तथा इसप्रकार के ज्ञानभाव से परिणमित आत्मा ज्ञानी है। ज्ञानी की पहिचान का यही चिन्ह है, ज्ञानी इसी चिन्ह से पहिचाने जाते हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"निश्चय से मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि रूप से अंतरंग में उत्पन्न होता हुआ जो कर्म का परिणाम है और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदि रूप से बाहर उत्पन्न होता हुआ जो नोकर्म का परिणाम है; वे सब ही पुद्गल के परिणाम हैं। परमार्थ से जिसप्रकार घड़े के और मिट्टी के व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है, उसीप्रकार पुद्गलपरिणाम के और पुद्गल के ही व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है।

पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक है, इसलिए पुद्गलपरिणाम का कर्त्ता है और पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण उसका कर्म है। इसलिए पुद्गलद्रव्य के द्वारा कर्त्ता होकर कर्मरूप से किये जाने वाले समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलपरिणामों का कर्त्ता परमार्थ से आत्मा नहीं है; क्योंकि पुद्गलपरिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव के कारण कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है।

परन्तु परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है और जिसप्रकार घड़े और मिट्टी में व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है; उसीप्रकार आत्मपरिणाम और आत्मा के व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है।

आत्मद्रव्य स्वतंत्र व्यापक होने से आत्मपरिणाम का अर्थात् पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्त्ता है और पुद्गलपरिणाम का ज्ञान उस व्यापक का स्वयं व्याप्य

होने से आत्मा का कर्म है। इसप्रकार यह आत्मा पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्त्ता होने पर भी पुद्गलपरिणाम का कर्त्ता नहीं है; पुद्गलपरिणाम से अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है।

पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्त्ता होने के कारण पुद्गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य हो – ऐसा भी नहीं है; क्योंकि पुद्गल और आत्मा के ज्ञेय-ज्ञायक संबंध का व्यवहार होने पर भी, वह पुद्गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य नहीं है, अपितु पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त (ज्ञेयरूप) है, ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। इसकारण पुद्गलपरिणाम का ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।''

उक्त संपूर्ण कथन में न्याय और युक्ति से एक ही बात सिद्ध की गई है कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान आदि तो पुद्गल परिणाम हैं ही; किन्तु मोह, राग, द्वेष, सुख-दुःख आदि भी पुद्गलपरिणाम हैं और इनका कर्त्ता-भोक्ता निश्चय से पुद्गल ही है, आत्मा नहीं। हाँ, आत्मा इनके ज्ञान का कर्त्ता अवश्य है, पर इनका नहीं; क्योंकि इनका ज्ञान आत्मा का ही परिणाम है, इस कारण आत्मा इनके ज्ञान का कर्त्ता है।

इसी बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''राग का परिणाम जीव का कर्म नहीं है। जीव में जो राग का परिणाम होता है, उससमय राग को जाननेवाला जो ज्ञान है, उस ज्ञान के परिणाम का कर्त्ता जीव है और राग को जाननेवाला वह ज्ञान जीव का कर्म है।[१]

रागसंबंधी ज्ञान, राग को जाननेवाली आत्मा की ज्ञानपर्याय, आत्मा का स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से आत्मा का कर्म है तथा राग को जाननेवाली ज्ञानपर्याय का आत्मा कर्त्ता है।[२]

जिस परद्रव्य या परभाव का ज्ञान होता है, वह परद्रव्य या परभाव आत्मा का कर्म नहीं हो सकता, बल्कि उस परद्रव्य या परभाव का ज्ञान आत्मा का कर्म (कार्य) होता है और आत्मा उस ज्ञान का कर्त्ता होता है।[३]

---

१. प्रवचन रत्नाकर, भाग पृष्ठ १३२
२. वही, पृष्ठ १३६
३. वही, पृष्ठ १३८

भगवान आत्मा स्व-परप्रकाशकज्ञानशक्ति का पिण्ड है। वह स्वयं कर्त्ता होकर स्व-पर को प्रकाशित करता है। पर को प्रकाशित करने में भी आत्मा को पर की अपेक्षा नहीं है। राग का परिणाम या व्यवहार का परिणाम हुआ, इसकारण राग या व्यवहार का ज्ञान हुआ – ऐसी अपेक्षा या पराधीनता ज्ञान के परिणाम को नहीं है।[१]''

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति के कारण ही यह भगवान आत्मा पर को और रागादि भावों को जानता है और यह जानना उसका कर्म है एवं उस जाननेरूप कर्म का वह कर्त्ता है।

मूलत: प्रश्न तो यह था कि यह आत्मा ज्ञानी हो गया – यह कैसे पहिचाना जाय? इसके उत्तर में गाथा में कहा गया था कि कर्म और नोकर्म के परिणाम को जो करता नहीं है, मात्र जानता है, वह आत्मा ज्ञानी है।

प्रश्न– क्या मात्र इतना जान लेने से ही, आत्मा के अनुभव बिना ही जीव ज्ञानी हो जाता है?

उत्तर– आत्मानुभव के बिना तो कोई ज्ञानी हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र जैसा विस्तार न देते हुए भी यह उल्लेख अवश्य करते हैं कि जिसप्रकार घट का उपादानकर्त्ता मिट्टी है, उसीप्रकार कर्म और नोकर्म के परिणाम का उपादान कर्त्ता पुद्गलद्रव्य है, आत्मा उनका उपादानकर्त्ता नहीं है। – इसप्रकार जो जानता है, वह निश्चय शुद्ध आत्मा का परमसमाधि के बल से अनुभव करता हुआ ज्ञानी होता है।

इस कथन में इस बात को एकदम उजागर कर दिया गया है कि यह आत्मा शुद्धात्मा का अनुभव करता हुआ ही ज्ञानी होता है। इससे यह स्पष्ट ही है कि आत्मानुभव के बिना जीव ज्ञानी नहीं होता।

---

१. प्रवचन रत्नाकर, भाग-३, पृष्ठ १४०

इस गाथा के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में एक गाथा आती है, जो आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति में नहीं है, उसमें भी ज्ञानी को ही परिभाषित किया गया है। वह गाथा मूलतः इसप्रकार है –

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

इस गाथा का अर्थ आचार्य जयसेन स्वयं इसप्रकार करते हैं –

"यह आत्मा पुण्य-पापादि विकारीभावों का कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी है। यह सब नयविभाग से है; क्योंकि निश्चयनय से अकर्त्ता है और व्यवहारनय से कर्त्ता है। इसप्रकार ख्याति-लाभ-पूजादि समस्त रागादि विकल्पमय औपाधिक परिणामों से रहित समाधि में स्थित होकर जो जानता है, वह ज्ञानी होता है।"

इसमें भी यही कहा है कि समस्त रागादि भावों से रहित समाधि में स्थित होकर जो जानता है, वह ज्ञानी है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि आत्मानुभव के बिना जीव ज्ञानी नहीं होता।

इस गाथा में नय विभाग से आत्मा को जिसप्रकार कर्त्ता-अकर्त्ता कहा गया है, उसकी विस्तृत चर्चा आगे इसी अधिकार में यथास्थान विस्तार से होनेवाली है; अतः यहाँ कुछ भी कहना अभीष्ट नहीं है।

७५वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इस बात को विस्तार से स्पष्ट किया है कि कर्त्ता-कर्मभाव वहाँ ही बनता है, जहाँ व्याप्य-व्यापकभाव बनता है। स्पर्शादि और रागादिरूप पौद्गलिकभावों का व्याप्य-व्यापक संबंध पुद्गल से ही होने से उनका कर्त्ता पुद्गल ही है, आत्मा नहीं। हाँ, यह बात अवश्य है कि स्पर्शादि और रागादिभावों के ज्ञान के साथ आत्मा का व्याप्य-व्यापकभाव बन जाता है; अतः आत्मा उनके ज्ञान का कर्त्ता अवश्य है; पर वह ज्ञान वास्तव में तो आत्मा का ही है; क्योंकि वह आत्मा का परिणमन है, पुद्गल से उसका कोई संबंध नहीं है, पुद्गल को तो उसने मात्र जाना ही है, उसमें कुछ किया नहीं।

इसी भाव को आगामी कलश में भी स्पष्ट किया जा रहा है, जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीड़ित)

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि ।
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो ।
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्त्तृत्वशून्यः पुमान् ॥ ४९॥

(सवैया इकतीसा)

तत्स्वरूप भाव में ही व्याप्य-व्यापक बने,
बने न कदापि वह अतत्स्वरूप भाव में ।
कर्त्ता-कर्म भाव का बनना असंभव है,
व्याप्य-व्यापकभाव संबंध के अभाव में ।।
इस भाँति प्रबल विवेक दिनकर से ही,
भेद अंधकार लीन निज ज्ञानभाव में ।
कर्त्तृत्व भार से शून्य शोभायमान,
पूर्ण निर्भार मगन आनन्द स्वभाव में ॥ ४९॥

व्याप्य-व्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं। व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्त्ता-कर्मभाव भी कैसे बन सकता है? तात्पर्य यह है कि व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्त्ता-कर्मभाव बन ही नहीं सकता। इसप्रकार प्रबल विवेक और सर्वग्राही ज्ञान के भार (बल) से परकर्त्तृत्व संबंधी अज्ञानांधकार को भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानी होकर परकर्त्तृत्व से शून्य हो शोभायमान हो रहा है।

उक्त कलश के भाव को पंडित जयचन्दजी छाबड़ा ने भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट किया है –

"जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है, सो तो व्यापक है और कोई एक अवस्था-विशेष, वह (उस व्यापक का) व्याप्य है। इसप्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही हैं। जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है; वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है – ऐसा होने से

द्रव्य, पर्याय में व्याप्त होता है और पर्याय, द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसी व्याप्य-व्यापकता तत्स्वरूप में ही (अभिन्न सत्तावाले पदार्थ में ही) होती है; अतत्स्वरूप में (जिनकी सत्ता भिन्न-भिन्न है – ऐसे पदार्थों में) नहीं ही होती। जहाँ व्याप्य-व्यापकभाव होता है, वहीं कर्त्ता-कर्मभाव होता है; व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्त्ता-कर्मभाव नहीं होता – ऐसा जो जानता है, वह पुद्गल और आत्मा के कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है – ऐसा जानता है। ऐसा जानने पर वह ज्ञानी होता है, कर्त्ता-कर्मभाव से रहित होता है और ज्ञाता-दृष्टा – जगत का साक्षीभूत होता है।''

टीका और कलश के भावार्थ से सम्पूर्ण बात एकदम स्पष्ट हो गई है। अतः अब कुछ भी विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

कविवर पंडित बनारसीदासजी इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जैसो जो दरब ताके तैसो गुन परजाय,
ताहीसौं मिलत पै मिलै न काहू आनसौं ।
जीववस्तु चेतन करम जड़ जातिभेद,
अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कानसौं ॥
ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ,
ताकौ भ्रम गयौ ज्यौं तिमिर भागै भानसौं ।
सोई जीव करमकौ करता सौ दीसै पै,
अकरता कह्यौ है सुद्धता के परमानसौं ॥५॥

जो द्रव्य जिसप्रकार का होता है, उसके गुण-पर्याय भी उसीप्रकार के होते हैं और वे उसी से मिलते हैं, किसी अन्य द्रव्य से नहीं। जीव चेतन जाति का द्रव्य है और पुद्गल जड़ (अचेतन) जाति का। इसप्रकार इन दोनों में जातिभेद है। इनका मिलाप उसीप्रकार अमिल (असंभव) है, जिसप्रकार कि नितंब पर कान का होना। कान (कर्ण) तो चेहरे पर ही होता है, नितंब पर नहीं।

जिसप्रकार कान का नितंब पर होना संभव ही नहीं है, उसीप्रकार जड़ और चेतन का, कर्म और जीव का मिलाप भी असंभव है। इसप्रकार का विवेक

जिसके हृदय में जागृत हो जाता है, उसका भ्रम उसीप्रकार भाग जाता है, जिसप्रकार कि सूर्य के उगने पर अंधकार भाग जाता है। यद्यपि ऐसा जीव इस अज्ञानी जगत को कर्त्ता के समान ही दिखाई देता है, तथापि वह परमागम में शुद्धनय से अकर्त्ता ही कहा गया है।

इस कलश में यह बात एकदम उभर कर आई है कि यह भगवान आत्मा दया-दानादिरूप शुभास्रवों का भी कर्त्ता नहीं है, पर उसे जानता अवश्य है, उसके ज्ञान का कर्त्ता अवश्य है और वह ज्ञान उसका कार्य है, कर्म है। तात्पर्य यह है कि विकारी भावों का कर्त्ता नहीं होने पर भी, उनके जाननेरूप निर्मल परिणमन का कर्त्ता आत्मा है।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''भगवान आत्मा कर्त्ता और दया, दान, व्रत, भक्ति आदि विभावभाव इसके कर्म – यह कैसे हो सकता है ? .... दया, दान आदि व्यवहार के काम तो आत्मा कर ही नहीं सकता; परन्तु दया, दान करने के विकारी परिणाम भी आत्मा के कार्य नहीं है; क्योंकि विभावभाव आत्मा से अतत्स्वरूप हैं।[१]

भगवान आत्मा का व्याप्य वीतरागी पर्याय है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय की पर्याय प्रगट होती है, वही आत्मा का व्याप्य है, अन्य नहीं।[२]

राग व आत्मा में व्याप्य-व्यापकता नहीं है; क्योंकि दोनों भिन्न वस्तुएं हैं; परन्तु ज्ञायकस्वभावी आत्मा और उसकी निर्मल वीतरागी परिणति में व्याप्य-व्यापकपना है; क्योंकि वे दोनों अभिन्न हैं, तत्स्वभावी हैं। द्रव्य व्यापक और राग उसका व्याप्य – ऐसा नहीं है; बल्कि द्रव्य व्यापक व उसकी निर्मल पर्याय व्याप्य – ऐसा व्याप्य-व्यापकपना है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ १४७
२. वही पृष्ठ १४८
३. वही पृष्ठ १५२

जिस काल में जिस जाति का राग व जैसी देह की स्थिति अपने-अपने कारण से होती है, उस काल में उन सबको छुये बिना ही जान लेने का ज्ञान का स्वभाव है। .....

जिस काल में राग है, उसी समय राग को जाननेवाला ज्ञान कर्तृत्वरहित होकर शोभायमान होता है। अर्थात् 'राग मेरा कार्य व मैं उसका कर्त्ता' – ऐसी अज्ञान दशा को भेदता हुआ आत्मा स्वयं कर्तृत्वरहित होकर शोभायमान होता है।[१]"

देखो, यहाँ यह बात एकदम उभर कर आगई है कि पर का कर्त्ता तो ज्ञानी-अज्ञानी कोई भी नहीं है; परन्तु पर के कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त अज्ञानी अपने उस अज्ञानभाव का कर्त्ता अवश्य है। यद्यपि पर में कर्तृत्वबुद्धि के अभाव के कारण ज्ञानी आत्मा को पर के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले रागादि भावों का भी कर्त्ता नहीं माना गया है; तथापि उन रागादि को जानने रूप ज्ञान का कर्त्ता तो ज्ञानी भी है ही।

यह बात अत्यन्त स्पष्ट होने पर भी न जाने क्यों कुछ लोग तो ज्ञानी को भी रागादि का कर्त्ता स्वीकार करना चाहते हैं और कुछ लोग ज्ञानी को रागादि और पर को जानने रूप ज्ञान का भी कर्त्ता नहीं मानना चाहते।

यद्यपि अन्य स्थानों पर उक्त कथन भी आते हैं; पर उनकी अपेक्षा अलग होती है। उक्त अपेक्षा को भी यथास्थान स्पष्ट किया जाएगा; परन्तु यहाँ तो यही कहा जा रहा है कि ज्ञानीजीव पर के और रागादि अज्ञानभावों के कर्त्ता नहीं हैं; परन्तु उन्हें जानने रूप ज्ञानपर्याय के कर्त्ता अवश्य हैं। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ १४९

शरीरादि परपदार्थों और रागादि चिद्विकारों में एकत्वबुद्धि, अहंबुद्धि ही मिथ्यात्व नामक प्रथम अंतरंग परिग्रह है। जबतक यह नहीं छूटता, तबतक अन्य परिग्रहों के छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता; पर इस मुग्ध जगत का इस ओर ध्यान ही नहीं है।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १४२

समयसार गाथा ७६ से ७९

यद्यपि यह बात अत्यंत स्पष्ट हो गई है कि आत्मा का पौद्गलिक भावों के साथ कर्त्ता-कर्मसंबंध नहीं है, तथापि आगामी गाथाओं में भी उसी बात को विस्तार से समझाते हैं; अनेक युक्तियों से पाठकों के गले उतारते हैं।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मप्फलमणंतं ॥७८॥

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पोग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं ॥७९॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
बहुभाँति पुद्गल कर्म को ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥७६॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
बहुभाँति निज परिणाम सब ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥७७॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
पुद्गल करम का नंतफल ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥७८॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
इस ही तरह पुद्गल दरब निजभाव से ही परिणमें ॥७९॥

ज्ञानी अनेकप्रकार के पुद्गल कर्म को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

ज्ञानी अनेकप्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

ज्ञानी पुद्गल कर्म के अनन्तफल को जानते हुए भी परमार्थ से परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

इसीप्रकार पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह भी अपने ही भावों से परिणमित होता है।

उक्त चारों गाथाओं में लगभग एक ही बात कही गई है कि एक द्रव्य न तो दूसरे द्रव्य की पर्यायरूप परिणमित होता है, न दूसरे द्रव्य की पर्याय को ग्रहण करता है और न उसरूप उत्पन्न ही होता है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने भावों में ही परिणमित होता है। इसलिए एकद्रव्य का दूसरे द्रव्य की पर्यायों के साथ कर्त्ता-कर्मसंबंध होना संभव नहीं है।

चारों गाथाओं में लगभग एक सी ही बात कही जाने पर भी इतना अंतर है कि ७६, ७७ एवं ७८वीं गाथायें तो जीव परद्रव्य के भावों का कर्त्ता नहीं है – यह बताती हैं और ७९वीं गाथा यह बताती है कि पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्य के भावों का कर्त्ता नहीं है। तात्पर्य यह है कि जाननेवाला जीव भी पर का कर्त्ता नहीं है और नहीं जाननेवाला पुद्गल भी पर का कर्त्ता नहीं है । – ऐसा कहकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि जानने और न जानने से पर के कर्तृत्व का कोई संबंध नहीं है।

यदि कोई ऐसा माने कि पुद्गल तो कुछ जानता नहीं है, इसकारण वह तो पर का कर्त्ता नहीं हो सकता, पर जीव तो सबकुछ जानता है, इसकारण वह तो पर का कर्त्ता हो ही सकता है; तो उसकी यह मान्यता सही नहीं है। इसीप्रकार कोई यह माने कि जीव तो जानता है, समझदार है; अतः पर में कुछ नहीं करेगा, पर पुद्गल तो कुछ जानता नहीं है, अतः वह तो करेगा ही;

तो उसका यह मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि पर के करने और न करने का जानने और नहीं जानने से कोई संबंध नहीं है।

प्रश्न – आपने कहा कि ७६, ७७ एवं ७८वीं गाथायें यह बताती हैं कि आत्मा पर का कर्त्ता नहीं है। अतः अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि तीनों गाथाओं में एक ही बात है तो फिर एक ही गाथा पर्याप्त थी, तीन-तीन गाथायें क्यों लिखी गईं?

उत्तर – यद्यपि उक्त तीनों गाथाओं में यही कहा है कि आत्मा पर का कर्त्ता नहीं है; तथापि उनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है।

प्रश्न – वह सूक्ष्म अन्तर क्या है?

उत्तर – ७६वीं गाथा में यह कहा है कि आत्मा अनेकप्रकार के पुद्गल कर्मों को जानता हुआ पर का कर्त्ता नहीं है, ७७वीं गाथा में यह कहा कि अपने परिणामों को जानता हुआ पर का कर्त्ता नहीं है और ७८ वीं गाथा में यह कहा कि पुद्गल कर्म के अनन्तफल को जानता हुआ भी पर का कर्त्ता नहीं है। इसप्रकार तीनों गाथाओं में जो अन्तर है, वह इस बात का है कि वह किसको जानता हुआ पर का कर्त्ता नहीं है। 'पर का कर्त्ता नहीं है' वाली बात तो तीनों में समान ही है। अतः यह कहना अनुचित नहीं है कि उक्त गाथाओं में एक ही बात कही गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – इन तीन प्रकार के कर्मों (कार्यों) की चर्चा करके इन गाथाओं का भाव स्पष्ट किया है। आत्मख्याति का भाव समझने के पहले पंडित जयचंदजी छाबड़ा द्वारा लिखित भावार्थ देख लेना उपयुक्त रहेगा; क्योंकि उसमें उक्त तीनों कर्मों का खुलासा सरल भाषा में किया है, जो इसप्रकार है –

"सामान्यतया कर्त्ता का कर्म तीन प्रकार का कहा जाता है – निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। कर्त्ता के द्वारा, जो पहले न हो – ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये सो कर्त्ता का निर्वर्त्य कर्म है। कर्त्ता के द्वारा, पदार्थ में विकार – परिवर्तन करके जो कुछ किया जाये वह कर्त्ता का विकार्य कर्म है। कर्त्ता, जो

नया उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके भी नहीं करता; मात्र जिसे प्राप्त करता है, वह कर्त्ता का प्राप्य कर्म है।

जीव पुद्गलकर्म को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि चेतन जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है? इसलिये पुद्गलकर्म जीव का निर्वर्त्य कर्म नहीं है। जीव पुद्गल में विकार करके उसे पुद्गलकर्मरूप परिणमन नहीं करा सकता; क्योंकि चेतन जड़ को कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिये पुद्गलकर्म जीव का विकार्य कर्म भी नहीं है। परमार्थ से जीव पुद्गल को ग्रहण नहीं कर सकता; क्योंकि अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिक को कैसे ग्रहण कर सकता है? इसलिये पुद्गलकर्म जीव का प्राप्य कर्म भी नहीं है। इसप्रकार पुद्गलकर्म जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्त्ता नहीं है। जीव का स्वभाव ज्ञाता है; इसलिये ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ स्वयं पुद्गलकर्म को जानता है; इसलिये पुद्गलकर्म को जाननेवाले ऐसे जीव का पर के साथ कर्त्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं ही हो सकता।''

गाथा में जो परिणमदि, गिण्हदि और उप्पज्जदि पद हैं; उनके टीका में क्रमशः विकार्य, प्राप्य और निर्वर्त्य अर्थ किये गये हैं।

आत्मख्याति में ७६वीं गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्यलक्षणवाले पुद्गल के परिणामरूप कर्म (कार्य) में पुद्गल द्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर; उसे ग्रहण करता हुआ, उस रूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ; उस पुद्गलपरिणाम को करता है।

इसप्रकार पुद्गल द्रव्य से किये जाने वाले पुद्गलपरिणाम को जानता हुआ भी ज्ञानी; – जिसप्रकार मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर; आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

इसलिए यद्यपि ज्ञानी पुद्गलकर्म को जानता है; तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसे व्याप्यलक्षण वाले परद्रव्य के परिणामरूप कर्म को न करने वाले ज्ञानी का पुद्गलकर्म के साथ कर्त्ताकर्मभाव नहीं है।''

उक्त भाव ७६वीं गाथा की आत्मख्याति का है। जिसप्रकार ७६ से ७९ तक की गाथायें थोड़े-बहुत अन्तर के साथ लगभग समान हैं; उसीप्रकार उनकी टीकायें भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ लगभग समान ही हैं।

७६वीं गाथा की टीका के आरंभ में जिस विधि से पुद्गल को पुद्गलपरिणाम का कर्त्ता सिद्ध किया है; उसी विधि से ७७वीं गाथा की टीका के आरंभ में आत्मा को आत्मपरिणाम का कर्त्ता सिद्ध किया है तथा ७८वीं गाथा में फिर पुद्गल को पुद्गलकर्म के सुख-दुःख रूप अनन्तफल का कर्त्ता सिद्ध किया है।

इसके बाद तीनों ही गाथाओं की टीका में यह स्पष्ट किया है कि पुद्गलकृत अनेकप्रकार के पुद्गलकर्म को, आत्मकृत आत्मपरिणामों को और पुद्गलकृत पुद्गलकर्म के अनन्तफल को जानता हुआ भी ज्ञानी आत्मा; जिसप्रकार मिट्टी घड़े में व्याप्त होकर घड़ेरूप परिणमित होती है, घड़े के रूप में उत्पन्न होती है और घड़े को प्राप्त होती है; उसप्रकार ज्ञानी आत्मा, आत्मा से भिन्न परपदार्थों को न तो प्राप्त करता है, न उत्पन्न करता है और न उनरूप परिणमित ही होता है।

इसप्रकार तीनों ही गाथाओं में – 'ज्ञानी जीव किसी भी रूप में पर का कर्त्ता नहीं है' – यह सिद्ध किया गया है।

इसप्रकार निष्कर्ष के रूप में यह सुनिश्चित हुआ कि वर्णादि और रागादि के २९ प्रकार के भेदों में विभक्त पुद्गल द्रव्य; स्वयं के प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य रूप परिणमन के आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर; उस परिणमन को स्वयं ही करता है; उसे जाननेवाला जीव, उसे जानते हुए भी उसके परिणमन का कर्त्ता नहीं है।

जिसप्रकार अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों; अपने परिणामों और पुद्गलकर्म के सुख-दुःखादि रूप अनन्त फलों को जाननेवाला ज्ञानी उक्त २९ प्रकार के पौद्गलिक भावों का कर्त्ता नहीं है; उसीप्रकार वह उनका भोक्ता भी नहीं है, स्वामी भी नहीं है। – यह भी जान लेना।

७६ से ७८वीं गाथा तक तो यह कहा गया कि अनेकप्रकार के पुद्गलकर्म, अपने परिणाम और पुद्गलकर्म के अनन्तफलों को जानता हुआ जीव पौद्गलिक भावों का कर्त्ता नहीं है और ७९वीं गाथा में उन्हीं तर्क और युक्तियों के आधार पर यह कहा गया है कि अनेकप्रकार के पुद्गलकर्म, आत्मा के परिणाम और पुद्गलकर्म के अनन्तफलों को नहीं जाननेवाला पुद्गल भी आत्मा के परिणमन (भावों) का कर्त्ता नहीं है।

इसप्रकार इन चारों गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि पुद्गल पौद्गलिक भावों का कर्त्ता है और जीव अपने जाननेरूप ज्ञानभाव का कर्त्ता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणमन का ही कर्त्ता-भोक्ता और स्वामी है।

प्रश्न – ज्ञानी पर को जाननेरूप अपने परिणमन का कर्त्ता है या स्वयं को जाननेरूप अपने परिणमन का कर्त्ता है?

उत्तर – यद्यपि ज्ञानी स्व और पर – दोनों को जाननेरूप अपने परिणमन का कर्त्ता है; तथापि यहां पर के जाननेरूप परिणमन के कर्तृत्व की बात ही मुख्य है; क्योंकि यहां प्रश्न ही इसप्रकार का उपस्थित हुआ था कि अनेकप्रकार के पुद्गलकर्म और उनके अनन्त फल को जानता हुआ ज्ञानी उनका (परभावों का – रागादिभावों का) कर्त्ता है या नहीं?

प्रश्न – प्रश्न में तो यह भी था कि अपने परिणामों को जानता हुआ ज्ञानी पर का कर्त्ता है या नहीं?

उत्तर – हां, ऐसा भी प्रश्न था; पर उत्तर में तो यही कहा था कि अपने परिणामों को जानता हुआ ज्ञानी पर का कर्त्ता नहीं है। ध्यान रहे, यहां अपने

परिणामों को जानते हुए ज्ञानी की बात है, दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव को जानते हुए ज्ञानी की बात नहीं। तात्पर्य यह है कि पर को जाननेरूप अपने परिणमन को जानता हुआ ज्ञानी पर का कर्त्ता नहीं है।

यहां एक बात और भी ध्यान रखने योग्य है कि यहां वर्णादि और रागादिरूप पर के कर्तृत्व के निषेध की बात है, उन्हें जानने के निषेध की बात नहीं है; बल्कि यहां तो यह कहा गया है कि उन्हें जाननेरूप ज्ञानक्रिया का कर्त्ता आत्मा है।

प्रश्न – उन्हें जाननेरूप क्रिया का कर्त्ता हुआ तो उनका ही कर्त्ता हो गया?

उत्तर – नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि उन्हें जाननेरूप क्रिया, उनका परिणमन नहीं है; अपितु ज्ञानी के स्वयं के ज्ञानगुण का परिणमन है।

प्रश्न – यदि ऐसा ही कहें कि ज्ञानी तो स्वयं को जाननेरूप परिणमन का ही कर्त्ता है, पर को जाननेरूप परिणमन का नहीं; तो क्या आपत्ति है?

उत्तर – अरे, भाई! कैसी बात करते हो? यहां तो पर की क्रिया और पर को जाननेरूप अपनी ज्ञानक्रिया के बीच भेदज्ञान कराना ही इष्ट है। आप यह क्यों भूल जाते हैं कि पर को जाननेवाली ज्ञानक्रिया भी आत्मा की ही क्रिया है, पर की क्रिया नहीं। क्रोधादिरूप पौद्गलिकक्रिया और स्व-परप्रकाशक ज्ञानक्रिया के बीच भेदज्ञान कराना ही इस प्रकरण का मूल प्रयोजन है। अतः यहां इसी अपेक्षा को मुख्य रखना चाहिए। यहां अन्य अपेक्षाओं को मुख्य करना इस प्रकरण के साथ अन्याय है।

प्रश्न – यह बात तो निश्चय की ही है न ?

उत्तर – हां, यह बात निश्चय की ही है। व्यवहार की बात भी इसी ग्रन्थ में यथास्थान आयेगी और उसके बारे में आचार्यदेव को जो कहना है, वह भी वे वहीं विस्तार से कहेंगे। अतः उस बात को यहां उठाकर श्रद्धान को ढीला करना उचित नहीं है।

प्रश्न – आचार्य जब कहेंगे, तब कहेंगे; आप हमें वह बात अभी बता दीजिए न ?

उत्तर – नहीं, यह उचित नहीं है; क्योंकि आचार्यदेव कुछ समझकर ही वह बात यहां नहीं कर रहे हैं। हम तो उन्हीं की वाणी का अनुशीलन कर रहे हैं; अतः यहां उन्होंने जो बात कही है, उसी का अनुशीलन करेंगे।

यद्यपि मूल गाथा और आत्मख्याति टीका में नय का उल्लेख नहीं है; तथापि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में पाठकों की सुविधा के लिए नयों का उल्लेख भी करते हैं। वे कहते हैं कि निश्चयनय से जीव का पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है।

आचार्य जयसेन ने पुद्गलकर्म की अनेकप्रकारता को परिभाषित करते हुए ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियों और मतिज्ञानावरणादि उत्तर प्रकृतियों की चर्चा भी की है तथा आत्मपरिणामों को क्षायोपशमिक संकल्प-विकल्पों में तथा पुद्गलकर्म के अनन्तफल को सुख-दुःख के रूप में परिभाषित किया है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि ज्ञानावरणादि अनेकप्रकार के कर्मों, क्षायोपशमिक संकल्प-विकल्पों और लौकिक सुख-दुःखों को जानते हुए भी ज्ञानी आत्मा शुद्धनिश्चयनय से उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

प्रश्न – 'शुद्धनिश्चयनय से कर्त्ता-भोक्ता नहीं' – ऐसा क्यों कहा?

उत्तर – क्योंकि अशुद्धनिश्चयनय से तो क्षायोपशमिक संकल्प-विकल्पों और सुख-दुःखादि का कर्त्ता आत्मा को कहा ही जाता है। अतः 'शुद्धनिश्चयनय से' – यह कहना ठीक ही है।

प्रश्न – अभी-अभी तो कहा था कि निश्चयनय से जीव का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है?

उत्तर – निश्चयनय शब्द में निश्चयनय के सभी भेद समाहित हो जाते हैं; अतः ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि निश्चयनय के जिस भेद की जहां अपेक्षा होगी, निश्चयनय शब्द से वहां उसी भेद को लिया जा सकता है। अतः इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"शुभराग मेरा कार्य नहीं है, किन्तु उसको जाननेवाली ज्ञान की पर्याय मेरा कार्य है। – ऐसा मानता हुआ ज्ञानी साक्षीभाव से परिणमन करता है। ज्ञानी

को अपने त्रिकाली शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव हुआ है; इसकारण उस ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से राग को जानता है। बस! यही जानने का परिणाम ज्ञानी का कार्य है, राग उसका कार्य नहीं है।[१]

वीतरागी परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में आत्मा स्वयं व्याप्त होकर, उस वीतरागीदशा को ग्रहण करता है, स्वयं वीतरागीदशारूप परिणमित होता है और स्वयं उसरूप उत्पन्न होता है। आत्मा व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम को नहीं करता, बल्कि व्यवहार-रत्नत्रय का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान में ज्ञानी व्याप्त होता है। ज्ञानी का प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य कर्म ज्ञान है, राग नहीं।[२]

इस प्रकरण में तो आत्मा को पर से व राग से भिन्न तथा स्व (निर्मल पर्याय) से अभिन्न सिद्ध करना है। अतः द्रव्य और उसकी निर्मल पर्याय को यहां अभेद बताया है। कहा है न कि आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर अपने आत्म-परिणाम को करता है। अहा! जो निर्मल पर्याय हुई, वह आत्मा का कार्य है। आत्मा का ज्ञाता-दृष्टारूप जो निर्मल परिणाम हुआ, उसके आदि-मध्य-अन्त में आत्मा स्वयं व्याप्त होता है। उस निर्मल परिणाम को आत्मा स्वयं करता है। - यहां तो यह सिद्ध करना है।[३]

जब ज्ञानप्रधान शैली से कथन होता है, तब इन सुख-दुःखादि के परिणामों का भोक्ता जीव को कहा जाता है तथा राग-द्वेष, सुख-दुख की अवस्था जीव की है - ऐसा कथन आता है। जीव स्वयं उसरूप से परिणमन करता है और उसका कर्त्तापना जीव का है - ऐसा ज्ञाननय जानता है। इसप्रकार जहां जिस अपेक्षा से कथन हो, वहां उसी अपेक्षा से समझना चाहिए।[४]"

इसप्रकार इन गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया कि स्व-पर को जाननेवाला जीव भी पर का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है और स्व-पर को नहीं जाननेवाला पुद्गल भी पर का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। इसीप्रकार का भाव आगामी कलश में भी व्यक्त किया गया है, जो इसप्रकार है -

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ १५८
२. वही पृष्ठ १६०
३. वही पृष्ठ १७०
४. वही पृष्ठ १७९

(स्रग्धरा)

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलाश्चाप्यजानन् ।
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात् ॥
अज्ञानात्कर्त्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत् ।
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥

(सवैया इकतीसा)

निजपरपरिणति जानकार जीव यह,
परपरिणति को करता कभी नहीं ।
निजपरपरिणति अजानकार पुद्गल,
परपरिणति को करता कभी नहीं ॥
नित्य अत्यन्त भेद जीव-पुद्गल में,
करता-करमभाव उनमें बने नहीं ।
ऐसो भेदज्ञान जबतक प्रगटे नहीं
करता-करम की प्रवृत्ती मिटे नहीं ॥५०॥

ज्ञानी तो अपनी और पर की परिणति को जानता हुआ प्रवर्तता है तथा पुद्गल अपनी और पर की परिणति को न जानता हुआ प्रवर्तता है। इसप्रकार उन दोनों में परस्पर अत्यन्त भेद होने से वे दोनों परस्पर अंतरंग में व्याप्य-व्यापकभाव को प्राप्त होने में अत्यन्त असमर्थ हैं। 'जीव और पुद्गल के परस्पर कर्त्ता-कर्मभाव हैं' – ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञान के कारण तबतक ही भासित होती है, जबतक कि भेदज्ञानज्योति करवत की भांति निर्दयता से तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि स्व-पर को जाननेवाला ज्ञानी जीव और स्व-पर नहीं जाननेवाला पुद्गल दोनों ही अपने-अपने परिणामों में प्रवर्तित होते हैं; अपनी-अपनी परिणति के कर्त्ता-धर्त्ता हैं; उनमें परस्पर सदा ही रहने वाला अत्यन्त भेद है। इसकारण उनमें व्याप्य-व्यापकभाव का किसी भी रूप में बनना संभव नहीं है; अतः उनमें परस्पर कर्त्ताकर्मभाव भी नहीं बन सकता, तो भी अज्ञानीजीव अपने अज्ञान के कारण उनमें कर्त्ता-कर्मभाव मानते हैं। पर उनका यह अज्ञान तबतक ही रह सकता है, जबतक भेदज्ञानज्योति प्रगट नहीं होती। भेदज्ञानज्योति प्रगट होने पर उक्त अज्ञान का एक समय भी रहना संभव नहीं है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है –

(छप्पय)

जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन-ज्ञायक ।
आपा परगुन लखै, नांहि पुग्गल इहि लायक ॥
जीव दरब चिद्रूप सहज, पुद्गल अचेत जड़ ।
जीव अमूरति मूरतीक, पुद्गल अंतर बड़ ॥
जब लग न होइ अनुभौ प्रगट, तबलग मिथ्यामति लसै ।
करतार जीव जड़ करमकौ, सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै ॥

उक्त छन्द छप्पय छन्द है, जो रोला और उल्लाला से मिलकर बनता है। अत: इसकी आरंभिक चार पंक्तियां रोला छन्द में हैं और अन्त की दो पंक्तियां उल्लाला छन्द में हैं। इसका भाव इसप्रकार है –

जीव ज्ञानगुण से युक्त है; इसलिए वह अपने और अन्य द्रव्यों के गुणों को जाननेवाला है, उनका ज्ञाता है। अपने और परके गुणों को जाने – ऐसी योग्यता पुद्गल में नहीं है। जीव सहज ही चैतन्यरूप है और पुद्गल अचेतन है, जड़ है; जीव अमूर्तिक है और पुद्गल मूर्तिक है; – इसप्रकार इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। जबतक आत्मा के अनुभवपूर्वक इन दोनों में भेदविज्ञान नहीं होता है, इन्हें भिन्न-भिन्न नहीं जाना जाता है; तबतक मिथ्याबुद्धि रहती है, मिथ्यात्व रहता है, अज्ञान रहता है और उसके फलस्वरूप जीव अपने को जड़कर्मों का कर्त्ता मानता रहता है, परमें कर्तृत्व बुद्धि का भ्रम बना रहता है; किन्तु जब सुबुद्धि का विकास होता है, आत्मानुभव होता है, भेदविज्ञान का प्रकाश होता है; तब यह भ्रम नष्ट हो जाता है, कर्तृत्वबुद्धि का अभाव होकर सहज ज्ञाता-दृष्टा भाव प्रगट हो जाता है।

इसप्रकार ७६ से ७९वीं गाथा में तथा ५०वें कलश में यह कहा गया है कि आत्मा और पुद्गल में परस्पर कर्त्ताकर्मभाव नहीं है। •

समयसार गाथा ८० से ८२

विगत गाथाओं में अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा और पुद्गल में परस्पर कर्त्ताकर्मभाव नहीं है। न तो आत्मा पौद्गलिकभावों का कर्त्ता है और न पुद्गल आत्मीयभावों का। उसी बात को दृढ़ता प्रदान करने के लिए अब आगामी गाथाओं में यह बताते हैं कि जीव और पुद्गल के परिणामों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव होने पर भी कर्त्ताकर्मभाव नहीं है।

मूल गाथायें इसप्रकार हैं –

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८०॥

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णंपि ॥८१॥

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

जीव के परिणाम से जड़कर्म पुद्गल परिणमे।
पुद्गलकरम के निमित्त से यह आत्मा भी परिणमे ॥८०॥

आतम करे ना कर्मगुण ना कर्म आतमगुण करे।
पर परस्पर परिणमन में दोनों परस्पर निमित्त हैं ॥८१॥

बस इसलिए यह आतमा निजभाव का कर्त्ता कहा।
अन्य सब पुद्गलकरमकृत भाव का कर्त्ता नहीं ॥८२॥

जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल (कार्माण वर्गणाएं) कर्मरूपे परिणमित होते हैं तथा जीव भी पौद्गलिककर्मों के निमित्त से परिणमन करता है।

यद्यपि जीव कर्म के गुणों को नहीं करता और कर्म जीव के गुणों को नहीं करता; तथापि परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम होते हैं - ऐसा जानो।

इसकारण आत्मा अपने भावों का कर्त्ता है, परन्तु पौद्गलिककर्मों के द्वारा किये गये समस्त भावों का कर्त्ता नहीं है।

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर मात्र निमित्त-नैमित्तिकपना है; तो भी परस्पर कर्त्ताकर्मभाव नहीं है। पर के निमित्त से जो अपने भाव हुए, उनका कर्त्ता तो जीव को अज्ञान दशा में कदाचित् कह भी सकते हैं; परन्तु जीव परभाव का कर्त्ता कदापि नहीं है।"

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जीव के परिणामों को निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं। - इसप्रकार जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्गल में परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से जीव को पुद्गलपरिणामों के साथ और पुद्गलकर्म को जीवपरिणामों के साथ कर्त्ताकर्मपने की असिद्धि होने से मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध न होने से, परस्पर निमित्तमात्र से ही दोनों के परिणाम होते हैं।

इसलिए जिसप्रकार मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है, उसीप्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाने के कारण जीव अपने भाव का कर्त्ता कदाचित् होता है; किन्तु जिसप्रकार मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार अपने भाव से परभाव का किया जाना अशक्य होने से जीव पुद्गलभावों का कर्त्ता तो कदापि नहीं हो सकता - यह निश्चय है।"

उक्त गाथाओं का जो भाव आत्मख्याति में स्पष्ट किया है, उसी को आचार्य जयसेन उपादान-निमित्त और नयविभाग से अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

'जीव के परिणामों को निमित्त करके पुद्गल परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके जीव परिणमित होते हैं' – ८०वीं गाथा में समागत उक्त कथन का आशय आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार कुम्हार के निमित्त से मिट्टी घड़े के रूप में परिणमित होती है; उसीप्रकार जीवसंबंधी मिथ्यात्व व रागादिपरिणामों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य कर्मरूप में परिणमित होता है।

इसीप्रकार जिसप्रकार घट का निमित्त पाकर कुम्हार 'मैं घड़े को बनाता हूँ' – इसप्रकार के भावरूप परिणमन करता है; उसीप्रकार उदय में आये हुए द्रव्यकर्मों का निमित्त पाकर जीव निर्विकार चिच्चमत्कार परिणति को प्राप्त नहीं होता हुआ – मिथ्यात्व और रागादिरूप, विभावरूप परिणमन करता है।''

८१ एवं ८२वीं गाथा में समागत भाव को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं –

''यद्यपि परस्पर एक दूसरे के निमित्त से इन दोनों का परिणमन होता है; तथापि निश्चय से जीव वर्णादि पुद्गलकर्मगुणों को नहीं करता और कर्म भी अनन्त ज्ञानादि जीवगुणों को नहीं करता। यद्यपि उपादानरूप से वे दोनों एक दूसरे के गुणों को नहीं करते; तथापि कुम्हार और घड़े की भांति परस्पर निमित्त से उनके परिणाम होते हैं – ऐसा जानो।

इसप्रकार यह आत्मा निर्मल आत्मानुभूतिरूप शुद्धउपादानकारण से अव्याबाध अनन्तसुखादिभावों का कर्त्ता होता है और निर्मल-अनुभूति से विरुद्ध अशुद्धउपादानकारण से रागादिभावों का कर्त्ता होता है; किन्तु ज्ञानावरणादि पौद्गलिककर्मों का कर्त्ता यह आत्मा नहीं है।''

आत्मख्याति में 'अपने रागादि भावों का कर्त्ता कदाचित् होता है' – कहकर जिस अपेक्षा को अनुक्त रखा था; उसी अपेक्षा को आचार्य जयसेन ने खोल दिया है।

इसप्रकार आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति – दोनों का सारांश यह है कि आत्मा शुद्धनिश्चयनय से अपने शुद्धभावों का शुद्ध-उपादान कर्त्ता है और

अशुद्धनिश्चयनय से अपने मिथ्यात्वादि अशुद्धभावों का अशुद्ध-उपादानकर्त्ता है; किन्तु परपदार्थों का कर्त्ता तो कदापि नहीं है। इतना होने पर भी जीव और पुद्गल एक दूसरे का निमित्त पाकर स्वयं अपनी योग्यता से विकारीभावरूप परिणमित होते हैं। - ऐसा होने पर भी उनमें कर्त्ताकर्मभाव कदापि नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि विगत गाथाओं में तो आचार्यदेव यह समझाते आ रहे थे कि आत्मा रागादिभावों के जाननेरूप ज्ञान का कर्त्ता होने पर भी रागादिभावों का कर्त्ता नहीं है; क्योंकि वे पुद्गल हैं, पुद्गल के परिणाम हैं; और अब यहां यह कह रहे हैं कि अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा उन रागादिभावों का कर्त्ता है; क्योंकि वे आत्मा के, स्वयं के अशुद्धभाव हैं।

'स्वयं का परिणाम स्वयं के द्वारा ही किया जाता है' - इस नियम के अनुसार वहां '**सगपरिणामं** - स्वयं के परिणाम' की चर्चा करते हुए स्व-पर को जाननेवाले स्वयं के ज्ञानभाव को स्वयं का परिणाम कहकर, उसका कर्त्ता आत्मा को कहा था और रागादिविभावभावों को पुद्गल का परिणाम कहकर उनके कर्तृत्व का निषेध किया था; किन्तु यहाँ रागादिभावों को स्वयं का परिणाम कहकर उसी नियम के अनुसार रागादि का कर्त्ता आत्मा को कहा जा रहा है। - यह अंतर क्यों है?

इस शंका का समाधान स्वामीजी इसप्रकार करते हैं -

"पिछली ७५ से ७९ गाथाओं में भेदज्ञान की अपेक्षा कथन था, अत: वहाँ जीव के परिणाम का अर्थ निर्मल वीतरागी परिणाम किया गया था, जबकि यहाँ अज्ञानी की अपेक्षा बात है; अत: यहाँ परिणाम का अर्थ विकारी परिणाम है।

पहले 'अपने परिणाम को जानता हुआ आत्मा' - ऐसा जो कहा था - उस कथन में जीव के निर्मल वीतरागी परिणाम की बात थी; तथा 'पुद्गल पर के परिणाम को नहीं जानता है' - ऐसा जो कहा था, उसमें भी 'पर के परिणाम' अर्थात् जीव के निर्मल वीतरागी परिणाम की बात थी।

यहाँ अज्ञानी की बात है अर्थात् मिथ्यात्व व राग-द्वेष के परिणाम को यहाँ जीव का परिणाम कहा है तथा जड़-कर्म की दशा को पुद्गल-परिणाम कहा

है। उन दोनों के परस्पर निमित्तपना मात्र है अर्थात् जीव के विकारी परिणामों में पुद्गलकर्म के परिणामों का निमित्त है तथा पुद्गलकर्म का उदय जीव के राग-द्वेष परिणाम का निमित्त है, तथापि इन दोनों के कर्त्ता-कर्मपना नहीं है।[१]

अज्ञानदशा में जीव मिथ्यात्व व राग-द्वेष का कर्त्ता है, परन्तु परभाव का कर्त्ता तो कदापि नहीं है। कर्म को बाँधे तो कर्म की पर्याय ही बाँधे और छोड़े तो कर्म की पर्याय ही कर्म को छोड़े, आत्मा उसके बाँधने अथवा छोड़ने की क्रिया का कर्त्ता नहीं है। जीव देह की अवस्था को करे – ऐसा भी कभी नहीं बनता। जीव अज्ञानवश 'शरीर को ऐसा चलाऊँ' – ऐसे राग को करता है और इसकारण वह राग का कर्त्ता तो है, परन्तु देह की अवस्था का कर्त्ता त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। भाई! यह बात बड़े धैर्य व शान्ति से समझने की है।[२]"

यह आत्मा अनादिकाल से ही पर के कर्तृत्वादि की मान्यता से इसप्रकार ग्रस्त है कि अनेक युक्तियों और आगम के आधार पर बारम्बार समझाये जाने पर भी मिथ्यात्व के जोर से इसकी यह कर्त्तापने की बुद्धि टूटती नहीं है, छूटती नहीं है।

जबतक यह आत्मा आभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के द्वारा, 'मैं पर का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ' – ऐसे निरन्तर चिन्तन के द्वारा उक्त कर्तृत्वबुद्धि को क्षीण नहीं करेगा; तबतक वह अनादिकालीन मिथ्या मान्यता छूटनेवाली नहीं है, टूटने वाली नहीं है।

यही कारण है कि आचार्यदेव उक्त मिथ्या मान्यता पर बारंबार तीव्र प्रहार करते हैं और वस्तु के पारमार्थिक सत्य को हम सबके गले उतारना चाहते हैं।

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण का एक यही तात्पर्य है कि आत्मा परभावों का कर्त्ता नहीं है। यही कारण है कि आगामी गाथा में निष्कर्ष के रूप में आचार्यदेव यह कहते हैं कि निश्चयनय से यह आत्मा अपने ही विकारी-अविकारी भावों का कर्त्ता-भोक्ता है। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ २०८
२. वही पृष्ठ २२१

समयसार गाथा ८३

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

हे भव्यजन ! तुम जान लो परमार्थ से यह आतमा ।
निजभाव को करता तथा निजभाव को ही भोगता ॥ ८३॥

निश्चयनय का ऐसा कहना है कि यह आत्मा अपने को ही करता है और अपने को ही भोगता है – हे शिष्य! ऐसा तू जान।

इस गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि जिसप्रकार यह आत्मा निश्चय से स्वयं का ही कर्त्ता है; उसीप्रकार यह भोक्ता भी स्वयं का ही है। यह आत्मा न तो पर का कर्त्ता ही है और न भोक्ता ही।

विगत अनेक गाथाओं में जो बात अनेक युक्तियों से आत्मा के कर्तृत्व के बारे में समझाई गई है; इस निष्कर्ष की गाथा में यह कहा जा रहा है कि वे सभी युक्तियाँ आत्मा के भोक्तृत्व के संबंध में भी घटित कर लेना। संपूर्ण कथन का निष्कर्ष जो इस गाथा में प्रस्तुत किया गया है, वह मात्र इतना ही है कि यह आत्मा निश्चय से अपने विकारी-अविकारी परिणामों का कर्त्ता-भोक्ता है, पर का कर्त्ता-भोक्ता नहीं। ध्यान रहे इस गाथा में आत्मा को स्वयं के विकारी और अविकारी – दोनों ही भावों का कर्त्ता-भोक्ता कहा जा रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार समुद्र की उत्तरंग (तरंगोंवाली) और निस्तरंग (तरंगों से रहित – शांत) अवस्थाओं में क्रमशः वायु का चलना और न चलना निमित्त होने पर भी वायु और समुद्र में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से उनमें कर्त्ताकर्मभाव की असिद्धि है; इसकारण समुद्र स्वयं ही अन्तर्व्यापक

होकर – उत्तरंग अथवा निस्तरंग अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग रूप अपने को करता हुआ; केवल स्वयं को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।

जिसप्रकार वही समुद्र भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य होने से, स्वयं को उत्तरंग और निस्तरंग रूप अनुभव करता हुआ; केवल स्वयं को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।

उसीप्रकार जीव की संसार और नि:संसार (मुक्त) अवस्थाओं में क्रमश: पुद्गलकर्म के विपाक (उदय) का होना और नहीं होना निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीव में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्त्ताकर्मपने की असिद्धि है; इसकारण जीव स्वयं अन्तर्व्यापक होकर – संसार अथवा नि:संसार अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, संसार और असंसार रूप अपने को करता हुआ; केवल स्वयं को ही करता प्रतिभासित हो, अन्य को करता हुआ प्रतिभासित न हो।

इसीप्रकार वही जीव भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य होने से, स्वयं को संसाररहित और संसारसहित अनुभव करता हुआ; केवल स्वयं को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो, अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो।''

उक्त कथन में यह बताया गया है कि जिसप्रकार समुद्र की तरंगित और निस्तरंग अवस्थाओं में वायु के चलने और नहीं चलने की निमित्तता को स्वीकार करते हुए भी उनमें परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव एवं भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण उन्हें उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं माना जाता; अपितु व्याप्य-व्यापकभाव और भाव्य-भावकभाव के सद्भाव के कारण समुद्र को ही उसकी दोनों अवस्थाओं का कर्त्ता-भोक्ता कहा जाता है।

ठीक उसीप्रकार आत्मा की विकारी और निर्विकारी अवस्थाओं में पुद्गलकर्म के उदय और अनुदय की निमित्तता होने पर भी उनमें परस्पर

व्याप्य-व्यापकभाव और भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण आत्मा की विकारी और निर्विकारी अवस्थाओं का कर्त्ता-भोक्ता कर्म के उदय-अनुदय को नहीं कहा जा सकता; अपितु व्याप्य-व्यापकभाव और भाव्य-भावकभाव के सद्भाव के कारण आत्मा को ही उसकी विकारी और अविकारी दोनों अवस्थाओं का कर्त्ता-भोक्ता क्यों न कहा जाए?

तात्पर्य यह है कि निश्चय से आत्मा ही अपनी विकारी और निर्विकारी अवस्थाओं का कर्त्ता-भोक्ता है।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में भी इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया है; जो इसप्रकार है –

"जिसप्रकार समुद्र में तरंगें उत्पन्न होने में पवन निमित्त है; तथापि निश्चयनय से समुद्र ही तरंगों को उत्पन्न करता है, तरंगों रूप परिणमित होता है। इसीप्रकार द्रव्यकर्म के उदय का सद्भाव अशुद्धभावों एवं असद्भाव शुद्धभावों की उत्पत्ति में निमित्त है; तथापि निश्चयनय से जब आत्मा स्वयं ही उपादान रूप से निर्विकार परमस्वसंवेदनज्ञानरूप परिणमित होता है, तब केवल ज्ञानादि शुद्धभावों को उत्पन्न करता है और जब अशुद्धरूप से परिणमित होता है, तब सांसारिक सुख-दु:खादि अशुद्धभावों को करता है। यह अपने शुद्धाशुद्धभावों का न केवल कर्त्ता ही है, अपितु भोक्ता भी है।"

आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति के उक्त कथनों में कोई विशेष अंतर नहीं है। उदाहरण में थोड़ा सा अन्तर है। तात्पर्यवृत्ति में समुद्र की तरंगित अवस्था को ही उदाहरण के रूप में लिया गया है, जबकि आत्मख्याति में तरंगित और निस्तरंग – दोनों अवस्थाओं को लिया है; तथापि सिद्धान्त में तो दोनों ही टीकाओं में आत्मा की विकारी और अविकारी पर्यायों को ले लिया है।

इसप्रकार इस गाथा में आत्मा को निश्चय से स्वयं की विकारी और अविकारी पर्यायों का कर्त्ता-भोक्ता कहा जा रहा है।

प्रश्न – कहीं-कहीं तो ऐसा भी आता है कि आत्मा अपनी निर्मल पर्यायों का भी कर्त्ता नहीं है और आप यहाँ आत्मा को विकारी पर्यायों का भी कर्त्ता-भोक्ता बता रहे हैं।

उत्तर – वस्तुत: बात यह है कि जिनागम में प्रयोजन विशेष से विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं से विभिन्न कथन आते हैं। उन सभी को सही परिप्रेक्ष्य में समझने से सबकुछ सहज ही स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए तो यह कहा गया है कि जिनागम के कथनों को नयविभाग से समझना चाहिए। यदि हम नयविभाग से नहीं समझेंगे तो सर्वत्र ही इसप्रकार के प्रश्न खड़े होंगे। इसी समयसार में यथास्थान आत्मा को किसी अपेक्षा पूर्ण अकर्त्ता कहा जायगा, किसी अपेक्षा निर्मल परिणमन का कर्त्ता कहा जायगा, किसी अपेक्षा रागादि विकारीभावों का कर्त्ता भी कहा जाएगा; अधिक क्या कहें – किसी अपेक्षा परभावों का कर्त्ता भी कहा जायगा; क्योंकि यह आत्मा असत्भूतव्यवहारनय से परभावों का कर्त्ता, सद्भूतव्यवहारनय या अशुद्धनिश्चयनय से रागादिविकारीभावों का कर्त्ता, एकदेशशुद्धनिश्चयनय या शुद्धनिश्चयनय से वीतरागी निर्मल परिणामों का कर्त्ता और परमशुद्धनिश्चयनय से पूर्णत: अकर्त्ता है।

यद्यपि उक्त सम्पूर्ण कथन किसी न किसी विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि करनेवाले होने से सार्थक ही होते हैं; तथापि इस ग्रन्थ में यथास्थान उनकी सत्यार्थता और असत्यार्थता पर भी प्रकाश डाला जाएगा। अत: इन सब बातों को समझने के लिए न केवल असीम धैर्य की आवश्यकता है, अपितु नयविभाग के गहरे अध्ययन की भी आवश्यकता है, गुरुगम की भी आवश्यकता है।

अरे भाई! विषय-कषाय की प्रवृत्तियों से थोड़ा समय निकालकर, संसार का जंजाल थोड़ा कम करके; समर्पणभाव से इस परमागम में गहरे गोते लगाओ तो कुछ हाथ लगेगा, किनारे पर बैठे-बैठे विहंगावलोकन करने से काम नहीं चलेगा। कबीर ने ठीक ही कहा है –

"जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ ।
मैं बोरी डूबन डरी रही किनारे बैठ ॥"

प्रश्न – आपने नयविभाग को गहराई से समझने की बात कही – यह तो ठीक, पर अभी तो आप यह बता ही दीजिए न कि यहाँ क्या अपेक्षा है?

उत्तर – यहाँ दो द्रव्यों के बीच भेदज्ञान कराना अभीष्ट है। यहाँ यह बताना है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, अपितु प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों का ही कर्त्ता-भोक्ता है।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"बन्धमार्ग व मोक्षमार्ग – दोनों का कर्त्ता स्वतंत्ररूप से आत्मा स्वयं ही है।

देखो! इस गाथा में यह वाक्य आया है कि **'अप्पाणमेव हि करेदि'** अर्थात् अपनी विकारी व निर्विकारी पर्याय का कर्त्ता आत्मा स्वयं ही है। कहीं-कहीं ऐसा भी कथन आता है कि 'आत्मा मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय का कर्त्ता भी नहीं है।' उस कथन का प्रयोजन आत्मा के अकर्त्तास्वभाव को सिद्ध करना है और यहाँ तो आत्मा के कर्त्तास्वभाव की चर्चा है। आत्मा परद्रव्य एवं उसकी पर्यायों का कर्त्ता नहीं है और परद्रव्य भी कर्त्ता बनकर आत्मा का कार्य नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का कर्त्ता तो है ही, अज्ञानावस्था में विभाव का कर्त्ता भी आत्मा स्वयं ही है; इसलिए मोक्षमार्ग की स्वभावपर्याय व राग की विकारीपर्याय का कर्त्ता जीव स्वयं है, कर्म नहीं।

भाई! भगवान ने यह तेरी स्वतंत्रता का ढिंढोरा पीटा है; इसलिए विकार कर्म से होता है या कर्मबन्ध रागादि विकार के कारण होता है – यह विपरीत मान्यता छोड़ दे; क्योंकि विपरीत मान्यता का फल अनन्त संसार है।[१]

जहाँ द्रव्य व पर्याय के परस्पर अकर्तृत्व की बात हो, वहाँ तो मिथ्यात्व व सम्यक्त्व – इन दोनों पर्यायों का कर्त्ता आत्मद्रव्य नहीं है, यह बात आती है; परन्तु यहाँ तो अपनी पर्याय का कर्त्ता अपना द्रव्य स्वयं है, परद्रव्य नहीं – यह सिद्ध करना है।

प्रश्न – तो हम दोनों बातों में से कौनसी बात सच मानें?

उत्तर – भाई! दोनों ही बातें अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हैं। एक बार सुन तो सही। विकार का कर्त्ता परद्रव्य को मानकर जो स्वच्छन्दी होता है, उसकी वह मान्यता छुड़ाने के लिए विकार का कर्त्ता आत्मा है – ऐसा कहा

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ २२६

है। तथा जब विकार व द्रव्यस्वभाव के बीच भेदज्ञान कराने की बात हो तो यह कहा जाता है कि विकार का कर्त्ता आत्मद्रव्य नहीं है, बल्कि पर्याय स्वयं अपनी तत्समय की योग्यता से स्वतंत्रपने होती है। दोनों का तात्पर्य एक वीतरागता ही है।[१]"

जैनतत्त्वज्ञान की बारीकियों से अपरिचित अनेक स्वाध्यायी भी यह मानते हैं कि आत्मा में जो मोह-राग-द्वेष के विकारी भाव होते हैं; उन सब का एक मात्र कारण कर्म का उदय है और कर्मों का नाश करने से ही इन मोह-राग-द्वेष भावों का अभाव होगा, वीतराग भाव की उत्पत्ति होगी। इसकारण उनकी दृष्टि सदा कर्मों पर ही बनी रहती है, वे कर्मों के नाश की बात ही सोचते रहते हैं; किन्तु अपनी विकारी और अविकारी पर्यायों का कारण पर को मानना तो एकप्रकार से एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता मानना है, जो कदापि उचित नहीं है।

जिनागम में जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता कहा गया है; वह तो मात्र असद्भूत व्यवहारनय का कथन है, जिसकी समीक्षा आगामी गाथाओं में यथास्थान की जायेगी। निश्चय से तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता हो ही नहीं सकता है; इसलिए यहाँ जोर देकर कहा जा रहा है कि प्रत्येक आत्मा अपनी विकारी और अविकारी पर्यायों का कर्त्ता-भोक्ता स्वयं ही है। स्वयं को भूलकर और पर को ही निज मानकर, उसका कर्त्ता-धर्त्ता बनकर यह आत्मा अनादि से अनन्त दु:ख उठा रहा है। उसके अनन्त दु:खों का कारण उसकी यह विपरीत मान्यता एवं तदनुसार वर्तन-प्रवर्तन ही है।

यदि यह आत्मा एक बार स्वयं को जानकर, स्वयं में ही अपनापन स्थापित करे, उसको ही अपना सर्वस्व समर्पण करे, उसका ही ध्यान धरे तो अन्तर्मुहूर्त में अनन्तसुखी हो सकता है। इसलिए ही यहाँ यह समझाया जा रहा है कि प्रत्येक आत्मा स्वयं की विकारी-अविकारी पर्यायों का कर्त्ता-भोक्ता स्वयं ही है। अब आगामी गाथाओं में व्यवहार बताकर उसकी असत्यार्थता पर प्रकाश डालते हैं। •

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ २३१

समयसार गाथा ८४-८५

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥
जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं ॥८५॥

अनेक विध पुद्गल करम को करे भोगे आतमा ।
व्यवहारनय का कथन है यह जान लो भव्यात्मा ॥८४॥
पुद्गल करम को करे भोगे जगत में यदि आतमा ।
द्विक्रिया अव्यतिरिक्त हों सम्मत न जो जिनधर्म में ॥८५॥

व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों को करता है और उन्हीं अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों को भोगता है।

यदि आत्मा पुद्गलकर्म को करे और उसी को भोगे तो वह आत्मा अपनी और पुद्गलकर्म की दो क्रियाओं से अभिन्न ठहरे; जो कि जिनदेव को सम्मत नहीं है।

उक्त गाथाओं में ८४ वीं गाथा में असद्भूतव्यवहारनय का मत बताया गया है और ८५वीं गाथा में उसमें दोष दिखाया है। कहा गया है कि यदि व्यवहारनय के कथनानुसार आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्त्ता-भोक्ता माना जायगा तो द्विक्रियावादित्व का प्रसंग आयेगा। ऐसा मानना होगा कि आत्मा अपनी क्रिया भी करे और कर्म की क्रिया भी करे; जो कि जिनेनन्द्र भगवान को स्वीकार नहीं है।

देखो, यहाँ आचार्यदेव व्यवहार की बात भी बताते हैं। ऐसा नहीं है कि समयसार में अकेले निश्चय की ही बात है, उसमें तो व्यवहार की बात भी है; पर निश्चय की बात के साथ उसकी सत्यार्थता का प्रतिपादन है और

व्यवहार की बात के साथ उसकी यथायोग्य सत्यार्थता और असत्यार्थता – दोनों का प्रतिपादन है। यही कारण है कि समयसार को निश्चय का ग्रन्थ कहा जाता है। यहाँ व्यवहार बताकर उसकी असत्यार्थता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''यद्यपि अन्तर में व्याप्य-व्यापकभाव से मिट्टी ही घड़े को करती है और भाव्य-भावकभाव से मिट्टी ही घड़े को भोगती है; तथापि बाह्य में व्याप्य-व्यापकभाव से घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल ऐसे व्यापार को करता हुआ कुम्हार घड़े का कर्त्ता है और घड़े के पानी के उपयोग से तृप्ति को भाव्य-भावकभाव से अनुभव करता हुआ वही कुम्हार घड़े का भोक्ता है; – ऐसा लोगों का अनादि से रूढ़ व्यवहार है।

इसीप्रकार यद्यपि अन्तर में व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलद्रव्य ही पौद्गलिक कर्मों को करता है और भाव्य-भावकभाव से पुद्गलद्रव्य ही पौद्गलिक कर्मों को भोगता है; तथापि बाह्य में व्याप्य-व्यापकभाव से अज्ञान के कारण पुद्गलकर्म के होने में अनुकूल अपने रागादि परिणामों को करता हुआ जीव पुद्गलकर्म को करता है और पुद्गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई विषयों की निकटता से उत्पन्न अपनी सुख-दुखरूप परिणति को भाव्य-भावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ जीव पुद्गलकर्म को भोगता है। – इसप्रकार अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है।''

देखो, यहाँ यह कहा जा रहा है कि जिसप्रकार कुम्हार को घड़े का कर्त्ता और भोक्ता कहना वास्तविकता न होकर अनादि का रूढ़ व्यवहार है; उसीप्रकार आत्मा को पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता कहना भी अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है। ध्यान देने की बात यह है कि इसे ज्ञानियों का नहीं, अज्ञानियों का व्यवहार बताया गया है। भले ही ज्ञानी भी प्रयोजन विशेष से इसप्रकार के व्यवहार में प्रवर्तित होते हों, इसप्रकार की भाषा

का उपयोग करते हों; तथापि वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि निश्चय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है; इसकारण वे अज्ञान दशा को प्राप्त न होकर ज्ञानी ही रहते हैं।

उक्त टीका तो ८४ वीं गाथा की है। ८५वीं गाथा में उक्त व्यवहार की जो असत्यार्थता बताई गई है; उसे आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"इस जगत में जो भी क्रिया है, वह परिणामस्वरूप होने से परिणाम से भिन्न नहीं है, परिणाम ही है; और परिणाम व परिणामी एक होने से, परिणाम भी परिणामी से भिन्न नहीं है। अत: यह सिद्ध ही है कि जो कुछ भी क्रिया है, वह क्रियावान द्रव्य से भिन्न नहीं है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप से क्रिया और कर्त्ता की अभिन्नता सदा ही प्रकट होने से जिसप्रकार जीव व्याप्य-व्यापकभाव से अपने परिणामों को करता है और भाव्य-भावकभाव से उन्हें ही भोगता है; उसप्रकार यदि जीव व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्य-भावकभाव से पुद्गलकर्म को भी भोगे तो उस जीव को अपनी और पर की – दोनों की क्रियाओं से अभिन्न मानना होगा। ऐसी स्थिति में स्व-पर का विभाग ही अस्त हो जाने से अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा का निजरूप अनुभव करता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि हो जायगा, इसकारण सर्वज्ञ के मत से भी बाहर हो जायगा।"

वीतरागी-सर्वज्ञ अरहंत के मत में तो यह कहा गया है कि परिणतिरूप क्रिया, परिणामरूप कर्म और परिणामीद्रव्य कर्त्ता – ये तीनों एक ही हैं; इसलिए प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी परिणतिरूप क्रिया का ही कर्त्ता-भोक्ता होता है, अन्य किसी द्रव्य की क्रिया का कर्त्ता-भोक्ता नहीं।

यदि हम स्वयं को अपनी परिणति के साथ-साथ ज्ञानावरणादि पौद्गलिककर्मों की परिणति का भी कर्त्ता-भोक्ता मानेंगे तो सर्वज्ञ के मत के बाहर हो जावेंगे, सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले होंगे, सर्वज्ञभगवान के विरोधी सिद्ध होंगे।

अरे भाई! भगवान का भक्त बनने के लिए उनकी आज्ञा का पालन आवश्यक है, उनके बताये तत्त्वज्ञान को स्वीकार करना आवश्यक है; अकेली

पूजा-भक्ति से काम नहीं चलेगा। उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए, उनके बताये तत्त्वज्ञान को स्वीकार करने के लिए जिनवाणी का गहराई से अध्ययन करना होगा; क्योंकि इस विषमकाल में नित्यबोधक जिनवाणी ही परमशरण है।

इन गाथाओं का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन भी आत्मख्याति का ही अनुशरण करते हैं। वे तो यहाँ तक लिखते हैं कि आत्मा को ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता मानना शुद्धात्मा की उपलब्धि से प्राप्त होनेवाले सुखामृत रसास्वाद से रहित अज्ञानियों का रूढ़ व्यवहार है।

देखो, यहाँ द्विक्रियावादी को सर्वज्ञ के मत के बाहर कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जो ऐसा मानते हैं कि हम अपना काम तो करते ही हैं, पर का काम भी करते हैं; वे सभी द्विक्रियावादी होने से सर्वज्ञ के मत के बाहर हैं। •

दोनों नयों के ग्रहण करने का अर्थ

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको व उनके भावोंको व कारणकार्यादिकको किसीको किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है। इसलिये उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हींको यथावत् निरूपण करता है, किसीको किसी में नहीं मिलाता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना।

यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

समाधान :- जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसे ही है" – ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे "ऐसे है नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है" – ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर "ऐसे भी है, ऐसे भी है" – इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है। **– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५१**

समयसार गाथा ८६

८५वीं गाथा में द्विक्रियावादी को मिथ्यादृष्टि बताया गया है। अतः अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि क्यों है?

इस प्रश्न के उत्तर में ही ८६वीं गाथा का जन्म हुआ है; जो इसप्रकार है –

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

यदि आतमा जड़भाव चेतनभाव दोनों को करे ।
तो आतमा द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि अवतरे ॥८६॥

क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा के भाव और पुद्गल के भाव –दोनों को आत्मा करता है; इसलिए वे द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।

इस गाथा में द्विक्रियावादी को परिभाषित किया गया है।

आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को भी घड़े और कुम्हार के उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया गया है; जो इसप्रकार है –

''आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को स्वयं आत्मा करता है – ऐसा माननेवाले द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं; किन्तु एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये गये प्रतिभासित नहीं होते। जिसप्रकार कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल अपने परिणाम (इच्छारूप और हस्तादि की क्रियारूप व्यापार) को करता हुआ प्रतिभासित होता है; क्योंकि वह परिणाम कुम्हार से अभिन्न है और प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम को करता ही है; किन्तु घड़ा बनाने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी वह कुम्हार अपने व्यापार (परिणाम) के अनुरूप मिट्टी के घटपरिणाम को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; क्योंकि वह घटरूप परिणाम मिट्टी से अभिन्न है और मिट्टी द्वारा ही किया जाता है।

इसीप्रकार आत्मा भी अज्ञान के कारण पुद्गलकर्मरूप परिणाम के अनुकूल अपने परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो; क्योंकि वह परिणाम आत्मा से अभिन्न है और प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम को करता है, किन्तु पुद्गल के परिणाम को करने के अहंकार से भरा हुआ प्रतिभासित न हो; क्योंकि वह पुद्गल का परिणाम पुद्गल से अभिन्न है और पुद्गल के द्वारा किया जाता है।''

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं –

''जिसप्रकार कुम्हार उपादानरूप से स्वकीयपरिणाम करता है; यदि उसीप्रकार उपादानरूप से ही घट को भी करे; तो उसे रूपी, अचेतन और घटरूप होना होगा अथवा घट को चेतन और कुम्हार होना होगा। इसीप्रकार यदि जीव भी उपादानरूप से पुद्गलकर्म को करे तो जीव को अचेतन-पुद्गल अथवा पुद्गल कर्म को चेतन-जीव होना होगा।''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि यदि जीव को निश्चयनय से पुद्गलकर्मों का कर्त्ता माने तो, या तो जीव को पुद्गल मानना होगा या फिर पुद्गल कर्मों को जीव मानना होगा; क्योंकि निश्चय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं होता। अतः यह सुनिश्चित ही है कि जीव अपने भावों को भी करता है और पौद्गलिक कर्मों को भी करता है – ऐसा मानने वाले द्विक्रियावादी हैं; इसकारण वे मिथ्यादृष्टि भी हैं।

८६वीं गाथा के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में एक गाथा प्राप्त होती है; जो आत्मख्याति में नहीं है। वह गाथा मूलतः इसप्रकार है –

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥

जिसप्रकार पुद्गल कर्म के निमित्त से अपने आत्मा में होनेवाले विकारीभावों का कर्त्ता आत्मा है; उसीप्रकार पुद्गल कर्म के निमित्त से होनेवाले विकारीभावों का भोक्ता भी यह आत्मा है।

इस गाथा में मात्र इतनी ही बात कही गई है कि जिसप्रकार आत्मा रागादिभावों का कर्त्ता है; उसीप्रकार वह उनका भोक्ता भी है; किन्तु पर का कर्त्ता-भोक्ता वह कदापि नहीं है।

इसप्रकार यह एक प्रकरण समाप्त होता है। इसलिए आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मख्याति में इस प्रकरण को समाप्त करते हुए ६ कलश (छन्द) लिखते हैं, जिनमें चार कलश इसप्रकार हैं –

(आर्या)

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥
एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥
नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

(हरिगीत)

कर्त्ता वही जो परिणमे परिणाम ही बस कर्म है ।
है परिणति ही क्रिया बस तीनों अभिन्न अखण्ड हैं ॥ ५१॥
अनेक होकर एक है हो परिणमित बस एक ही ।
परिणाम हो बस एक का हो परिणति बस एक की ॥५२॥
परिणाम दो का एक ना मिलकर नहीं दो परिणमें ।
परिणति दो की एक ना बस क्योंकि दोनों भिन्न हैं ॥५३॥
कर्त्ता नहीं दो एक के हों एक के दो कर्म ना ।
ना दो क्रियायें एक की हों क्योंकि एक अनेक ना ॥५४॥

जो परिणमित होता है, वह कर्त्ता है; परिणमित होनेवाले का जो परिणाम है, वह कर्म है और जो परिणति है, वह क्रिया है। ये तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।

वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं और एक की ही परिणति (क्रिया) होती है; क्योंकि अनेकरूप होने पर भी वस्तु एक ही है, भेद नहीं है।

दो द्रव्य एक होकर (मिलकर) परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का मिलकर एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की मिलकर एक परिणति (क्रिया) नहीं होती; क्योंकि जो अनेक (भिन्न-भिन्न) हैं, वे सदा अनेक ही रहते हैं, मिलकर एक नहीं हो जाते।

एक द्रव्य के दो कर्त्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म भी नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियायें भी नहीं होती; क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

उक्त कलशों में यही स्पष्ट किया गया है कि कर्त्ता, कर्म और क्रिया एक द्रव्य में ही होने से अभिन्न ही हैं। यद्यपि इनमें लक्षणभेद है; तथापि वस्तुभेद नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का मिलकर एक परिणाम भी नहीं होता और दो द्रव्यों की परिणति भी एक नहीं होती। जहाँ दो द्रव्यों का परिणमन भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, वहाँ तो भिन्नता है ही; परन्तु जहाँ स्थूल दृष्टि से देखने पर अभिन्नता दिखाई देती है, वहाँ भी भिन्नता ही है और सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वह भिन्नता स्पष्ट भी हो जाती है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि एक काम को दो द्रव्य मिलकर नहीं करते, दो द्रव्यों के काम को एक द्रव्य नहीं करता; प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने-अपने परिणाम और परिणति का कर्त्ता-धर्त्ता है।

उक्त कलशों का भावानुवाद कविवर पंडित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है-

(दोहा)

करता परिनामी दरव, करमरूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम॥

करता करम क्रिया करै, क्रिया करम करतार ।
नाम-भेद बहु विधि भयौ, वस्तु एक निरधार ॥
एक करम करतव्यता, करैं न करता दोई ।
दुधा दरव सत्ता सधी, एक भाव क्यौं होइ ॥

(सवैया इकतीसा)

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है ।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करैं,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है ॥
जीव पुद्गल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपने अपने रूप तैं कोउ न टरतु है ।
जड़ परनामनि कौ करता है पुद्गल,
चिदानन्द चेतन सुभाउ आचरतु है ॥

परिणमनशील द्रव्य कर्त्ता है, उसका परिणमन ही कर्म है और पर्याय का परिवर्तन ही क्रिया है; – इसप्रकार एक ही वस्तु के तीन नाम हैं।

कर्त्ता, क्रिया और कर्म को करता है; अत: वही उन दोनों का कर्त्ता है। इसप्रकार एक ही वस्तु नाममात्र के भेद से अनेकप्रकार की हो जाती है – ऐसा निश्चय करना चाहिए।

एक कर्म की क्रिया का कर्त्ता एक ही होता है, दो नहीं होते; ऐसी स्थिति में जब जीव और पुद्गल दो जुदी-जुदी सत्तायें हैं, तब दोनों एक रूप कैसे हो सकते हैं?

वस्तुत: बात यह है कि एक परिणाम (कर्म) के कर्त्ता दो द्रव्य नहीं होते और दो परिणामों (कर्मों) को एक द्रव्य नहीं करता। इसीप्रकार एक क्रिया को दो द्रव्य नहीं करते और दो क्रियायें एक द्रव्य नहीं करता। यद्यपि जीव और पुद्गल एकक्षेत्रावगाही हैं; तथापि वे दोनों ही अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि पौद्गलिक जड़ परिणामों का कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है और चैतन्य आत्मा चैतन्यभावों का कर्त्ता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि कर्त्ता, कर्म और क्रिया में वस्तुभेद नहीं है; क्योंकि तीनों एक ही वस्तु में होते हैं। एक क्रिया के कर्त्ता दो द्रव्य नहीं होते और विभिन्न द्रव्यों की दो क्रियाओं का कर्त्ता एक द्रव्य नहीं होता। इसकारण जीव पौद्गलिक क्रियाओं का और पुद्गल जीव की क्रियाओं का कर्त्ता नहीं हो सकता। जीव और पुद्गल पृथक्-पृथक् स्वतंत्र द्रव्य हैं। यद्यपि वे आकाश के एक क्षेत्र में एक साथ रहते हैं; तथापि वे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते; इसकारण यही परमार्थ सत्य है कि पौद्गलिक जड़कर्मों का कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है और चैतन्यभावों का कर्त्ता चेतन आत्मा है।

प्रश्न – कर्म और क्रिया में क्या अन्तर है? ये दोनों एक से ही लगते हैं; क्योंकि परिणमन को ही कर्म कहते हैं और क्रिया भी परिणमनरूप ही है।

उत्तर – अरे, यह तो व्याकरण की साधारण-सी बात है। कर्त्ता आदि कारकों में कर्म दूसरा कारक है, पर क्रिया कारकों में नहीं है; अपितु क्रिया के ही कारक होते हैं। अवस्था कर्म है और अवस्था से अवस्थान्तर होना क्रिया है; पर्याय कर्म है और पर्याय का पलटना क्रिया है।

कलश टीका के ५१वें कलश की टीका में इसे इसप्रकार समझाया है –

"मिट्टी घटरूप होती है, इसलिए वह कर्त्ता कहलाती है; उत्पन्न हुआ घट कर्म कहलाता है तथा मिट्टी का पिण्ड से घटरूप होना क्रिया कही जाती है।"

कलश टीका के ५४ वें कलश में समागत एक बात और भी ध्यान देने योग्य है, जो इसप्रकार है –

"यहाँ पर कोई मतान्तर निरूपण करेगा कि द्रव्य की अनन्त शक्तियाँ हैं, सो द्रव्य में एक शक्ति ऐसी भी होगी कि एक द्रव्य दो द्रव्यों के परिणाम को करे। जिसप्रकार जीवद्रव्य अपने अशुद्धचेतनारूप राग-द्वेष-मोह परिणाम को व्याप्य-व्यापकरूप करे, उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपिण्ड को व्याप्य-व्यापक रूप करे।

उत्तर इसप्रकार है कि द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ हैं; पर ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जिससे जिसप्रकार अपने गुण के साथ व्याप्य-व्यापकरूप है, उसीप्रकार परद्रव्य के गुण के साथ भी व्याप्य-व्यापकरूप होवे।''

उक्त चारों कलशों का ही नहीं, अपितु इस सम्पूर्ण प्रकरण के स्पष्टीकरण के लिए इन कलशों का अर्थ लिखते समय पंडित जयचंदजी छाबड़ा द्वारा लिखे गये भावार्थों को देख लेना आवश्यक है, जो इसप्रकार हैं –

''द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी का अभेद है और पर्यायदृष्टि से भेद है। भेददृष्टि से कर्त्ता, कर्म और क्रिया – यह तीन कहे गये हैं; किन्तु यहाँ अभेददृष्टि से परमार्थत: यह कहा गया है कि कर्त्ता, कर्म और क्रिया – तीनों ही एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थायें हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुयें नहीं हैं।

एक वस्तु की अनेक पर्यायें होती हैं, उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है। वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं; तथापि एक वस्तु ही है, भिन्न नहीं है; – ऐसा ही भेदाभेदस्वरूप वस्तु का स्वभाव है।

जो दो वस्तुयें हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेश भेदवाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होती, एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती – ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्वद्रव्यों का लोप हो जावे।''

सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष यही है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणामों और अपनी-अपनी परिणति का कर्त्ता-धर्त्ता स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं।

इसप्रकार इस प्रकरण को समाप्त करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आगामी कलश में यह भावना भाते हैं कि यह अनादिकालीन अज्ञान यदि एक वार नाश को प्राप्त हो जावे तो फिर इसका उदय ही न हो। कलश मूलत: इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीड़ित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै –
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ॥

तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत् ।
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

(हरिगीत)

'पर को करूं मैं' – यह अहं अत्यन्त ही दुर्वार है ।
यह है अखण्ड अनादि से जीवन हुआ दु स्वार है ॥
भूतार्थनय के ग्रहण से यदि प्रलय को यह प्राप्त हो ।
तो ज्ञान के घनपिण्ड आतम को कभी न बंध हो ॥५५॥

इस जगत के मोही जीवों का 'मैं पर का कर्त्ता हूँ' –इसप्रकार का पर के कर्तृत्वसंबंधी जो महा-अहंकार है, अत्यन्त दुर्निवार अनादिकालीन अहंकाररूप अज्ञानांधकार है; अहो! यदि वह भूतार्थनय (परमशुद्धनिश्चयनय) के विषयभूत निज भगवान आत्मा के ग्रहण से, अनुभव से एक बार प्रलय को प्राप्त हो जाय, जड़मूल से नाश हो जाय; तो फिर इस ज्ञान के घनपिण्ड आत्मा को बंध कैसे हो सकता है?

यह इस प्रकरण के उपसंहार का कलश है। अत: इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि असली समस्या पर में कर्तृत्वबुद्धि की है, पर के कर्तृत्व के अहंकार की है; क्योंकि इसी के कारण यह आत्मा अनादिकाल से संसार में भटक रहा है और अनन्त दु:ख उठा रहा है। इसका निवारण करना भी आसान नहीं है, अत्यन्त कठिन है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि अत्यन्त कठिन है, पर असंभव नहीं है; क्योंकि भूतकाल में अनन्त जीवों ने इसका निवारण किया है और वर्तमान में भी अनेक जीव कर रहे हैं और भविष्य में भी अनन्त जीव इसका निवारण करेंगे। इसके निवारण करने का उपाय भी निजभगवान आत्मा को जानना है, पहिचानना है, अनुभव करना है; उसी में अपनापन स्थापित करना है, उसी में जम जाना है, रम जाना है, समा जाना है।

यदि जीवन में एक बार भी यह काम कर लिया गया तो फिर दुबारा इस चक्कर में पड़ना नहीं होगा। यह कथन क्षायिकसम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेने की

अपेक्षा है; क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्व दशा को प्राप्त नहीं होता।

इस कलश का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"यहाँ तात्पर्य यह है कि अज्ञान तो अनादि से ही है; परन्तु परमार्थनय के ग्रहण से, दर्शनमोह का नाश होकर, एक बार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व न आये। मिथ्यात्व के न आने से मिथ्यात्व का बंध भी न हो। और मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का बन्धन कैसे रह सकता है? नहीं रह सकता, अर्थात् मोक्ष ही होता है – ऐसा जानना चाहिए"

नाटक समयसार में इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार किया गया है –

(सवैया इकतीसा)

महाधीठ दुख कौ वसीठ परदर्वरूप,
अंधकूप काहूपै निवार्यो नाहि गयौ है।
ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीव कौं अनादि ही कौ,
याही अहंबुद्धि लिए नानाभांति भयौ है॥
काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि,
ममता उछेदि शुद्धभाव परिनयौ है।
तिनही विवेक धारि बंध कौ विलास डारि,
आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है॥

पर में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व बुद्धि से युक्त यह मिथ्यात्व महाधीठ (धृष्ट) है, दुखों का दूत है, परद्रव्यरूप है, अंधा कुआं है, अनादिकाल से ही इस जीव के साथ लग रहा है और अबतक किसी भी अनादिमिथ्यादृष्टि से निवारा नहीं गया है। इसीकारण यह जीव परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण करके अनेक अवस्थायें धारण करता है। किसी समय कोई जीव मिथ्यात्व अंधकार को भेदकर, परपदार्थों से एकत्व-ममत्व का उच्छेद कर, शुद्धभावरूप परिणमित होता है, तब वह विवेक को धारण करके, बंध के विलास को नष्ट करके, बंध के कारणों को दूर करके, अपनी आत्मशक्ति से संसार को जीत लेता है, अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि उक्त कलश में 'अहंकाररूपं तमः' कहकर एवं बनारसीदासजीकृत भावानुवाद में 'मिथ्याभाव' शब्द के माध्यम से मिथ्यात्वभाव की ही बात की है; तथापि अन्त में बनारसीदासजी ने 'जगजीत लियो' कहकर सम्पूर्ण मोह के नाश की ओर भी संकेत कर दिया है। तात्पर्य इतना ही है कि यदि एक बार मिथ्यात्व का नाश हो जाये तो फिर यह जीव अनन्त काल तक संसार में नहीं भटकता है, अतिशीघ्र ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

पंडित जयचन्दजी छाबड़ा तो भावार्थ में मिथ्यात्व के क्षय की ही बात करते हैं, पर साथ में 'मोक्ष ही होता है' – यह भी कह देते हैं। अतः प्रकारान्तर से चारित्रमोह के क्षय की बात भी आ जाती है।

अतः हम चाहे दर्शनमोह के क्षय की अपेक्षा ग्रहण करें, चाहे चारित्रमोह के क्षय की अथवा दोनों प्रकार के मोह के नाश की बात लें; पर यह परमसत्य है कि भूतार्थनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से यदि एक बार मोह का क्षय जड़मूल से हो जाय तो वह मोह दुबारा अंकुरित नहीं होता; इसकारण अल्पकाल में मोक्ष होता ही है।

यही कारण है कि इस कलश में मोह के क्षय की भावना भाई गई है।

अब इस प्रकरण का सार आगामी कलश में व्यक्त करते हैं –

(अनुष्टुप)

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

(दोहा)

परभावों को पर करे आतम आतमभाव ।
आप आपके भाव हैं पर के हैं परभाव ॥५६॥

आत्मा सदा अपने भावों को ही करता है और परभावों को सदा पर ही करते हैं; अतः जो आत्मा के भाव हैं, वे आत्मा ही हैं और जो पर के भाव हैं, वे पर ही हैं।

इस कलश में स्व और पर में पूर्ण भिन्नता बताई गई है और यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा अपने विकारी-अविकारी भावों का कर्त्ता है और पुद्गलादि परपदार्थ भी अपने-अपने विकारी-अविकारी भावों के कर्त्ता है।

यद्यपि कलश में ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि इसमें विकारी और अविकारी –दोनों ही प्रकार के भाव ग्रहण करना; तथापि कलश टीका में पाण्डे राजमलजी ने अपने भावों में विकारी और अविकारी दोनों भावों को लिया है, उसी के आधार पर कविवर बनारसीदासजी ने भी नाटक समयसार में इस कलश के भावानुवाद में उसी बात को प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

शुद्धभाव चेतन अशुद्धभाव चेतन,
दुहूं कौ करतार जीव और नहि मानिये ।
कर्मपिंड कौ विलास वर्न रस गंध फास,
करता दुहूं कौ पुद्गल परवानिये ॥
तातै वरनादि गुन ग्यानावरनादि कर्म,
नाना परकार पुद्गलरूप जानिये ।
समल विमल परिनाम जे जे चेतन के,
ते ते सब अलख पुरुष यौं बखानिये ॥

शुद्ध और अशुद्ध चैतन्यभावों का कर्त्ता जीव को ही मानना चाहिए, अन्य को नहीं। इसीप्रकार द्रव्यकर्मों की परिणति और स्पर्श, रस, गंध व वर्ण का कर्त्ता पुद्गल को ही प्रमाणित करना चाहिए। इसलिए वर्णादि और ज्ञानावरणादि के नानारूपों को पुद्गल जानना चाहिए और चेतन आत्मा के जो-जो समल (विकारी) और अमल (अविकारी) परिणाम हैं, वे सभी अलख आत्मा है – इसप्रकार जिनवाणी में कहा गया है।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी का दृष्टिकोण भी दृष्टव्य है, जो इसप्रकार है –

"आत्मा या तो अपने शुद्ध चैतन्य परिणामों को करता है या अपने अशुद्ध चैतन्य परिणामों को करता है, या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणामों को करता है या मिथ्यात्व-राग-द्वेषरूप परिणामों को करता है; परन्तु परद्रव्य के परिणामों को आत्मा कभी भी नहीं करता।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ ३२९

ज्ञानी को कर्त्ताबुद्धि से शुभभाव नहीं होता; परन्तु शुभभावरूप परिणमन है – इस अपेक्षा से उसे शुभभाव का कर्त्ता कहा जाता है। 'शुभभाव करने लायक है' – ऐसी बुद्धि तो सम्यग्दृष्टि के रही नहीं, इसकारण परिणमन की अपेक्षा से ज्ञानी शुभभाव का कर्त्ता भले हो; तथापि तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का जो बंध होता है, उसका कर्त्ता वह नहीं है। पहले कार्माण वर्गणा की अकर्मरूप दशा थी, बाद में बदलकर तीर्थंकर नामकर्मरूप दशा हुई – उसका कर्त्ता आत्मा नहीं, अपितु पुद्गल है।[१]

बोलनेरूप जो भाषा की पर्याय है, वह परभाव है, भाषावर्गणा के परमाणु ही उस भाव के कर्त्ता हैं; परन्तु बोलने के भावरूप जो परिणमन होता है – इस अपेक्षा से ज्ञानी को उसका कर्त्ता कहा जाता है; परन्तु ज्ञानी उस राग को करने लायक नहीं मानता; क्योंकि ज्ञानी राग के स्वामित्वपने से नहीं परिणमता।

परद्रव्य के कर्त्ताकर्मपने की मान्यता को अज्ञान कहकर आचार्यदेव ने यह कहा है कि जो ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है। 'मैं पर की सेवा कर सकता हूँ, दूसरे का दुख टाल सकता हूँ, दूसरों को आहार-पानी, कपड़ा इत्यादि दे सकता हूँ' – ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

यद्यपि क्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज को भी राग आता है, परिणमन की अपेक्षा से वे उस राग के कर्त्ता भी हैं; परन्तु यह राग करने लायक हैं – ऐसा वे नहीं मानते।[२]''

ध्यान रहे उक्त कथन में ज्ञानी आत्मा को भी रागादिभावों का कर्त्ता-भोक्ता कहा गया है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यह आत्मा अपने विकारी-अविकारी परिणामों का कर्त्ता-भोक्ता होने पर भी परभावों का कर्त्ता-भोक्ता तो कदापि नहीं है; अतः इस आत्मा को परभावों का कर्त्ता-भोक्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ ३३०
२. वही पृष्ठ ३३०

समयसार गाथा ८७-८८

यहाँ बार-बार यह कहा जा रहा है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि ये मिथ्यात्व, अज्ञान आदि क्या हैं?

यदि इन्हें जीव के परिणाम कहा जाए तो जो पहले रागादि को पुद्गल का परिणाम कहा गया था, उससे विरोध आता है और यदि इन्हें पुद्गल का परिणाम ही माना जाय तो फिर जो जीव नहीं हैं, जीव का परिणाम नहीं है; उसका फल जीव क्यों भोगे?

इस प्रश्न के उत्तर में ही ८७-८८वीं गाथायें लिखी गई हैं, जिनमें यह बताया गया है कि ये मिथ्यात्वादिभाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इन्हें द्रव्यमिथ्यात्व और भावमिथ्यात्व आदि के भेद से भी जाना जाता है। पौद्गलिक मिथ्यात्व को द्रव्यमिथ्यात्व या अजीवमिथ्यात्व कहते हैं और पौद्गलिकमिथ्यात्वकर्म के उदय में जो पर में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व संबंधी भाव होते हैं, उन्हें भावमिथ्यात्व या जीवमिथ्यात्व कहते हैं। इसीप्रकार अज्ञानादि के बारे में भी समझ लेना चाहिए।

गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं -

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥
पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

मिथ्यात्व-अविरति-जोग-मोहाज्ञान और कषाय हैं।
ये सभी जीवाजीव हैं ये सभी द्विविध प्रकार हैं ॥८७॥
मिथ्यात्व आदि अजीव जो वे सभी पुद्गल कर्म हैं।
मिथ्यात्व आदि जीव हैं जो वे सभी उपयोग हैं ॥८८॥

जीवमिथ्यात्व और अजीवमिथ्यात्व के भेद से मिथ्यात्व दो प्रकार का है। इसीप्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह, और क्रोधादि भी जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।

जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीव हैं; वे तो पौद्गलिक कर्म हैं और जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीव हैं, वे उपयोग हैं। तात्पर्य यह है कि वे मिथ्यात्वादि भाव चेतन के विकार भी हैं और पौद्गलिक कर्मों की प्रकृतियाँ भी हैं, इसकारण चेतन भी हैं और अचेतन भी हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि सभी भाव मोर और दर्पण के समान जीव और अजीव के द्वारा भाये जाने से जीव भी हैं और अजीव भी हैं।

अब इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं –

जिसप्रकार नीला, हरा और पीला आदि वर्णरूप भाव मोर के स्वयं के स्वभाव होने से मोर के द्वारा ही भाये जाते हैं, मोर में ही पाये जाते हैं; अतः वे मोर ही हैं। किन्तु दर्पण में प्रतिविम्बरूप से दिखाई देनेवाले नीले, हरे, पीले आदि वर्णरूप भाव, दर्पण की स्वच्छता के विकारभाव से दर्पण द्वारा भाये जाने से, दर्पण में ही पाये जाने से, दर्पण ही हैं, मोर नहीं। ठीक इसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि पौद्गलिक कर्मरूपभाव अजीव के स्वयं के स्वभाव होने से अजीव द्वारा ही भाये जाते हैं, अजीव में ही पाये जाते हैं; अतः अजीव ही हैं। किन्तु पुद्गलकर्म के उदयानुसार आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम आदि भाव चैतन्य के भाव होने से जीव के द्वारा भाये जाते हैं, जीव में पाये जाते हैं; अतः जीव ही हैं।

अतः यह सुनिश्चित ही है कि निश्चय से जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति आदि अजीव हैं, वे तो अमूर्तिक चैतन्यपरिणामों से भिन्न मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति आदि जीव हैं, वे मूर्तिक पुद्गलकर्म से भिन्न चैतन्यपरिणाम के विकार हैं।"

यहाँ मोर और दर्पण में प्रतिबिम्बित मोर के उदाहरण के माध्यम से जीव और अजीव मिथ्यात्वादि को समझाया गया है। मोर में दिखाई देनेवाले नीले, हरे, पीले रंग तो मोर से अभिन्न होने से मोर ही हैं; किन्तु दर्पण में प्रतिबिम्बित होनेवाले मोर में जो नीले, हरे, पीले रंग दिखाई देते हैं, उनमें मोर का कुछ भी नहीं है; क्योंकि वे तो मोर के निमित्त से होनेवाले दर्पण के ही परिणमन हैं, मोर के नहीं। तात्पर्य यह है कि दर्पण में दिखाई देनेवाला मोर मोर है ही नहीं, वह तो दर्पण ही है। इसीप्रकार जो कार्माणवर्गणारूप पौद्गलिक स्कंध मिथ्यात्वादि प्रकृतियों रूप परिणमित होते हैं, वे मिथ्यात्वादि प्रकृतियाँ तो द्रव्यमिथ्यात्वादि हैं, अजीवमिथ्यात्वादि हैं; किन्तु उन्हीं मिथ्यात्वादि कर्मों के उदयानुसार जीव में होनेवाले परकर्तृत्वादिबुद्धिरूप मिथ्यात्वादिभाव जीव के विकार होने से जीव हैं। इसप्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम आदि जीवरूप भी होते हैं और अजीवरूप भी।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में भी आत्मख्याति के समान मोर और दर्पण के उदाहरण से ही यह बात स्पष्ट की है।

८७वीं गाथा के भावार्थ में पंडित जयचन्दजी छाबड़ा ने जो स्पष्टीकरण किया है, वह कुछ विशेष गहराई लिए हुए है, जो मूलत: इसप्रकार है –

"पुद्गल के परमाणु पौद्गलिकमिथ्यात्व आदि कर्मरूप से परिणमित होते हैं। उस कर्म का विपाक (उदय) होने पर उसमें जो मिथ्यात्व आदि स्वाद उत्पन्न होता है, वह मिथ्यात्व आदि अजीव हैं और कर्म के निमित्त से जीव विभावरूप परिणमित होता है, वे विभाव परिणाम चेतन के विकार हैं; इसलिए वे जीव हैं।

यहाँ यह समझना चाहिए कि मिथ्यात्व आदि कर्म की प्रकृतियाँ पुद्गलद्रव्य के परमाणु हैं। जीव उपयोगस्वरूप है, उसके उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिक कर्म का उदय होने पर उसके उदय का स्वाद आवे, तब उसके आकार उपयोग हो जाता है। अज्ञानी को अज्ञान के कारण उस स्वाद का और उपयोग का भेदज्ञान नहीं है; इसलिए वह उस स्वाद को ही अपना भाव समझता है। जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीवभाव को जीव जानता

है और अजीवभाव को अजीव जानता है, तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।''

इस भावार्थ का भाव स्पष्ट करते हुये स्वामीजी कहते हैं –

''जीव को अपने मिथ्यात्वभाव का वेदन तो होता है; परन्तु जड़-मिथ्यात्व का (कर्म का) वेदन जीव को नहीं होता। ज्ञान में जड़ के रस का ख्याल तो आता है; किन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं जड़ का स्वाद लेता हूँ। जड़ की पर्याय रूपी है, वह अरूपी जीव में नहीं आती। ज्ञान जड़ के रस या स्वाद को जानता तो है, परन्तु वह जड़ का स्वाद ज्ञान में प्रवेश नहीं करता; परन्तु अज्ञानी इसप्रकार न मानकर जड़ का स्वाद मुझे आया – ऐसा मानकर मिथ्यात्वभाव का सेवन करता है।

देखो! लड्डू खाते हैं तो उसके स्वाद का ज्ञान होता है, परन्तु लड्डू का स्वाद ज्ञान में प्रवेश नहीं कर जाता; क्योंकि लड्डू का स्वाद तो जड़ है, रूपी है और भगवान आत्मा चैतन्यमय अरूपी है – इस अरूपी में रूप का प्रवेश कैसे हो? उसीतरह कर्म का उदय जड़ है, उस जड़ के स्वाद (अनुभव) को ज्ञान जानता है, परन्तु अज्ञानी को भेदज्ञान नहीं है – इसकारण जड़ के स्वाद का ज्ञान में ख्याल आते ही वह ऐसा मान लेता है कि मुझे जड़कर्म का स्वाद आया है – ऐसा मानकर वह मिथ्यात्व का सेवन करता है।

कर्म का उदय (फल) आने पर जो मिथ्यात्वादि का स्वाद उत्पन्न होता है, वह मिथ्यात्वादि अजीव है।[१]''

यहाँ मिथ्यात्वकर्म के अनुभाग को अजीवमिथ्यात्व कहा जा रहा है – ऐसा लगता है; पर इन गाथाओं का मूल कहना तो यही है कि मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति जीव और अजीव के भेद से, भाव और द्रव्य के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। •

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ३, पृष्ठ ३३९

स्वयं से उद्घाटित सत्य जितना लाभदायक होता है; उतना दूसरों के द्वारा उद्घाटित नहीं । – आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ६८

समयसार गाथा ८९

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर में मिथ्यात्वादि भाव आये कहाँ से ? और ये आत्मा के साथ कब से हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में ८९ वीं गाथा लिखी गई है, जो इसप्रकार है –

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो ॥८९॥
मोहयुत उपयोग के परिणाम तीन अनादि से ।
जानो उन्हें मिथ्यात्व अविरतभाव अर अज्ञान ये ॥८९॥

मोहयुक्त उपयोग के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव – ये तीन परिणाम अनादि से ही जानना चाहिए।

उक्त गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"यद्यपि निश्चय से निजरस से ही समस्त वस्तुओं में अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमन की सामर्थ्य होती है; तथापि इस आत्मा के उपयोग का अनादि से ही अन्य वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तपना होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का परिणामविकार है।

उपयोग का वह परिणामविकार स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति पर के कारण (पर की उपाधि से) उत्पन्न होता दिखाई देता है।

जिसप्रकार यद्यपि स्फटिकमणि अपने स्वरूप-परिणमन में समर्थ है; तथापि कदाचित् काले रंग के तमालपत्र, हरे रंग के केले के पत्ते और पीले रंग के स्वर्णपात्र के आधार का संयोग होने से स्फटिक की स्वच्छता का काला, हरा और पीला – ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार दिखाई देता है।

उसीप्रकार आत्मा के अनादि से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है, ऐसे अन्य वस्तुभूत मोह का संयोग होने से आत्मा के उपयोग का

मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति - ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार समझना चाहिए।''

गाथा में तो मात्र इतना ही कहा गया है कि मोहयुक्त होने से आत्मा के अनादि से ही मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयमभाव पाया जाता है; किन्तु टीका में पहले यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से ही स्वाभाविक परिणमन करने की सामर्थ्य रखती है। अतः आत्मा में भी स्वाभाविक परिणमन करने की सामर्थ्य है। इसके बाद स्फटिकमणि के उदाहरण से यह समझाया गया है कि यह आत्मा अनादि से मिथ्यादर्शनादिरूप परिणमित हो रहा है।

जिसप्रकार स्फटिकमणि स्वभाव से ही अत्यन्त निर्मल है और निर्मलतारूप परिणमित होने में भी समर्थ है। उसे अपने निर्मल परिणमन के लिए पर की रंचमात्र अपेक्षा नहीं है; तथापि उसके स्वभाव में ही यह योग्यता भी विद्यमान है कि यदि उसे काले तमालपुष्प का संयोग मिले तो वह काले रंगरूप परिणमित हो जाता है, यदि उसे केले के हरे पत्ते पर रख दिया जाय तो वह हरा हो जायगा और यदि उसे पीले स्वर्णपात्र में रख दिया जाए तो पीला हो जायगा।

उसीप्रकार यह भगवान आत्मा स्वभाव से ही अत्यन्त निर्मल है, निर्विकारी है, शुद्ध-बुद्ध है, निरंजन है, निराकार है और अपने स्वभावरूप परिणमित होने में भी पूर्ण समर्थ है; तथापि अनादि से ही अन्य वस्तुभूत जड़मिथ्यात्वादि कर्मों के संयोग से आत्मा का उपयोग भी मिथ्यात्वादि विकारीभावों रूप परिणमित हो रहा है।

यहाँ एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिसप्रकार स्फटिकमणि का काले, हरे और पीले रंगरूप परिणमन, उसका स्वाभाविक परिणमन नहीं है, औपाधिक भाव है, क्षणिक है; उक्त विकृत परिणमन का स्फटिकमणि के भीतर प्रवेश भी नहीं है; उसीप्रकार यह मिथ्यात्वादि रूप परिणमन भी आत्मा का स्वाभाविक परिणमन नहीं है, औपाधिक भाव है, क्षणिक है; उक्त विकारों का आत्म-स्वभाव के भीतर प्रवेश नहीं है।

इतना सबकुछ होने पर भी वर्तमान क्षणिक अवस्था में तो वह स्फटिकमणि रंग-बिरंगा हो ही गया है। उसीप्रकार स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध भी यह आत्मा क्षणिक अवस्था में तो मिथ्यात्वादि भावोंरूप हो ही गया है।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"आत्मा के द्रव्य-गुण तथा उसका वर्तमान वर्त्तता अंश कारणशुद्धपर्याय तो शान्तरस, चैतन्यरस, अकषायरस के कारण शुद्ध है, पवित्र है तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मलपरिणतिरूप से परिणमन करने की इसकी सामर्थ्य है। अहाहा! भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्दरस व अतीन्द्रिय ज्ञानरस का स्वामी होकर अतीन्द्रिय आनन्दरूप से परिणमन करने की सामर्थ्यवाला है; फिर भी अनादिकाल से अन्यवस्तु अर्थात् जड़मोह के साथ संबंध करने से उपयोग में विकारी परिणाम उत्पन्न होता है। भगवान आत्मा का जानने-देखनेरूप उपयोग तो सदा निर्मल व शुद्ध है, उसमें अनादि मोहकर्म के संयोग के वश मिथ्यात्व, अज्ञान व अविरति – ऐसे तीन प्रकार से विकारी परिणाम की स्वयं उत्पत्ति होती है।

समयसार के १७५ वें कलश में कहा है कि जैसे सूर्यकान्तमणि अपने से ही अग्निरूप नहीं परिणमता, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्त है, उसीतरह आत्मा स्वयं रागादिभाव का निमित्त कभी भी नहीं होता, उसमें परद्रव्य का संग ही निमित्त है – ऐसा वस्तु का स्वभाव प्रकाशमान है। यद्यपि विकार परसंग से नहीं होता; परन्तु जब परद्रव्य का संग जीव स्वयं करता है, तब रागादि विकार होता है।

जीव में मिथ्यात्वादि परिणाम अपने षट्कारक के परिणमन से होते हैं – ऐसा पंचास्तिकायसंग्रह की ६२वीं गाथा में कहा है। शुद्धचैतन्यस्वभावमय निज आत्मा का संग छोड़कर जीव कर्म का संग करता है तो अपने में विकारभाव स्वयं से उत्पन्न होता है – यह महासिद्धान्त है।[१]

देखो ! मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरति – ये अन्यवस्तुभूत जड़मोह कर्म के स्वभाव है। उस मोह का संयोग अर्थात् निमित्त होने से आत्मा में मिथ्यादर्शन

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ३४९

आदि परिणाम होते हैं। संयोग तो निमित्तमात्र है; द्रव्यकर्म के संयोग के कारण से मिथ्यात्वादि विकारपरिणाम नहीं होते। जैसे स्फटिक में काली, हरी, पीली झाँई दिखाई देती है, वह स्फटिक की पर्याय की योग्यता से हुई है, बर्तनों (आधारों) ने नहीं की है; उसीप्रकार जीव में हुए मिथ्यात्वादिभाव जीव की पर्याय की योग्यता से हुए हैं, जड़मोहकर्म ने नहीं किये हैं, जड़मोह तो निमित्तमात्र है।

लोहे की सलाक (छड़) की जो उष्ण-अवस्था होती है, उसकी कर्त्ता लोहे की सलाकरूप पर्याय ही है। अभेद से कहें तो लोहा द्रव्य ही उस उष्णता का कर्त्ता है, अग्नि नहीं। ये इन्द्रिय-विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श व शब्द) सुख-दुःख होने में निमित्त हैं; परन्तु ये इन्द्रियों के विषय सुख-दुःख उत्पन्न नहीं करते।[१]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि आत्मा का परसंग से मिथ्यात्वादि विकारीभावों रूप परिणमित होना पर्यायगत स्वभाव है और यह परिणमन अनादि से हो रहा है।

'इनका परिणमन अनादि से है – इसकारण इनका अभाव नहीं हो सकता' – ऐसी बात नहीं है; क्योंकि अनन्त आत्माओं ने इनका अभावकर सिद्धपद प्राप्त किया है और भविष्य में भी अनन्तजीव सिद्धपद प्राप्त करेंगे। अतः चिन्ता करने की तो कोई बात नहीं है, किन्तु सजग होकर आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करने की आवश्यकता अवश्य है।

यहाँ एक बात विशेष जानने योग्य यह है कि यदि एक बार इन मिथ्यात्वादि भावों का नाश हो जावे तो फिर इनकी उत्पत्ति नहीं होती; जैसाकि पिछले कलश में कहा भी गया है।

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ३५२

बुद्धिमत्ता और अनुभव का कमाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। कमाना और गमाना तो पुण्य-पाप के खेल हैं।

– आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ५९

समयसार गाथा ९०-९१

विगत गाथा में कहा गया है कि यह भगवान आत्मा स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध होने पर भी अनादि से ही मोहयुक्त होने से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भावरूप परिणमित हो रहा है। अत: अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन मिथ्यात्वादिभावों का कर्त्ता कौन है?

इस प्रश्न के उत्तर में ९०-९१वीं गाथाएँ लिखी गई हैं, जो इसप्रकार हैं –

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो निरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥ ९० ॥
जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥ ९१ ॥

यद्यपि उपयोग तो नित ही निरंजन शुद्ध है।
जिसरूप परिणति हो त्रिविध वह उसी का कर्त्ता बने ॥ ९० ॥
आतम करे जिस भाव को उस भाव का कर्त्ता बने ।
बस स्वयं ही उस समय पुद्गल कर्मभावे परिणमें ॥ ९१ ॥

यद्यपि आत्मा का उपयोग शुद्ध और निरंजन भाव है; तथापि तीन प्रकार का होता हुआ वह उपयोग जिस भाव को स्वयं करता है, उस भाव का वह कर्त्ता होता है।

आत्मा जिस भाव को करता है, उसका वह कर्त्ता होता है। उसके कर्त्ता होने पर पुद्गलद्रव्य अपने आप कर्मरूप परिणमित होता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है–

"यद्यपि परमार्थ से उपयोग शुद्ध, निरंजन एवं अनादिनिधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रभावपने से एक प्रकार का ही है; तथापि अनादि से ही अन्यवस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तता के कारण अपने में उत्पन्न होनेवाले

मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति भावरूप परिणामविकार के निमित्त से अशुद्ध, सांजन और अनेकपने को प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार का होकर स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्व को प्राप्त, विकाररूप परिणमित होकर जिस-जिस भाव में अपनापन स्थापित करता है, उस-उस भाव का कर्त्ता होता है।

आतमा जिस भाव को करता है, स्वयं ही उस भावरूप परिणमित होने से साधक की भाँति उस भाव का कर्त्ता होता है और आत्मा के उस भाव के निमित्तभूत होने पर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप स्वयं परिणमित होते हैं।

जिसप्रकार मंत्र की साधना करनेवाला साधक उसप्रकार के ध्यानभाव से स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यान का कर्त्ता होता है और वह ध्यानभाव समस्त साध्यभावों के अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर साधक के कर्त्ता हुए बिना व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त होती हैं और बन्धन स्वयमेव टूट जाते हैं।

इसीप्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शनादिक भावरूप स्वयं परिणमित होता हुआ मिथ्यादर्शनादिभाव का कर्त्ता होता है और वे मिथ्यादर्शनादिभाव पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप परिणमित होने में अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर आत्मा के कर्त्ता हुए बिना पुद्गलद्रव्य मोहनीय आदि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं।''

तात्पर्यवृत्ति में भी इन गाथाओं का भाव इसीप्रकार स्पष्ट किया गया है। बस इतनी विशेषता है कि तात्पर्यवृत्ति में शुद्ध और निरंजन पद की व्याख्या भी की गई है, जो इसप्रकार है –

''शुद्ध माने रागादिभावकर्म से रहित है और निरंजन माने ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूपी अंजन से रहित है।''

पंडित जयचंदजी छावड़ा भावार्थ में स्पष्ट करते हैं कि – ''यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्त्ता नहीं है, तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होने से अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा को भी कर्त्ता कहा जाता है।''

उक्त गाथाओं में अत्यन्त सीधी और सरल भाषा में यह बात कही गई है कि यद्यपि भगवान आत्मा तो सदा ही शुद्ध-बुद्ध और निरंजन-निराकार है; तथापि अनादि से ही मोहयुक्त होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतभावरूप परिणमित हो रहा है; इसकारण वह इन भावों का कर्त्ता भी है, किन्तु पर का कर्त्ता कदापि नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि आत्मा के उक्त मिथ्यादर्शनादि भावों का निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माणवर्गणाएँ स्वयं कर्मरूप परिणमित होती रहती हैं।

प्रश्न – 'कार्माण वर्गणाएँ स्वयं ही परिणमित होती रहती है' – यह तो संभव नहीं लगता।

उत्तर – क्यों, इसमें असंभव क्या है? लोगों की इसी आशंका को निर्मूल करने के लिए टीका में मंत्रसाधक का उदाहरण देकर समझाया गया है। यह तो लोक में प्रसिद्ध ही है कि मंत्र से सर्पादि का जहर उतारनेवाले मंत्रवादी मंत्र के शब्दों का उच्चारण तक नहीं करते, अपितु मंत्र को मन में ही बोलते हैं; फिर भी दूर बैठे मनुष्यों का जहर उतर जाता है। इसीप्रकार यहाँ आत्मा मिथ्यात्वादिभावों रूप परिणमित होता है और वहाँ कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणमित हो जाती हैं तथा यहाँ आत्मा सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है और वहाँ कर्मबंधन अभाव को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

टीका में विष उतरने के अलावा भी दो उदाहरण दिये हैं – मंत्रों के प्रभाव से (१) स्त्रियाँ विडम्बना को प्राप्त होती हैं और (२) बन्धन स्वयमेव टूट जाते हैं। – ये बातें भी लोक में घटित होती देखी जाती हैं और इसप्रकार के कथन शास्त्रों में भी पाये जाते हैं। भगवान ऋषभदेव की भक्ति के प्रभाव से आचार्य मानतुंग के बंधन टूट जाने की बात तो प्रसिद्ध है ही और भी अनेक प्रकार की अनेक कथाएँ शास्त्रों में आती हैं तथा लोक में भी प्रसिद्ध हैं।

आकाश में सूर्य का उदित होना और उसके निमित्त से सरोवर में कमलों का खिलना आदि अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं, जिनसे सहज निमित्त-

नैमित्तिक भाव सिद्ध होता है। यहाँ तो यही बताना अभीष्ट है कि इनमें सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव ही है, कर्त्ताकर्म संबंध नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक भाव को समझने के लिए लेखक की अन्य कृति 'निमित्तोपादान' का गहराई से अध्ययन करना चाहिए।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"देखो! मंत्रसाधक अपनी मन्त्रसाधना की अथवा ध्यान की पर्याय का कर्त्ता है; परन्तु जो दूसरों का जहर उतर जाता है, उस जहर के उतरने की क्रिया का कर्त्ता वह नहीं है। कहा है न कि उसमें साधक का ध्यान अनुकूल होने से निमित्तभूत होने पर साधक के कर्त्ता हुए बिना ही सर्पादिक का जहर स्वयमेव उतर जाता है। पर में जो परिणति हुई, वह मंत्रसाधक की नहीं हुई है। मंत्रसाधक का ध्यान निमित्तभूत होने पर उसके कर्त्ता हुए बिना ही स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त हो जाती हैं। स्त्रियों में विडम्बना की अवस्था उनकी स्वयं की स्वयं से हुई है, उसमें मंत्रसाधक का कुछ काम नहीं है, उनकी विडम्बनारूप क्रिया का कर्त्ता मंत्रसाधक नहीं है। यहाँ आचार्य ने कहा है न कि स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त होती हैं, उसीप्रकार साधक का ध्यान निमित्तभूत होने पर साधक के कर्त्ता हुए बिना ही कर्मबन्ध स्वयमेव टूट जाता है।

मंत्र का साधक अपनी साधना की पर्याय का कर्त्ता है; परन्तु वह पर (नैमित्तिक) परिणति का कर्त्ता नहीं है। अरे! आजकल तो ऐसा मानते हैं कि ज्ञानावरणी कर्म जीव के ज्ञान को रोकता है, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव को राग होता है, व्यवहार से निश्चय होता है - इत्यादि, परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञानावरणी कर्म के कर्त्ता हुए बिना ही ज्ञान की हीनदशा स्वयमेव होती है। बहुत सूक्ष्म बात है भाई! परन्तु समझने जैसी है, उपयोग को सूक्ष्म करने से समझ में अवश्य आयगी।[१]" •

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-३, पृष्ठ ३६४, ३६५

समयसार गाथा ९२-९३

अब आगामी गाथाओं में निष्कर्ष के रूप में यह कहते हैं कि अज्ञानीजीव कर्मों का कर्त्ता होता है और ज्ञानीजीव कर्मों का कर्त्ता नहीं होता।

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करितो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९२॥
परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमयो जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥९३॥

पर को करे निजरूप जो पररूप जो निज को करे ।
अज्ञानमय वह आतमा ही करम का कर्त्ता बने ॥९२॥
पररूप ना निज को करे पर को करे निजरूप ना ।
कर्त्ता नहीं हो करम का सद्ज्ञानमय वह आतमा ॥९३॥

जो पर को अपनेरूप करता है अपने को भी पररूप करता है; वह अज्ञानी जीव कर्मों का कर्त्ता होता है।

जो पर को अपनेरूप नहीं करता और अपने को भी पररूप नहीं करता, वह ज्ञानी जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं होता, अकर्त्ता ही रहता है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जबतक यह आत्मा अज्ञान से स्व और पर में परस्पर भेद नहीं जानता, तबतक पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ, स्वयं अज्ञानरूप होता हुआ कर्मों का कर्त्ता प्रतिभासित होता है; किन्तु जब यह आत्मा ज्ञान से स्व और पर में परस्पर भेद को जान लेता है, तब पर को अपनेरूप व अपने को पररूप नहीं करता हुआ, स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ, कर्मों का अकर्त्ता प्रतिभासित होता है।

जिसप्रकार शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ पुद्गलपरिणाम की शीत-उष्ण अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त

भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उसप्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है।

उसीप्रकार वैसा अनुभव कराने में समर्थ पुद्गलपरिणाम की राग-द्वेष, सुख-दुःखादि अवस्था भी पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उसप्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है।

जब यह आत्मा अज्ञान के कारण उन राग-द्वेष एवं सुख-दुःखादि का और उनके अनुभव का परस्पर विशेष नहीं जानता, तब एकत्व के अध्यास के कारण शीत-उष्ण की भाँति (जिसप्रकार शीत-उष्ण अवस्था के रूप में आत्मा का परिणमित होना अशक्य है, उसीप्रकार राग-द्वेष एवं सुख-दुःखादि अवस्था के रूप में आत्मा का परिणमित होना अशक्य है) जिसरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है – ऐसे राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप अज्ञानात्मा के द्वारा परिणमित होता हुआ, परिणमित होना मानता हुआ, ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं अज्ञानरूप होता हुआ, 'यह मैं रागी हूँ, यह राग मैं करता हूँ' इत्यादि विधि से रागादिकर्म का कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

किन्तु जब यह आत्मा ज्ञान के कारण उन राग-द्वेष एवं सुख-दुःखादि का और उनके अनुभव का परस्पर अन्तर जान लेता है, तब 'वे एक नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न हैं' – ऐसे विवेक के कारण, भेदविज्ञान के कारण शीत-उष्ण की भाँति, जिनके रूप में आत्मा के द्वारा परिणमन अशक्य है – ऐसे राग-द्वेष एवं सुख-दुःखादिरूप से अज्ञानात्मा के द्वारा किंचित्मात्र भी परिणमित न होता हुआ, ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ, 'यह मैं रागादि को जानता ही हूँ, राग तो पुद्गल करता है' – इत्यादि विधि से ज्ञान से समस्त रागादिकर्म का अकर्त्ता प्रतिभासित होता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन में एक ही बात स्पष्ट की गई है कि जिसप्रकार पुद्गल की शीतोष्ण अवस्था, पुद्गल का परिणाम है, पुद्गल का ही कर्म है, कार्य है और पुद्गल ही उस का कर्त्ता है तथा उसे जाननेवाला ज्ञान आत्मा का कर्म

है, कार्य है और आत्मा ही उस ज्ञानरूप कर्म का कर्त्ता है; ठीक उसीप्रकार राग-द्वेषादि भाव भी पुद्गल के परिणाम हैं, पुद्गल के कर्म हैं, कार्य हैं और पुद्गल ही उनका कर्त्ता है तथा उन्हें जाननेवाला ज्ञान आत्मा का कर्म है, कार्य है और आत्मा ही उस ज्ञानरूप कर्म का कर्त्ता है।

इसप्रकार का भेदज्ञान जबतक प्रगट नहीं होता, तबतक यह आत्मा अज्ञानी रहता है और उन्हें जाननेवाले ज्ञान के समान उन राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता कहा जाता है; किन्तु जब उपर्युक्त भेदज्ञान हो जाता है, तब वह ज्ञानी आत्मा स्वयं को राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता नहीं मानता है, अपितु उन्हें जाननेरूप भाव के रूप में ही परिणमित होता हुआ, उन रागादिभावों का अकर्त्ता ही रहता है।

पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में उक्त कथन को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"राग-द्वेष-सुख-दुःखादि अवस्था पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है; इसलिये वह, शीत-उष्णता की भाँति, पुद्गलकर्म से अभिन्न हैं और आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। अज्ञान के कारण आत्मा को उसका भेदज्ञान न होने से वह यह जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है, क्योंकि ज्ञान की स्वच्छता के कारण रागद्वेषादि का स्वाद, शीत-उष्णता की भाँति, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर, मानो 'ज्ञान ही रागद्वेष हो गया हो' -इसप्रकार अज्ञानी को भासित होता है। इसलिए वह यह मानता है कि 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ इत्यादि।'

जब आत्मा राग-द्वेष-सुख-दुःखादि अवस्था को ज्ञान से भिन्न जानता है अर्थात् जिसप्रकार शीत-उष्णता पुद्गल-अवस्था है; उसीप्रकार राग-द्वेषादि भी पुद्गल की अवस्था है' -ऐसा भेदज्ञान होता है; तब अपने को ज्ञाता जानता है और रागादिरूप पुद्गल को जानता है। ऐसा होने पर, रागादि का कर्त्ता आत्मा नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है।"

यहाँ जो राग-द्वेष एवं सुख-दुःखादि को पुद्गल कहा, उसमें व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प भी आ जाते हैं, सभीप्रकार के शुभाशुभभाव आ जाते हैं।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"पहले ९१वीं गाथा में राग-द्वेषादिभावों का कर्त्ता अज्ञानभाव से आत्मा है – ऐसा कहा था और यहाँ उन्हीं परिणामों को जड़ में डाल दिया है; क्योंकि यहाँ विभाव को स्वभाव से भिन्न करना है।

रागादिभाव जीव के स्वभाव नहीं हैं और पर के संग से यानि पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, इसकारण वे पुद्गल के परिणाम हैं – ऐसा कहा है।[१]

भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यमय प्रभु आनन्द का नाथ है। उसके द्रव्य, गुण में तो राग है ही नहीं; परन्तु पर्याय में जो राग है, उसे यहाँ पुद्गल के परिणाम में सम्मिलित किया है। निमित्त के आधीन होने से जो दया, दान, व्रत तथा काम-क्रोधादि शुभाशुभभाव होते हैं; वे पुद्गल के परिणाम हैं। वे पुद्गल से अभिन्न हैं और भगवान आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं।

अज्ञानी पुण्य-पाप आदि भावों का अज्ञानभाव से कर्त्ता है; किन्तु ज्ञान होने पर वह पुद्गल परिणाम का कर्त्ता नहीं रहता – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। यहाँ ज्ञान व राग में भेदज्ञान कराना है।[२]

दया, दान का विकल्प कर्मचेतना है तथा हर्ष-शोक का परिणाम कर्मफलचेतना है। कर्मचेतना व कर्मफलचेतना पुद्गल के परिणाम हैं, अचेतन हैं। उक्त पुद्गलपरिणाम पुद्गल से अभिन्न हैं तथा आत्मा से सदा अत्यन्त भिन्न हैं।[३]

'रागादिपरिणाम ज्ञान में निमित्त हैं' – इसका क्या अर्थ है?

बस, इसका मात्र इतना ही अर्थ है कि ज्ञान स्वयं से स्व-परप्रकाशकपने परिणमता है, उसमें वे रागादिभाव परज्ञेय रूप से मात्र निमित्त हैं। आत्मा

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-४, पृष्ठ २०
२. वही, पृष्ठ २०
३. वही, पृष्ठ ३१

ज्ञान करने में स्वतंत्र है। राग हुआ, इसकारण राग का ज्ञान हुआ हो - ऐसा नहीं है।[१]

शीत-उष्ण की तरह पुण्य-पाप के भाव को भी यहाँ पुद्गल में ही सम्मिलित किया है। शीत-उष्ण परमाणु की अवस्था है तथा यह राग-द्वेष जीव की पर्याय है; तथापि यहाँ उसे अचेतन कहकर पुद्गलपरिणाम कहा है। अचेतन तो है; किन्तु उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं है। जड़कर्म की अवस्था में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं तथा इन रागादि में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हैं; परन्तु रागादि की पर्याय में ज्ञान का अंश नहीं है, इसलिए उसे अचेतन कहकर पुद्गल परिणाम कहा है।[२]"

इसप्रकार इन गाथाओं में मात्र यही कहा गया है कि रागादिभाव भी पुद्गल के परिणाम हैं और उनका कर्त्ता अज्ञानी आत्मा को तो कदाचित् कह भी सकते हैं; पर ज्ञानी आत्मा तो उनका कर्त्ता कदापि नहीं है, वह तो उनका ज्ञाता-दृष्टा ही है।

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-४, पृष्ठ ३२
२. वही, पृष्ठ ३५

सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जावो

कुछ करो नहीं, बस होने दो, जो हो रहा है, बस उसे होने दो। फेर-फार का विकल्प तोड़ो, सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जावो। बन क्या जावो, तुम तो सहज ज्ञाता-दृष्टा ही तो। यह तनाव, यह आकुलता, यह व्याकुलता तुम हो ही नहीं। .....

देखो नहीं, देखना सहज होने दो; जानो नहीं, जानना सहज होने दो। रमो भी नहीं, जमो भी नहीं; रमना-जमना भी सहज होने दो। सबकुछ सहज, जानना सहज, देखना सहज; जमना सहज, रमना सहज। कर्तृत्व के अहंकार से ही नहीं, विकल्प से भी रहित सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जावो। - सत्य की खोज, पृष्ठ १८७-१८८

समयसार गाथा ९४-९५

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोऽहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९४॥
तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९५॥

त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं क्रोध हूँ' इम परिणमें ।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्त्ता बने ॥ ९४॥
त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं धर्म हूँ' इम परिणमें ।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्त्ता बने ॥ ९५॥

यह तीन प्रकार का उपयोग जब क्रोधादि में 'मैं क्रोध हूँ' –इसप्रकार का आत्मविकल्प करता है, अपनेपन का विकल्प करता है; तब आत्मा उस उपयोगरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है।

इसीप्रकार यह तीन प्रकार का उपयोग जब धर्मास्तिकाय आदि में 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' – इसप्रकार का आत्मविकल्प करता है, अपनेपन का विकल्प करता है; तव आत्मा उस उपयोगरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''सामान्यतः अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीनप्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है, वह पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेषज्ञान से और अविशेष रति से समस्त भेद को छिपाकर, भाव्य-भावकभाव को प्राप्त चेतन और अचेतन का सामान्य-अधिकरणरूप अनुभव करने से – मानो उनका एक ही आधार हो – इसप्रकार का अनुभव करने से –'मैं क्रोध हूँ' – ऐसा विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिए 'मैं क्रोध हूँ' – ऐसी भ्रान्ति के कारण सविकार चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है।

इसीप्रकार ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त, स्वपर के सामान्य-अधिकरणरूप अनुभव करने से 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' -ऐसा आत्मविकल्प उत्पन्न करता है; इसलिए मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ - ऐसी भ्रान्ति के कारण सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिकपरिणामरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है।

इसीप्रकार क्रोध पद को बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, रसना और स्पर्शन - ये सोलहसूत्रों को भी घटित कर लेना चाहिए, इसी उपदेश से इनके अतिरिक्त और भी सूत्र बनाये जा सकते हैं। - इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि कर्तृत्व का मूल अज्ञान है।"

पर और निज में अविशेष दर्शनरूप मिथ्यादर्शन, अविशेष ज्ञानरूप मिथ्याज्ञान और अविशेष रतिरूप, रमणतारूप, लीनतारूप मिथ्याचारित्र -ये तीनों सविकारचैतन्य परिणाम हैं, आत्मा के ही विकारी परिणमन हैं। यद्यपि ये तीनों आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणों के विकारी परिणमन हैं; तथापि इन्हें सामान्यरूप से 'अज्ञान' नाम से ही अभिहित किया जाता है। इन्हीं परिणामों को ९३वीं गाथा में पुद्गल का परिणाम कहा था; और यहाँ इन्हें सविकारचैतन्यपरिणाम कहा जा रहा है।

भाव्य-भावक संबंधवाले क्रोधादिभावों और ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त धर्मादि द्रव्यों को अपने आत्मा से भिन्न न जानकर जब यह आत्मा मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ आदि सविकारचैतन्यपरिणामरूप और मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ आदि सोपाधिपरिणामोंरूप परिणमित होता है, तब वह अपने इन सविकारचैतन्यपरिणामों का एवं सोपाधिकपरिणामों का कर्त्ता-भोक्ता होता है। चूँकि उक्त सभी सविकारचैतन्यपरिणाम और सोपाधिकपरिणामों का एक नाम अज्ञान है; इसकारण यह कहा जाता है कि अज्ञानभावरूप से परिणमित आत्मा अर्थात् अज्ञानी आत्मा अज्ञानभाव का कर्त्ता-भोक्ता है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसा तो कोई भी नहीं कहता कि 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ, मैं आकाश हूँ' – फिर भी यहाँ ऐसा क्यों कहा जा रहा है?

इसीप्रकार का प्रश्न उपस्थित कर आचार्य जयसेन ने उसका उत्तर इसप्रकार दिया है –

"यह धर्मास्तिकाय है –ऐसा जो विकल्प मन में होता है, उसको ही उपचार से धर्मास्तिकाय कहते हैं। जिसप्रकार घटाकार विकल्परूप परिणतज्ञान को 'घट' कहा जाता है, उसीप्रकार जब यह जीव ज्ञेयतत्त्व के विचारकाल में 'यह धर्मास्तिकाय है' –इत्यादि विचाररूप-विकल्परूप परिणमित होता है, तब शुद्धात्मस्वभाव के विचार से रहित होता है और उसी विकल्प के समय 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' – ऐसा विकल्प उपचार से घटित होता है।"

इस बात को छाबड़ाजी भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"धर्मादिक के विकल्प के समय जो स्वयं शुद्धचैतन्यरूप होने का भान न रखकर धर्मादि के विकल्प में एकाकार हो जाता है, वह अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है।

इसप्रकार अज्ञानरूपपरिणाम अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है; इसलिए अज्ञानीजीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है और वह अज्ञानरूपभाव उसका कर्म होता है। इसलिए कर्तृत्व का मूल अज्ञान है।"

उक्त संदर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"९४ वीं गाथा में ऐसा कहा था कि अज्ञानी पर के साथ भाव्य-भावकभाव को प्राप्त होकर स्व-पर को एकरूप अनुभव करता है। इस गाथा में यह कहते हैं कि अज्ञानी ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त होकर स्व-पर को एकरूप अनुभव करने से 'मैं धर्म हूँ' – ऐसा अनुभव करता है।

आत्मा ज्ञायक है एवं रागादि व धर्मादि छहों परद्रव्य ज्ञेय हैं, उन ज्ञेय तथा ज्ञायक दोनों का अधिकरण एक है –इसप्रकार का अनुभव अज्ञानी करता है। अत: अज्ञानी तीनप्रकार के सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है।

अज्ञानी अपने शुद्ध चैतन्यमय ज्ञायकस्वरूप का विचार छोड़कर धर्मास्तिकाय आदि छहप्रकार के द्रव्यों के विचार में, विकल्पों में तल्लीन हो जाता है, धर्मास्तिकाय को अपना मानता है। धर्मास्तिकाय जीव व पुद्गलों की गति में निमित्त होनेवाला एक पदार्थ है। उसका विचार करने पर जो विकल्प आता है, अज्ञानी उसमें तन्मय हो जाता है। अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव के भान को भूलकर 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा मानता है।

इसीप्रकार अधर्मास्तिकाय जीव व पुद्गल को गतिपूर्वक स्थिति में निमित्त है। अधर्मास्तिकाय का विचार करने पर उसका जो विकल्प आता है, अज्ञानी उसमें तद्रूप एकाकार हो जाता है, वह अधर्मास्तिकाय को अपना मानता है। मैं सदा ज्ञायकस्वभावी ज्ञाता-दृष्टास्वरूप चैतन्यतत्त्व हूँ, -इस बात को भूलकर 'मैं अधर्मास्तिकाय हूँ' - ऐसे विकल्प में एकाकार होकर अधर्मास्तिकाय को तथा स्वयं को एक मानता है।

मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी आनन्दकन्द प्रभु स्वरूप से ही ज्ञाता-दृष्टा हूँ - ऐसा जिसको भान नहीं हुआ, वह अज्ञानीजीव परपदार्थ का विचार करता हुआ उस काल में 'यह परपदार्थ मैं हूँ' ऐसे विकल्प के साथ तदाकार होकर उस परपदार्थ को अपना मानता है।

सर्वव्यापी आकाश नाम का एक पदार्थ है, जो सर्वद्रव्यों के अवगाहन में निमित्त होता है, उस आकाश का विचार करते हुए जो जो विकल्प होता है, अज्ञानी उसमें एकाकार हो जाता है। 'मैं आकाश हूँ' -ऐसे विकल्प के साथ एकाकार होकर उस आकाश को व स्वयं को एक मानता है। जो इसप्रकार के विकल्पों का कर्त्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है, इसप्रकार लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य हैं। वे कालद्रव्य जीवादि सर्वद्रव्यों के प्रतिसमय होनेवाले परिणमन के निमित्त हैं। उन कालद्रव्यों के विचार के काल में जो विकल्प होते हैं, अज्ञानी उन विकल्पों में तल्लीन हो जाता है, इसमें

'मैं कालद्रव्य हूँ' -ऐसे विकल्पों में लीन होकर काल द्रव्य को तथा स्वयं को एक मानता है और इन विकल्पों का वह कर्त्ता हो जाता है।

इसीप्रकार शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, धन, सम्पत्ति इत्यादि पुद्गल सम्बन्धी विचार में हुए विकल्प के साथ एकाकार होकर 'ये पुद्गल मैं ही हूँ' – ऐसे अज्ञानभाव से पर में एकत्व मानता है। अत: वह भी मिथ्यादृष्टि है।

तथा निज आत्मा के सिवाय अन्य जीवों में भी अज्ञानी एकत्व की भावना करता है। देव व गुरु भी अन्य जीव हैं। उन देव-गुरु के विचार के काल में जो विकल्प उठते हैं, अज्ञानी उन विकल्पों में तन्मय हो जाता है; इसकारण ये मेरे देव हैं, ये मेरे गुरु हैं, ये मेरे धर्म प्रदाता हैं इत्यादि अनेक विकल्पों में लीन हुआ, वह मिथ्यादृष्टि जीव उन-उन विकल्पों का कर्त्ता होता है।[१]''

ज्ञेय-ज्ञायकभाव और भाव्य-भावक की बात आरम्भ से ही करते आ रहे हैं। धर्मादि छहों द्रव्य ज्ञेयभाव हैं और क्रोधादि भावकभाव हैं। यद्यपि धर्मादि ज्ञेयभावों एवं क्रोधादि भावकभावों से निजभगवान आत्मा भिन्न है; तथापि निज आत्मा और इन भावों के बीच भेदज्ञान न होने से यह आत्मा 'मैं धर्मादिद्रव्यरूप हूँ और मैं क्रोधादिभावों रूप हूँ' -इसप्रकार के विकल्पों रूप परिणमित होता हुआ आत्मा इसीप्रकार के श्रद्धानरूप परिणमित होता है, इसीप्रकार के ज्ञानरूप परिणमित होता है व इसीप्रकार के आचरणरूप परिणमित होता है और इसे ही अज्ञानरूप परिणमित होना कहा जाता है।

इसप्रकार परिणमित अज्ञानी आत्मा इस परिणमन का कर्त्ता होता है और यह परिणमन उस अज्ञानी आत्मा का कर्म होता है। उक्त दोनों गाथाओं और उनकी टीका में मात्र यही कहा गया है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि अज्ञानभाव का कर्त्ता अज्ञानी आत्मा है और कर्तृत्व का मूल अज्ञान है। •

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-४, पृष्ठ ५३-५४

सत्यासत्य का निर्णय हृदय से नहीं; बुद्धि से, विवेक से होता है। – आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ३७

समयसार गाथा ९६

"ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम् - इसलिए यह सिद्ध है कि कर्तृत्व का मूल अज्ञान है" - आत्मख्याति टीका का उक्त वाक्य विगत गाथाओं का उपसंहार और इस ९६वीं गाथा का उत्थानिका वाक्य है। अतः अब इस गाथा में यह बताते हैं कि कर्तृत्व का मूल अज्ञान किसप्रकार है ? गाथा मूलतः इसप्रकार है -

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥९६॥

इसतरह यह मंदबुद्धि स्वयं के अज्ञान से ।
निजद्रव्य को पर करे अरु परद्रव्य को अपना करे ॥९६॥

इसप्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से परद्रव्यों को अपनेरूप और स्वयं को पररूप करता है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"इसप्रकार 'मैं क्रोध हूँ और मैं धर्मास्तिकाय हूँ' - इत्यादि की भाँति यह आत्मा परद्रव्यों को अपने रूप और अपने को परद्रव्यरूप करता है। इसलिये यद्यपि यह आत्मा समस्त परवस्तुओं के संबंध से रहित अनन्त शुद्ध चैतन्यधातुमय है, तथापि अज्ञान के कारण ही सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्यपरिणाम वाला होने से इसप्रकार के अपने भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है। इसप्रकार भूताविष्ट और ध्यानाविष्ट पुरुष की भाँति आत्मा के कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ।

जिसप्रकार भूताविष्ट व्यक्ति अज्ञान के कारण भूत और स्वयं को एक मानता हुआ अमनुष्योचित विशिष्ट चेष्टाओं के अवलम्बन पूर्वक भयंकर

आरम्भ से युक्त अमानुषिक व्यवहार वाला होने से उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है। उसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ही भाव्य-भावकरूप पर को और स्वयं को एक करता हुआ, अविकार अनुभूतिमात्र भावक के लिए अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि विकारों से मिश्रित चैतन्यपरिणामविकारवाला होने से उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

जिसप्रकार अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करता हुआ कोई भोला पुरुष अज्ञान के कारण भैंसे को और स्वयं को एक करता हुआ, 'मैं गगनस्पर्शी सींगोंवाला बड़ा भैंसा हूँ' - ऐसे अध्यास के कारण मनुष्योचित मकान के द्वार में से बाहर निकलने से च्युत होता हुआ, उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है। उसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ज्ञेय-ज्ञायकरूप पर को और स्वयं को एक करता हुआ 'मैं परद्रव्य हूँ' - ऐसे अध्यास के कारण मन के विषयभूत किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव के द्वारा अपनी शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होने से तथा इन्द्रियों के विषयभूत रूपीपदार्थों के द्वारा अपना केवलबोध ढका हुआ होने से और मृतक शरीर के द्वारा परम-अमृतरूप विज्ञानघन मूर्च्छित हुआ होने से उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है।''

टीका में भूताविष्ट और ध्यानाविष्ट व्यक्ति के उदाहरण से परकर्तृत्व का मूल अज्ञान है - यह समझाया गया है।

जब किसी व्यक्ति को भूत-प्रेतादि व्यंतरबाधा हो जाती है, भूत लग जाता है; तो वह ऐसी चेष्टायें करने लगता है कि जो मनुष्यों के जीवन में सामान्यतः नहीं देखी जाती, - ऐसे व्यक्ति को भूताविष्ट कहते हैं।

इसीप्रकार जो व्यक्ति ध्यान के माध्यम से स्वयं को उसरूप अनुभव करने लगता है, जो वह नहीं है, तो उसे ध्यानाविष्ट कहते हैं। टीका में ध्यानाविष्ट का स्वरूप गगनस्पर्शी सींगों वाले भैंसे के ध्यान के माध्यम से समझाया गया है।

कोई पुरुष अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से इसप्रकार के ध्यान में चढ़ गया कि मैं ऐसा भैंसा हूँ कि जिसके सींग इतने लम्बे हैं कि आकाश को छू

लें। वह विचार करता है कि मेरे दोनों सींग आकाश के दोनों कोनों में अड़ गये हैं। अत: अब यदि में अपनी गर्दन को जरा भी हिलाऊँगा तो गर्दन के टूट जाने की संभावना है; क्योंकि सींग तो आकाश के कोनों में इसप्रकार अड़ गये हैं, फंस गये हैं कि उनका हिलना संभव नहीं है। इसप्रकार के विचार में, ध्यान में वह इतना तल्लीन हो गया है, इतना एकाकार हो गया है कि वह स्वयं को सचमुच ही गगनस्पर्शी सींगोंवाला भैंसा मानने लगा है। गर्दन में अत्यन्त पीड़ा होने पर भी वह गर्दन टूट जाने के भय से अपनी गर्दन को नहीं हिलाता और मनुष्योचित मकान के दरवाजे से बाहर भी नहीं निकलता। इसप्रकार के व्यक्ति को यहाँ ध्यानारूढ़ कहा गया है।

आपको उक्त उदाहरण में कुछ अतिशयोक्ति-सी लग सकती है, पर यह बात पूर्णत: सत्य है कि अनादि से यह आत्मा स्वयं जैसा नहीं है, जो नहीं हैं; स्वयं को वैसा और वह मानता आ रहा है और अपनी इस मान्यता में इतना तल्लीन है, इतना एकाकार है कि पर में से एकत्व-ममत्व और पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व को छोड़ना ही नहीं चाहता ।

जिन परपदार्थों से आत्मा का कोई भी संबंध नहीं है; उन्हें अपना मानना, उनका कर्त्ता-भोक्ता अपने को मानना वैसी ही महान भूल है, जैसाकि मनुष्य होने पर भी स्वयं को गगनस्पर्शी सींगों वाला भैसा मानना है।

जिन पदार्थों के साथ इसका मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध था, अर्थात् जो पदार्थ इसके मात्र ज्ञेय थे, जिन्हें यह मात्र जानता ही था; उनमें इसने अपनापन स्थापित कर लिया, उन्हें अपना मान लिया और उनका कर्त्ता-भोक्ता भी अपने को मानने लगा। क्या यह साधारण भूल है ?

यहाँ ज्ञेय पदार्थों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व माननेवाले अज्ञानी के स्वरूप को ध्यानाविष्ट पुरुष के और राग-द्वेष आदि विकारीभावों में एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्थापित करने वाले अज्ञानी के स्वरूप को भूताविष्ट पुरुष के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है।

देखो, भाई ! आचार्यदेव यहाँ कह रहे हैं कि रागादि विकारी भावों में जो तेरा अपनापन है, वह भूताविष्ट पुरुषों जैसा असद्व्यवहार है, अमानुषिक व्यवहार है और पुद्गलादि पर पदार्थों में जो तेरा अपनापन है, वह ध्यानाविष्ट पुरुषों के समान अविवेक है, अमानुषिक आचरण है।

आचार्यदेव इससे अधिक क्या कहें ? वे कह रहे हैं कि भाई ! तुझे रागादि में एकत्वबुद्धि का भूत लग गया है और पर के कर्तृत्वादि का पागलपन सवार हो गया है। तात्पर्य यह है कि जो ऐसा मानता है कि पुद्गलादि परपदार्थ और रागादि विकारी भाव मेरे हैं, मैं इनका कर्त्ता-भोक्ता हूँ; वे लोग पागल हैं और उन्हें भूत लग गया है।

जबतक तेरा यह पागलपन समाप्त नहीं होगा, जबतक तेरे माथे से यह भूत नहीं उतरेगा; तबतक तेरा कल्याण होना संभव नहीं है।

अरे, भाई ! भूताविष्ट और ध्यानाविष्ट व्यक्ति तो कुछ समय के लिए ही पागल से होते हैं, सीमित समय तक ही अनर्गल व्यवहार करते हैं, अमानुषिक आचरण करते हैं; परन्तु परपदार्थों और विकारीभावों में एकत्व-ममत्व करने वाले, उनका कर्त्ता-भोक्ता स्वयं को माननेवाले तो अनादिकाल से पागल हो रहे हैं, अनर्गल व्यवहार कर रहे हैं, अनात्मिक आचरण कर रहे हैं; परिणामस्वरूप अनन्त दु:ख भी उठा रहे हैं और यदि अब भी यह पागलपन नहीं छोड़ा तो न मालूम कब तक इस अपार संसार में भटकते रहेंगे और अनन्त दु:ख पाते रहेंगे।

अत: जिन्हें इस अपार संसार सागर में अनन्तकाल तक अनन्त दु:ख नहीं उठाने हों, वे इस पागलपन को आज ही छोड़ें।

जबतक इस आत्मा पर परपदार्थों और विकार के कर्तृत्व-भोक्तृत्व और एकत्व-ममत्व का पागलपन सवार है, तबतक यह अज्ञानी आत्मा उनका और उनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व का तथा उनके प्रति होनेवाले एकत्व-ममत्व का कर्त्ता-भोक्ता होता है। इसी बात को इस गाथा में इस रूप में व्यक्त किया गया है

कि रागादि सविकार-चैतन्य-परिणामों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व माननेवाला अज्ञानी आत्मा उन रागादि का एवं उनमें एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप परिणामों का कर्त्ता होता है और धर्मास्तिकाय आदि परद्रव्यों में, ज्ञेय पदार्थों में ममत्व-एकत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व भावरूप सोपाधिक भावों में परिणित अज्ञानी आत्मा अपने उन सोपादिक भावों का कर्त्ता होता है।

इसप्रकार यह आत्मा अपने सविकारचैतन्यपरिणामों का कर्त्ता भूताविष्ट पुरुषों की भाँति और अपने सोपाधिकचैतन्यपरिणामों का कर्त्ता ध्यानाविष्ट पुरुषों की भाँति होता है; किन्तु पर का कर्त्ता तो अज्ञानी आत्मा भी कदापि नहीं होता।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

''यहाँ कहते हैं - भाई ! तू अपनी त्रिकाली चैतन्यरूप वस्तु को भूलकर राग व परद्रव्य में एकाकार हुआ है तथा पुण्य-पाप के भावों को एवं परद्रव्य को अपना मानता है। तेरी यह चेष्टा भूताविष्ट पुरुष जैसी है।[१]

परद्रव्य के विचार में वह इतना एकाकार हो गया है कि 'मैं शुद्ध चैतन्यरूप ज्ञायक आत्मा हूँ' - इस बात को बिल्कुल भूल गया है तथा स्वय को परद्रव्य स्वरूप ही मानने लगा है। इसप्रकार स्वयं को भूलकर परद्रव्य के ध्यान में मशगूल होने से अब उसको परद्रव्य से छूटना अत्यन्त कठिन हो गया है।[२]

अज्ञानी परज्ञेयरूप धर्मादि द्रव्यों को भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है। जो छह द्रव्यों के विचार के विकल्प में एकाकारपने तल्लीन होता है, वह परद्रव्य को अपना मानता है।[३]

अनन्त परद्रव्य ज्ञेय हैं तथा भगवान आत्मा ज्ञायक हैं। ज्ञानी अनन्त परज्ञेयों को जानता हुआ ज्ञाता रहता है और अज्ञानी ज्ञेय व ज्ञायक को एकरूप करता

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ४, पृष्ठ ६३
२. वही, पृष्ठ ६६
३. वही, पृष्ठ ७२

हुआ, शुभाशुभ विकल्पों को उत्पन्न करता हुआ, उन सविकार व सोपाधिक चैतन्यपरिणामों का कर्त्ता होता है।

क्रोधादिक भाव सविकारचैतन्यपरिणाम हैं तथा 'धर्मस्तिकाय आदि छह द्रव्य मेरे हैं' - ऐसा माने तो वह मानना सोपाधिकचैतन्यपरिणाम है। अज्ञानी राग को अपना मानता हुआ, उसका कर्त्ता होता है और 'परद्रव्य मेरा है' - ऐसा मानता हुआ, मिथ्या-मान्यता का कर्त्ता होता है, किन्तु परद्रव्य का कर्त्ता तो कोई भी जीव कभी हो ही नहीं सकता।[१]''

सोपाधिभावों के कर्तृत्व के सम्बन्ध में आत्मख्याति में तीन कारण दिये गये हैं, जो इसप्रकार हैं -

(१) मन के विषयभूत धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एवं अन्य जीवों के द्वारा अपनी चैतन्य धातु रुकी हुई होने से, (२) इन्द्रियों के विषयभूत रूपी पदार्थों के द्वारा अपना केवलबोध ढंका हुआ होने से और (३) मृतक शरीर के द्वारा परम-अमृतरूप विज्ञानघन मूर्छित हुआ होने से; - यह भगवान आत्मा सोपाधिक भावों का कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

देखो, यहाँ यह कहा जा रहा है कि पहले तो मन के विषयभूत धर्मादि द्रव्यों के विचार में यह आत्मा इतना व्यस्त है कि उसे स्वयं को जानने का अवसर ही नहीं है; दूसरे इन्द्रियों के विषयभूत रूपी पदार्थों में ज्ञान की व्यस्तता के कारण भी अपना केवलज्ञानस्वभाव ढंका हुआ है और तीसरे यह भगवान आत्मा इस मृतक शरीर में इतना आसक्त है कि अमृतस्वरूप यह ज्ञान का घनपिंड मूर्च्छित ही हो गया है।

देखो, यहाँ जिन्दा शरीर को भी मृतक शरीर ही कहा गया है। वस्तुतः शरीर तो मृतक ही है; क्योंकि उसमें जीवन है ही कहाँ ? जीवन तो जीव का धर्म है, जीव का स्वभाव है, वह शरीर में कैसे हो सकता है। अतः शरीर तो मुर्दा ही है। मुर्दा या मुर्दा जैसे इस शरीर में अपनेपन के कारण आनन्दामृत का पिण्ड

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ४, पृष्ठ ७२-७३

यह भगवान आत्मा पागल-सा हो रहा है और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों के भोगने और जानने में तथा मन के विषयभूत धर्मादि द्रव्यों के विचार में इतना मग्न हो गया है कि इसे स्वयं के जानने का अवसर ही नहीं है, भाव भी नहीं है, जिज्ञासा भी नहीं है, कौतुहल भी नहीं है।

इसप्रकार मन और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों और शरीर में मग्न यह अज्ञानी आत्मा परपदार्थों का नहीं, पर उनके कर्तृत्वादिभावों का कर्त्ता अवश्य होता है।

देखो, मन में उठनेवाले धर्मादि द्रव्यों के विचार भी बंध के कारण हैं - यहाँ यह कहा जा रहा है। जब उक्त विचारों से भी चैतन्यज्योति रुकी हुई है तो फिर इन्द्रियज्ञान और शरीर में एकत्व की तो बात ही क्या करना ?

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब धर्मादि द्रव्यों का विचार भी बन्ध का कारण है तो क्या इनका विचार भी नहीं करना चाहिए ?

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में इसीप्रकार का प्रश्न उपस्थित कर, उसका सुन्दरतम समाधान प्रस्तुत किया है; जो इसप्रकार है -

"इस पर यदि कोई ऐसा कहे कि हे भगवन् ! 'यह धर्मास्तिकाय है, यह जीव है' - इत्यादि ज्ञेयतत्वों का विचाररूप विकल्प करने पर भी यदि कर्मों का बंध होता है तो फिर ज्ञेयतत्वों का विचार करना भी वृथा है; अतः वह नहीं करना चाहिए।

इस पर आचार्यदेव उत्तर देते हुए कहते हैं कि नहीं भाई ! ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि यद्यपि त्रिगुप्तिरूपपरिणतसमाधि के काल में ऐसे विकल्प करना योग्य नहीं है; तथापि उक्त त्रिगुप्तिरूप ध्यान के अभाव में शुद्धात्मा को उपादेय करके, आगमभाषा में मोक्ष को उपादेय करके सरागसम्यक्त्व के काल में विषय-कषाय से बचने के लिए धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेयतत्वों का विचार भी करना ही चाहिए; क्योंकि उक्त तत्वविचार से मुख्यरूप से तो पुण्यबंध ही होता है, किन्तु परम्परा से निर्वाण भी होता है। इसकारण ऐसा विचार करने

में कोई दोष नहीं है; किन्तु यह बात अवश्य है कि उक्त तत्त्वविचार के काल में भी वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणत शुद्धात्मा ही साक्षात् उपादेय करना चाहिए - ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ शिष्य फिर प्रश्न उपस्थित करता है कि हे भगवन ! 'वीतराग स्वसंवेदनज्ञान के विचारकाल में' - इस वाक्य में आप प्रचुरता से बार-बार 'वीतराग' विशेषण का प्रयोग करते हैं, - इसका क्या कारण है ? क्या कोई सरागस्वसंवेदनज्ञान भी होता है ?

इसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि हाँ, भाई ! विषयसुखानुभव के आनन्दरूप स्वसंवेदनज्ञान सर्वजन प्रसिद्ध ही है, वह सराग होता है; किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभवरूप स्वसंवेदनज्ञान है, वह वीतराग ही होता है।

स्वसंवेदनज्ञान के व्याख्यान के काल में इसीप्रकार का व्याख्यान सर्वत्र ही जानना चाहिए - यह भावार्थ है।''

उक्त कथन में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ लौकिक सुख के संवेदन को सरागस्वसंवेदन और अतीन्द्रिय आत्मीक आनंद के संवेदन को वीतरागस्वसंवेदन कहा गया है। साथ ही यह आदेश भी दिया गया है कि जहाँ-जहाँ स्वसंवेदनज्ञान के व्याख्यान का प्रसंग हो, वहाँ-वहाँ सर्वत्र ही सरागस्वसंवदेन और वीतरागस्वसंवेदन का यही अर्थ करना चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण मंथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि पर और विकार के कर्तृत्व की मान्यता का मूल अज्ञान है, वीतरागस्वसंवेदनज्ञान का अभाव है। अब आगामी गाथा में यह कहते हैं कि यह कर्तृत्व की मान्यता ज्ञान से ही नष्ट होगी, वीतरागस्वसंवेदनज्ञान से ही नष्ट होगी। •

बुद्धि भी भवितव्य का अनुशरण करती है। जब खोटा समय आता है तो बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि पर भी पत्थर पड़ जाते हैं। - आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ६८

समयसार गाथा ९७

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुञ्चदि सव्वकत्तित्तं ॥९७॥

बस इसतरह कर्त्ता कहें, परमार्थ ज्ञायक आतमा ।
जो जानते यह तथ्य वे छोड़े सकल कर्त्तापना ॥९७॥

इसकारण निश्चयनय के विशेषज्ञ ज्ञानियों ने उक्त आत्मा को कर्त्ता कहा है - निश्चयनय से जो ऐसा जानता है, वह सर्वकर्तृत्व को छोड़ देता है।

इस गाथा का भाव आ० अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"यह आत्मा अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व का आत्मविकल्प करता है, इसकारण वह निश्चय से कर्त्ता प्रतिभासित होता है। - जो ऐसा जानता है, वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है; इसलिए वह निश्चय से अकर्त्ता प्रतिभासित होता है। अब इसी बात को विशेष समझाते हैं -

अनादि से ही संकुचित भेदसंवेदनशक्तिवाला यह आत्मा अज्ञान के कारण आरम्भ से ही मिश्रित स्वाद का स्वादन होने से, पुद्गल कर्म और आत्मा का एकमेकरूप मिश्र अनुभव होने से स्व-पर को एकरूप जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ।' इत्यादि आत्मविकल्प करता है। इसकारण निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट होता हुआ, बारम्बार अनेक विकल्पोंरूप परिणमित होता हुआ कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

और जब यह आत्मा ज्ञानी होता है, तब ज्ञान के कारण पुद्गल कर्म और अपने स्वाद का भिन्न-भिन्न अनुभव होने के कारण भेदसंवेदनशक्ति से सम्पन्न होता हुआ यह जानता है कि 'अनादिनिधन, निरन्तर स्वाद में आने वाला, समस्त अन्य रसों से विलक्षण अत्यन्त मधुर चैतन्य रसवाला आत्मा और कषायों में एकत्व का अध्यास अज्ञान के कारण होता है। इसप्रकार पर को

और स्वयं को भिन्न-भिन्न जानकर यह आत्मा 'मैं एक अकृत्रिम ज्ञान ही हूँ, कृत्रिम क्रोधादि नहीं' - ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प किंचित् मात्र भी नहीं करता, इसकारण समस्त कर्त्तृत्व को छोड़ देता है, इसलिए सदा ही उदासीन होता हुआ मात्र जानता रहता है, अतः निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्त्ता प्रतिभासित होता है।"

उक्त टीका का तात्पर्य अत्यन्त संक्षेप में स्पष्ट करते हुए पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"जो परद्रव्य के और परद्रव्य के भावों के कर्त्तृत्व को अज्ञान जानता है, वह स्वयं कर्त्ता क्यों बनेगा ? यदि अज्ञानी बना रहना हो तो पर द्रव्य का कर्त्ता बनेगा, इसलिए ज्ञान होने के बाद परद्रव्य का कर्त्तृत्व नहीं रहता।"

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ज्ञानी को आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के साथ-साथ लौकिक सुख-दुःख और भूमिकानुसार विद्यमान कषायों का भी वेदन होता है।

हाँ, होता है, अवश्य होता है; क्योंकि यदि उसको अकेले आत्मा का ही वेदन हो तो फिर वह यह कैसे जानेगा कि ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा अलग है और ये क्रोधादि भाव अलग हैं ? दोनों को भिन्न-भिन्न जानने को ही तो भेदविज्ञान कहते हैं। यहाँ तो स्पष्ट ही लिखा है कि भेदसंवेदनशक्ति प्रगट हो गई है जिसकी, ऐसा आत्मा और क्रोधादि को भिन्न-भिन्न जानता है।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी के विचार भी दृष्टव्य हैं -

"यदि कोई ऐसा कहे कि ज्ञानी को तो दुःख का वेदन है ही नहीं, तो उसकी यह बात सही नहीं है। भूमिकानुसार ज्ञानी को ज्ञान व आनन्द का वेदन भी है तथा दुःख का वेदन भी है; किन्तु दोनों का पृथक्-पृथक् वेदन होता है, एकरूप नहीं।

द्रव्यानुयोग में अध्यात्मतत्त्व की मुख्यता से जहाँ दृष्टि के विषय का निरूपण होता है, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि 'ज्ञानी को आनन्द का ही वेदन है'; किन्तु वहाँ इस कथन में राग गौण रहता है और जहां ज्ञान की प्रधानता

से बात कही जाती है, वहां ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी को ज्ञान का, आनन्द का तथा राग-दु:ख का दोनों का पृथक्-पृथक् वेदन होता है।

देखो ! केवली को अकेला ज्ञान व आनन्द का वेदन होता है तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को अकेले राग व दु:ख का वेदन होता है और समकिती ज्ञानी को ज्ञानानन्द एवं राग का भिन्न-भिन्न स्वाद आता है। ज्ञानी को जब से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हुआ, तभी से उसे स्वरूपसंवेदन से प्राप्त आनन्द के स्वाद का एवं पर्याय में विद्यमान अल्प राग के स्वाद का पृथक्-पृथक् अनुभव होता है। ज्ञानी एक समय में दोनों के स्वाद को भिन्न-भिन्न रूप से अनुभव करता है। अहा ! जबतक पूर्ण वीतरागता व पूर्ण आनन्द की प्राप्ति न हो, तबतक ज्ञानी को वीतराग परिणति से प्राप्त आनन्द के साथ जितना राग है, उतने दु:ख का भी भिन्नपने अनुभव होता है। ज्ञानी को अकेले आनन्द का ही स्वाद आता हो - ऐसा नहीं है।[१]"

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यद्यपि ज्ञानी को लौकिक सुख-दुख का भी वेदन होता है; तथापि वे उन्हें अपने आत्मस्वभाव से भिन्न ही जानते हैं।

उक्त गाथा में बल देकर यह बात कही गई है कि जब यह आत्मा यह जान लेता है कि बंध के कारणभूत इस कर्तृत्व का मूल अज्ञान है तो वह समस्त पर कर्तृत्व को सहज ही छोड़ देता है।

'कर्तृत्व का मूल अज्ञान है' इस बात को ८७वीं गाथा से ९७वीं गाथा तक विविध प्रकार से विविध युक्तियों द्वारा विस्तार से समझाया गया है।

अब उक्त ग्यारह गाथाओं के भव्य भवन पर आचार्य अमृतचन्द्र छह कलश चढ़ाते हैं; जिनमें मुख्यरूप से यही कहा जाने वाला है कि इस जगत में जो कुछ अप्रशस्त है, असुन्दर है; वह सब अज्ञान के कारण ही है और जो कुछ प्रशस्त, सुन्दर व सुखद होता है; उसका मूल कारण एकमात्र सद्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ८४

उक्त कलशों में पहला कलश इसप्रकार है –

(बसन्ततिलका)

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥५७॥

(कुण्डलिया)

नाज सम्मिलित घास को, ज्यों खावे गजराज ।
भिन्न स्वाद जाने नहीं, समझे मीठी घास ॥
समझे मीठी घास नाज को न पहिचाने ।
त्यों अज्ञानी जीव निजातम स्वाद न जाने ॥
पुण्य-पाप में धार एकता शून्य हिया है ।
अरे शिखरणी पी माने गो दूध पिया है ॥५७॥

निश्चय से स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी अज्ञान के कारण जो जीव घास के साथ एकमेक हुए स्वादिष्ट भोजन को खाने वाले हाथी आदि पशुओं की भांति राग करता है, राग और आत्मा का मिला हुआ स्वाद लेता है; वह दही और इक्षुरस (गन्ने का रस, गुड़, चीनी) के खट्टे-मीठे स्वाद की अतिलोलुपता से शिखरणी (श्रीखण्ड) को पीकर भी 'मैं तो गाय का दूध पी रहा हूँ' – ऐसा माननेवाले पुरुष के समान अज्ञानी है।

कविवर बनारसीदासजी ने इस छन्द का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

जैसैं गजराज नाज घास के गरास करि,
भच्छत सुभाय नहि भिन्न रस लीयौ है ।
जैसैं मतवारौ नहि जानै सिखरनि स्वाद,
जुंग में गगन कहै गऊ दूध पीयौ है ॥

तैसैं मिथ्यादृष्टि जीव ग्यानरूपी है सदीव,
पग्यौ पाप-पुन्नसौं सहज सुन्न हीयौ है ।
चेतन अचेतन दुहूंकौ मिश्र पिंड लखि,
एकमेक मानै न विवेक कछु कीयौ है ॥

जिसप्रकार हाथी अनाज और घास के मिश्रण से बने हुए भोजन को खाता हुआ भी, भक्षण करने का ही स्वभाव होने से अनाज और घास के भिन्न-भिन्न स्वाद को नहीं जानता है तथा जिसप्रकार शिखरणी (श्रीखंड) का स्वाद नहीं जानने वाला कोई मतवाला (अर्द्धविक्षिप्त-आधा पागल) शिखरणी पीकर भी उसके नशे में धुत्त होकर कहता है कि मैंने गाय का दूध पिया है। वह दूध के स्वाद को नहीं जानने के कारण शिखरणी के स्वाद को दूध का ही स्वाद समझता है।

उक्त हाथी और मतवाले व्यक्ति के समान ही मिथ्यादृष्टि जीव भी यद्यपि सदा ही ज्ञानस्वभावी है, तथापि पुण्य-पाप में पड़ा होने से, पुण्य-पाप भावों में एकत्व का अभ्यास होने से आत्मज्ञान से शून्य हृदय वाला है। इसकारण चेतन आत्मा और अचेतन शरीरादिक व रागादि के मिश्रित रूप को देखकर, उन्हें एकमेक ही मान लेता है, कुछ भी विवेक नहीं करता।

यद्यपि मूल कलश में 'हाथी' और 'अनाज' शब्द का पर्यायवाची कोई शब्द नहीं है, तथापि कलश टीका में भावार्थ के रूप में इनका उदाहरण देकर समझाया गया है। उसी को आधार बनाकर बनारसीदासजी ने 'नाज' और 'गजराज' शब्दों का उपयोग कर बात को स्पष्ट किया है। सहजबोधगम्य होने से मैंने भी पद्यानुवाद में उनका उपयोग कर लिया है।

मूल छन्द में **'सतृणाभ्यवहारकारी'** पद है, जिसका सीधा-सच्चा अर्थ होता है - तिनकों के साथ अन्य पदार्थों के मिश्रण का आहार करनेवाला। चूँकि तिनका घास है और घास खाने वाले पशु ही होते हैं, अत: यहाँ अन्य स्वादिष्ट पदार्थों के साथ घास मिलाकर खानेवाला पशु अर्थ ही उपयुक्त है; तथापि हाथी भी तो एक पशु ही है, अत: पशु के अर्थ में उदाहरण के रूप में हाथी का उपयोग कर लेना भी अयुक्त नहीं है।

वस्तुतः बात यह है कि उक्त छन्द में चेतन अपनी आत्मा और शरीरादि व पुण्य-पाप के भावरूप रागादि भावों को एक मानकर उनमें अपनत्व स्थापित करनेवाले अज्ञानी की उपमा घास और स्वादिष्ट आहार के मिश्रण को खाने वाले पशु और शिखरणी पीने वाले आधे पागल पुरुष से दी गई है, उसे आधा पागल मनुष्य या अविवेकी पशु बताया गया है; साथ ही यह भी कहा गया है कि यद्यपि स्वभाव से तो यह आत्मा ज्ञानस्वभावी ही है; तथापि अज्ञान के कारण, भेदज्ञान के अभाव के कारण इसकी यह दुर्दशा हो रही है।

उक्त कलश में तो यह कहा गया है कि यह आत्मा अज्ञान के कारण पर में तथा रागादि में एकत्व मानता है और अब आगामी कलश में यह कह रहे हैं कि शुद्धज्ञानमय होकर भी यह आत्मा पर का और रागादिभावों का कर्त्ता बनकर आकुलित हो रहा है।

कलश मूलतः इसप्रकार है।

(शार्दूल विक्रीड़ित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा ।
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥५८॥

(हरिगीत)

अज्ञान से ही भागते मृग रेत को जल जानकर ।
अज्ञान से ही डरे तम में रस्सी विषधर मानकर ॥
ज्ञानमय है जीव पर अज्ञान के कारण अहो ।
बातोद्वेलित उदधिवत कर्त्ता बने आकुलित हो ॥५८॥

जिसप्रकार अज्ञान के कारण मृगमरीचिका में जल की बुद्धि होने से मृग उसे पीने को दौड़ते हैं और अज्ञान से ही अंधकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का अध्यास होने से लोग भय से भागते हैं; उसीप्रकार शुद्धज्ञानमय होने पर भी यह जीव अज्ञान के कारण पवन से तरंगित समुद्र की भाँति विकल्पों के समूह को करने से आकुलित होते हुए अपने आप ही पर के कर्त्ता होते हैं।

कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में उक्त छन्द का भावानुवाद इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

जैसैं महाधूप की तपनि मैं तिसायौ मृग,
भरम सौं मिथ्याजल पीवन कौं धायौ है ।
जैसैं अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर,
भरम सौं डरपि सरप मानि आयौ है ॥
अपनैं सुभाव जैसैं सागर सुथिर सदा,
पवन-संजोग सौं उछरि अकुलायौ है ।
तैसैं जीव जड़ सौं अव्यापक सहज रूप,
भरम सौं करम कौ करता कहायौ है ॥

जिसप्रकार तेज धूप की तपन से संतप्त प्यासा मृग भ्रम से रेगिस्तानी बालू को पानी समझकर पीने के लिए दौड़ता है और अंधकार में पड़ी हुई रस्सी को देखकर भ्रम से सर्प मानकर डरकर लोग भागते हैं, तथा स्वभाव से सुस्थिर होने पर भी सागर पवन के संयोग से उछलता है, आकुलित होता है; उसीप्रकार सहजरूप से ही जड़ पदार्थों से भिन्न यह आत्मा भ्रम के कारण कर्मों का कर्त्ता बनता है, कर्मों का कर्त्ता कहा जाता है।

उक्त छन्द में अनेक उदाहरण देकर यह समझाने का प्रयास किया गया है कि ज्ञानस्वभावी यह आत्मा अज्ञान के कारण ही पर पदार्थों और विकारी भावों का कर्त्ता बनकर आकुलित होता है।

रेगिस्तानी जमीन पर सूर्य की किरणों के पड़ने से बालू चमकती है और जल जैसी लगती है। उसे देख मृगों को यह भ्रम हो जाता है कि दूरस्थ प्रदेश में जल है। प्यासे मृग पानी पीने की इच्छा से उस दिशा में दौड़ते हैं; पर वहाँ कुछ भी प्राप्त नहीं होता। वहां से फिर आगे जल जैसा दिखाई देने लगता है। इसकारण मृग फिर दौड़ते हैं। इसप्रकार भयंकर गर्मी में प्यास बुझाने की भावना से मृगों का दौड़ना चालू रहता है। उक्त स्थिति यहां तक बनती है कि मृगों का मरण तक हो जाता है। इसे ही मृगमरीचिका कहते हैं।

यह सब अज्ञान के कारण ही होता है। इसीप्रकार अंधकार में पड़ी हुई रस्सी को सांप समझकर डरकर भागना भी अज्ञान के कारण ही होता है।

यहाँ यह बताया गया है कि जिसप्रकार मृगमरीचिका में पड़े मृग भयंकर गर्मी में आकुलित होकर भागते है और अंधकार में पड़ी रस्सी को सर्प समझकर लोग आकुलित होकर भागते हैं; उसीप्रकार ज्ञानस्वभावी यह भगवान आत्मा अज्ञान के कारण पर की संभाल में दौड़-धूप करता है, धनादि पदार्थों के जुटाने में जीवन के महत्वपूर्ण क्षण बर्बाद करता है, देहादि की अनुकूलता के लिए भक्ष्याभक्ष्य के विचार रहित होकर असद् आचरण करता है और पर पदार्थों और शुभाशुभभावों का कर्त्ता-धर्त्ता बनकर आकुलित होता है।

जिसप्रकार समुद्र स्वभाव से तो शान्त ही है, तथापि वायु के वेग से तरंगित हो जाता है, आन्दोलित हो जाता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी स्वभाव से तो शान्त ही है, तथापि अज्ञान के कारण पर का कर्त्ता बन आकुलित होता है।

उक्त छन्द में अज्ञान के कारण क्या होता है ? - यह बताया गया है और अब आगे के छन्द में यह बताते हैं कि ज्ञान से क्या-क्या होता है।

छन्द मूलतः इसप्रकार है -

(बसंततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषं ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढ़ो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥५९॥

(हरिगीत)

दूध जल में भेद जाने ज्ञान से बस हंस ज्यों ।
सद्ज्ञान से अपना-पराया भेद जाने जीव त्यों ॥
जानता तो है सभी करता नहीं कुछ आतमा ।
चैतन्य में आरूढ़ नित ही यह अचल परमातमा ॥५९॥

जिसप्रकार हंस दूध और पानी में अन्तर को जान लेता है, उसीप्रकार जो जीव ज्ञान के कारण विवेक वाला होने से आत्मा और पर पदार्थों के भेद को जान लेता है; वह अचल चैतन्यधातु में सदा आरूढ़ होता हुआ, उसका आश्रय लेता हुआ मात्र जानता ही है, किंचित् मात्र भी कर्त्ता नहीं होता। तात्पर्य यह है कि स्व-पर के भेद को जाननेवाला ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं।

उक्त छन्द का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया गया है –

(सवैया इकतीसा)

जैसैं राजहंस के बदन के सपरसत,
देखिये प्रगट न्यारौ छीर न्यारौ नीर है ।
तैसैं समकिती की सुदृष्टि मैं सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही सरीर है ॥
जब सुद्ध चेतन कौ अनुभौ अभ्यासै तब,
भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है ।
पूरव करम उदै आइकै दिखाई देइ,
करता न होय तिन्हकौ तमासगीर है ॥

जिसप्रकार हंस के मुख का स्पर्श होने पर मिले हुए दूध और पानी अलग-अलग हो जाते हैं, अलग-अलग दिखाई देने लगते हैं; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टिजीवों की सुदृष्टि में सहज रूप से ही शरीर, कर्म और आत्मा अलग-अलग दिखाई देने लगते हैं। जब शुद्ध चैतन्य आत्मा के अनुभव का अभ्यास होता है, तब दूसरे पदार्थ की साझेदारी के बिना अकेला अचल आत्मा ही प्रतिभासित होता है। यद्यपि उदयागत पूर्व कर्म भी दिखाई देते हैं; तथापि यह आत्मा उनका कर्त्ता नहीं बनता, अपितु उनका तमारागीर ही रहता है, तमाशा देखनेवाला ही रहता है, ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है।

हंस की चोंच में कुछ खटास रहती है। इसकारण जब वह दूध पीने के लिए उसमें अपनी चोंच डालता है तो दूध फट जाता है। इसतरह दूध अलग और पानी अलग हो जाता है। हंस की इस विशेषता के कारण साहित्यजगत में यह प्रसिद्ध है कि हंस में दूध और पानी को अलग-अलग कर देने की अपार

क्षमता है। इसकारण हंस को क्षीर-नीर विवेकी भी कहा जाता है। जो व्यक्ति भले-बुरे की पहिचान करने में समर्थ होता है, असली-नकली का भेद समझने में चतुर होता है; उसे हंस की उपमा दी जाती है और उसे भी क्षीर-नीर विवेकी कहा जाता है।

यही कारण है कि यहाँ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा को जान लेने के कारण क्षीर-नीर विवेकी कहा जा रहा है, साथ में यह भी कहा जा रहा है कि ज्ञानी आत्मा शरीर, कर्म और कर्मोदयजन्य विकारी भावों को जानता तो है, पर करता नहीं है; उनका तमाशगीर ही रहता है, उनका तमाशा देखने वाला ही रहता है, ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं बनता।

आगामी कलश में भी ज्ञान की महिमा बताते हुए कहते हैं -

(मन्दाक्रान्ता)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥६०॥

(अडिल्ल छन्द)

उष्णोदक में उष्णता है अग्नि की ।
और शीतलता सहज ही नीर की ॥
व्यंजनों में है नमक का क्षारपन ।
ज्ञान ही यह जानता है विज्ञजन ॥
क्रोधादिक के कर्त्तापन को छेदता ।
अहंबुद्धि के मिथ्यातम को भेदता ॥
इसी ज्ञान में प्रगटे निज शुद्धात्मा ।
अपने रस से भरा हुआ यह आतमा ॥६०॥

गर्म पानी में अग्नि की उष्णता और पानी की शीतलता का भेद ज्ञान से ही प्रगट होता है और नमक के स्वादभेद का निरसन ज्ञान से ही होता है। तात्पर्य

यह है कि ज्ञान में ही ऐसी शक्ति है कि वह साग में पड़े नमक का सामान्य स्वाद जान लेता है। इसीप्रकार निजरस से विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातु और क्रोधादिभावों का परस्पर भेद भी ज्ञान ही जानता है और क्रोधादिक के कर्तृत्व को भेदता हुआ ज्ञान ही प्रगट होता है।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया गया है –

(सवैया इकतीसा)

जैसैं उसनोदक मैं उदक-सुभाव सीरौ,
आग की उसनता फरस ग्यान लखियै।
जैसैं स्वाद व्यजंन मैं दीसत विविधरूप,
लौन कौ सुवाद खारौ जीभ-ग्यान चखियै॥
तैसैं घट पिंड मैं विभावता अग्यानरूप,
ग्यानरूप जीव भेद-ग्यानसौं परखियै।
भरमसौं करम कौ करता है चिदानंद,
दरब विचार करतार भाव नखियै॥

जिसप्रकार शीतलस्वभाववाले गर्मजल की अग्निजनित उष्णता स्पर्श ज्ञान से ही जानी जाती है तथा विविध स्वाद वाले व्यंजनों में नमक का खारा स्वाद रसना इन्द्रिय से चख लिया जाता है, रसना इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान से जान लिया जाता है; उसीप्रकार इस घटपिंड में अज्ञानरूप विभाव और ज्ञानस्वरूपी आत्मा भेदज्ञान से परख लिये जाते हैं, भिन्न-भिन्न जान लिए जाते हैं। यह चिदानन्द भगवान आत्मा भ्रम के कारण ही कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है; द्रव्य का विचार करने पर, द्रव्यदृष्टि से देखने पर यह कर्तृत्वभाव सहज ही नष्ट हो जाता है।

उक्त छन्द में भी ज्ञान की ही महिमा बताई गई है। कहा गया है कि खोलते हुए गर्म पानी का भी स्वभाव तो शीतल ही है, उसमें जो गर्मी है, वह पानी की नहीं, अग्नि की है। इस बात को ज्ञान ही तो जानता है। इसीप्रकार साग में मिश्रित नमक के खारेपन को भी ज्ञान ही तो जानता है।

उक्त दो उदाहरण तो ज्ञान के भेदक स्वभाव को समझाने के लिए दिये गये हैं। समझने-समझाने की मूल बात तो यह है कि निजस्वरूपग्राही ज्ञान में

ही यह सामर्थ्य है कि वह रागादिरूप परिणत आत्मा में भी रागादि भिन्न हैं और आत्मा भिन्न है – यह बात जानता है और पर के कर्तृत्व को भेदता हुआ भी निजस्वरूपग्राही ज्ञान ही प्रगट होता है।

कलश में तो 'ज्ञान' शब्द का ही प्रयोग है, पर कलश टीका में पाण्डे राजमलजी उसे 'निजस्वरूपग्राहीज्ञान' पद से संबोधित करते हैं। वस्तुत: वह ज्ञान निजस्वरूपग्राही ज्ञान ही है; क्योंकि निजस्वरूपग्राही ज्ञान से ही निज भगवान आत्मा जानने में आता है।

अब आगामी प्रकरण की सूचना देने वाले दो कलश हैं, जिनमें कहा गया है कि आत्मा अपने भावों का ही कर्त्ता है, पर का नहीं। उसे पर का कर्त्ता कहना व्यवहारीजनों का मोह है।

वे कलश मूलत: इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य पर भावस्य न क्वचित् ॥ ६१ ॥
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ ६२ ॥

(सोरठा)

करे निजातम भाव, ज्ञान और अज्ञानमय ।
करे न पर के भाव, ज्ञानस्वभावी आतमा ॥ ६१ ॥
ज्ञानस्वभावी जीव, करे ज्ञान से भिन्न क्या ?
कर्त्ता पर का जीव, जगतजनों का मोह यह ॥ ६२ ॥

इसप्रकार निश्चय से अपने को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ यह आत्मा अपने ही भाव का कर्त्ता है, परभाव का कर्त्ता कदापि नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; अत: वह ज्ञान के अतिरिक्त और क्या करे ? आत्मा परभाव का कर्ता है – ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का मोह है, अज्ञान है।

इन छन्दों का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया गया है -

ग्यानभाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान ।
दर्वकर्म पुद्गल करै, यह निहचै परवान ॥
ग्यानसरूपी आतमा, करै ग्यान नहि और ।
दरब करम चेतन करै यह विवहारी दौर ॥

अपने ज्ञान भावों का कर्त्ता ज्ञानी आत्मा है और अपने अज्ञानभावों का कर्त्ता अज्ञानी आत्मा है तथा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता कार्माणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य है। इसप्रकार निश्चय से जानना चाहिए।

ज्ञानस्वभावी आत्मा तो ज्ञान ही करता है, अन्य कुछ नहीं करता। द्रव्यकर्मों को चेतन करता है - यह व्यवहार का कथन है।

पाण्डे राजमलजी कलशटीका में उक्त कथन का भाव स्पष्ट करते हुए लिखते हैं -

"जीवद्रव्य अशुद्धचेतनारूप परिणमता है, शुद्धचेतनारूप परिणमता है; इसलिए जिसकाल में जिस चेतनारूप परिणमता है, उस काल में उसी चेतना के साथ व्याप्य-व्यापकरूप है; इसलिए उस काल में उसी चेतना का कर्त्ता है। तो भी पुद्गलपिण्ड रूप जो ज्ञानवरणादि कर्म है, उनके साथ तो व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है, इसलिए उनका कर्त्ता नहीं है।"

प्रश्न - आत्मख्याति के छन्द में तो यही कहा गया है कि आत्मा अपने ज्ञानरूप और अज्ञानरूप भावों का ही कर्त्ता है, पर का कर्त्ता कदापि नहीं; किन्तु नाटक समयसार के भावानुवाद में ऐसा कहा है कि ज्ञानरूपभावों का कर्त्ता ज्ञानी आत्मा है और अज्ञानरूप भावों का कर्त्ता अज्ञानी आत्मा है तथा द्रव्य-कर्मों का कर्त्ता पुद्गलद्रव्य है। - यह अन्तर क्यों है ?

उत्तर - ऐसे अन्तर को देखकर ही तो हम इसे भावानुवाद कहते हैं। आत्मख्याति के कलश में सामान्य कथन करके आत्मा को अपने ज्ञान-अज्ञान भावों का कर्त्ता ही बताया है; न तो आत्मा के ज्ञानी और अज्ञानी भेद किये हैं और न यह ही बताया कि उन भावों में ज्ञानी किसका कर्त्ता है और अज्ञानी

किसका? जबकि बनारसीदासजी ने आत्मा को ज्ञानी-अज्ञानी भेदों में विभाजित करके ज्ञानी को ज्ञानभावों का और अज्ञानी को अज्ञान भावों का कर्त्ता बता दिया।

इसीप्रकार मूल श्लोक में तो मात्र इतना ही कहा कि आत्मा पर का कर्त्ता नहीं है, जबकि बनारसीदासजी ने उन्हीं के भाव को स्पष्ट करते हुए यह भी बता दिया कि पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता पुद्गल है।

यह तो बनारसीदासजी की विशेषता है कि उन्होंने उतने ही छोटे से छन्द में उनके ही भाव को अधिक विस्तार से स्पष्ट कर दिया है।

दूसरे छन्द में उसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्यदेव पाठकों से प्रश्न करते हैं कि जब आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है तो फिर ज्ञान के अतिरिक्त और क्या करे ? ज्ञान का काम तो ज्ञान करना ही है।

'आत्मा परभावों का कर्त्ता है' - ऐसा मानना तो व्यवहारीजनों का मोह ही है। देखो ! यहाँ ऐसा नहीं कहा कि आत्मा परभावों का कर्त्ता व्यवहार से है; अपितु यह कहा है कि यह तो व्यवहारीजनों का मोह है। - ऐसा कहकर आचार्यदेव व्यवहार कथन की असत्यार्थता की ओर संकेत कर रहे हैं।

इस बात को आगामी गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं ही विस्तार से स्पष्ट करने वाले हैं। अतः यहाँ अधिक कुछ कहना अभीष्ट नहीं है।

व्यवहारनय की उपयोगिता, सत्यार्थता और असत्यार्थता के बारे में लेखक की अन्य कृति परमभावप्रकाशक नयचक्र में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जिन आत्मार्थी बन्धुओं को उक्त संदर्भ में विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें परमभावप्रकाशक नयचक्र के पृष्ठ १३३ से १४० तक का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। ●

जबतक स्वयं परखने की दृष्टि न हो, उधार की बुद्धि से कुछ लाभ नहीं होता। - आप कुछ बी कहो, पृष्ठ ६८

समयसार गाथा ९८ से १००

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरधाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥
जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥
जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

व्यवहार से यह आतमा घटपटरथादिक द्रव्य का ।
इन्द्रियों का कर्म का नोकर्म का कर्ता कहा ॥९८॥
परद्रव्यमय हो जाय यदि परद्रव्य में कुछ भी करे ।
परद्रव्यमय होता नहीं बस इसलिए कर्ता नहीं ॥९९॥
ना घट करे ना पट करे ना अन्य द्रव्यों को करे ।
कर्ता कहा तत्रूपपरिणत योग अर उपयोग का ॥१००॥

व्यवहार से आत्मा घट-पट-रथ इत्यादि वस्तुओं को, इन्द्रियों को, अनेक प्रकार के क्रोधादि द्रव्यकर्मों को और शरीरादि नोकर्मों को करता है।

यदि आत्मा निश्चय से भी परद्रव्यों को करे तो वह नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जावे, किन्तु वह तन्मय (परद्रव्यमय) नहीं है, इसलिए वह उनका कर्त्ता भी नहीं है।

आत्मा घट को नहीं करता, पट को नहीं करता और शेष अन्य द्रव्यों को भी नहीं करता; किन्तु जीव घट-पट को करने के विकल्पवाले अपने योग और उपयोग का कर्त्ता अवश्य होता है।

इन गाथाओं में यह बताया गया है कि यद्यपि व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि आत्मा घट-पटादि पदार्थों, इन्द्रियों, क्रोधादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों का कर्त्ता है; तथापि निश्चयनय व्यवहारनय का निषेध करता हुआ

कहता है कि यदि आत्मा परद्रव्यों को करे तो वह परद्रव्यरूप हो जाये; क्योंकि निश्चय से जो जिसका कर्त्ता होता है, वह उससे तन्मय होता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि यद्यपि यह आत्मा पर का कर्त्ता नहीं हैं, तथापि पर के करने के विकल्परूप परिणत अपने उपयोग और योग का कर्त्ता अवश्य है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसकारण से यह आत्मा अपने इच्छारूप विकल्प और हस्तादिक की क्रियारूप व्यापार के द्वारा घट आदि परद्रव्यरूप बाह्य कार्यों को करता हुआ प्रतिभासित होता है; उसीकारण से क्रोधादिकरूप परद्रव्यस्वरूप सभी अन्तरंग कार्यों को भी करता है; क्योंकि घटादि और क्रोधादि दोनों ही परद्रव्यरूप हैं, परतत्त्व की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। – ऐसा व्यवहारीजनों का व्यामोह है।

यदि वास्तव में यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कार्य को करे तो परिणाम-परिणामीभाव की अन्यथा अप्राप्ति होने से नियम से तन्मय हो जाए, किन्तु ऐसा होता नहीं हैं; क्योंकि अन्य द्रव्य की अन्य द्रव्य में तन्मयता होने पर अन्य द्रव्यों के नाश की आपत्ति आती है। अत: एक द्रव्य दूसरे से तन्मय हो ही नहीं सकता। इसकारण आत्मा घटादिक एवं क्रोधादिक परद्रव्यरूप कार्यों का व्याप्य-व्यापक भाव से तो कर्त्ता है ही नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर तन्मयता का प्रसंग आता है।

निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी आत्मा घटादिक और क्रोधादिक का कर्त्ता नहीं हैं; क्योंकि ऐसा मानने पर नित्यकर्त्तृत्व का प्रसंग आता है। अनित्य योग और उपयोग ही निमित्तरूप से घटादिक और क्रोधादिक के कर्त्ता हैं।

यद्यपि आत्मा को रागादिविकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप अपने विकल्पों का और आत्मप्रदेशों के चलनरूप अपने व्यापार का कर्त्ता तो किसी अपेक्षा कह भी सकते हैं; तथापि परद्रव्यस्वरूप घटादिकार्यों का कर्त्ता तो आत्मा निमित्तरूप से भी कदापि नहीं है।"

यहां ध्यान रखने की मूल बात यह है कि यहां क्रोधादि में द्रव्यकर्मरूप क्रोधादि ही लेना चाहिए, भावकर्मरूप क्रोधादि नहीं, आत्मा के विकारी

भावरूप क्रोधादि नही; क्योंकि यहाँ परद्रव्य के कर्तृत्व का निषेध ही इष्ट है, आत्मा के विकारी परिणामों के कर्तृत्व का निषेध इष्ट नहीं। अपने विकारी और अविकारी परिणामों का अर्थात् अपने योग और उपयोग का कर्त्ता तो आत्मा को स्वीकार किया ही है।

आत्मख्याति के भाव को स्पष्ट करते हुए जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"घट-पट, कर्म-नोकर्म इत्यादि परद्रव्यों को आत्मा करता है – ऐसा मानना व्यवहारीजनों का व्यवहार या अज्ञान है।

यदि एक द्रव्य का कर्त्ता दूसरा द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जायें; क्योंकि कर्त्ता-कर्मभाव अथवा परिणाम-परिणामीभाव एक द्रव्य में ही हो सकता है। इसीप्रकार यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जावे तो उस द्रव्य का नाश ही हो जावे – यह बड़ा दोष आ जायेगा। इसलिए एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता कहना उचित नहीं है।

योग अर्थात् आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन (हलन-चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपयुक्त होना – जुड़ना। यह योग और उपयोग घटादिक और क्रोधादिक का निमित्त कर्त्ता कहा जावे, परन्तु आत्मा को तो उनका कर्त्ता नहीं कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता नहीं है, परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य की पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्य की पर्याय की निमित्त होती है। इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य के परिणामों के निमित्तकर्त्ता कहलाते हैं। परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणामों का कर्त्ता है, अन्य के परिणामों का अन्य द्रव्य कर्त्ता नहीं होता।"

कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त अनेक लोगों का ऐसा मानना है कि यह आत्मा परद्रव्यों का उपादान कर्त्ता भले ही न हो, पर निमित्तकर्त्ता तो होता है ही।

उनकी इस मिथ्या मान्यता का खण्डन करते हुए आचार्यदेव यहाँ कह रहे हैं कि यदि आत्मा को परद्रव्यों की पर्यायों का निमित्तकर्त्ता माना जाये तो आत्मा के नित्य होने से उक्त कार्य को निरन्तर होते रहना चाहिए; परन्तु ऐसा तो देखा

नहीं जाता। अतः यह सुनिश्चित ही है कि यह भगवान आत्मा पर पदार्थों, इन्द्रियों, क्रोधादि द्रव्यकर्मों, शरीरादि नोकर्मों का उपादानकर्त्ता तो है ही नहीं, निमित्तकर्त्ता भी नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि पर के करने के भाव रूप परिणत आत्मा का उपयोग और आत्मप्रदेशों के हलन-चलन रूप आत्मा का योग परद्रव्य की क्रिया में निमित्त होता है।

यद्यपि आत्मा अपने इस उपयोग और योग का कर्त्ता है, तथापि उन योग और उपयोग के निमित्त से होनेवाले परपदार्थों के परिणमन का कर्त्ता वह कदापि नहीं है।

ध्यान रहे यहां परद्रव्य के परिणमन के कर्तृत्व का निषेध है, उनके करने के भावरूप अपने परिणमन के कर्तृत्व का नहीं।

वस्तुत : बात यह है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी दो द्रव्यों के बीच नहीं, दो द्रव्यों की पर्यायों के बीच होता है। क्रोधादि द्रव्यकर्मों का उदय आत्मा में उत्पन्न होनेवाले क्रोधादि भावों में निमित्त है और आत्मा में उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव कार्माण वर्गणा के कर्मरूप परिणमन में निमित्त है। आत्मा में उत्पन्न होनेवाले क्रोधादि भी पर्याय हैं और कार्माण वर्गणा का कर्मरूप परिणमन भी पर्याय ही है। इन दोनों पर्यायों में ही निमित्त-नैमित्तिक भाव घटित होता है।

इसीप्रकार क्रोधादि द्रव्यकर्मों का उदय भी पर्याय है और उसके निमित्त से होने वाला आत्मा का क्रोधादिभावरूप परिणमन भी पर्याय है। – इन दोनों में ही निमित्त नैमित्तिकपना है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि निमित्त-नैमित्तिकभाव पर्यायों में ही घटित होता है। यह भगवान आत्मा पर्यायरूप नहीं, द्रव्यरूप है; अतः वह परपदार्थों के परिणमन में निमित्त भी नहीं होता। उपादान तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि उपादान तो प्रत्येक पर्याय का वही द्रव्य होता है, जिसकी वह पर्याय है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यह आत्मा परपदार्थों का न तो उपादान कर्त्ता है और न निमित्त कर्त्ता ही।

आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति में इससे अधिक कुछ नहीं कहा है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने अत्यन्त सहृदयता से इस विषय को स्पष्ट किया है। अत: इस विषय में स्वयं टिप्पणी लिखने की अपेक्षा उनके स्पष्टीकरण को प्रस्तुत कर देना ही उपयुक्त प्रतीत होता है, जो इसप्रकार है -

"यह गाथा सूक्ष्म है। इसमें मूल मुद्दे की बात है। घट, पट, मकान, वस्त्र, बर्तन आदि परद्रव्यरूप कर्म हैं तथा नये ज्ञानावरणादि जो जड़कर्म बंधते हैं; वे भी परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं। आत्मा उनका व्याप्य-व्यापकभाव से कर्त्ता नहीं है। कारखाने में कपड़े का धागा बनता है अथवा पैट्रोल, तेल वगैरह को साफ करने की क्रिया होती है, ये सब परद्रव्य के कार्य हैं। कारखाने के कारीगर तथा कारखाने के मालिक उस कार्य के कर्त्ता नहीं हैं।

परद्रव्यस्वरूप जड़ का परिणाम व्याप्य तथा आत्मा परिणामी व्यापक-ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि परद्रव्य की पर्याय आत्मा का व्याप्य नहीं हो सकती। यदि परद्रव्यस्वरूप कर्म आत्मा का व्याप्य हो व आत्मा उसका व्यापक कर्त्ता हो जाय तो आत्मा परद्रव्य की क्रिया में तन्मय हो जायेगा; किन्तु आत्मा तन्मय नहीं होता, इसलिए पर के कार्यों का आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से कर्त्ता नहीं है।[१]

गजब बात है ! अपने आत्मा के सिवाय जितने भी अनन्त परद्रव्य हैं, उन प्रत्येक में प्रति समय जो-जो पर्यायें होती हैं, उन पर्यायों को कर्म या कार्य कहा जाता है। उस कार्य को यदि आत्मा करे, तो उसमें तन्मय होने का प्रसंग प्राप्त होगा, परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि व्याप्य-व्यापकभाव से आत्मा परद्रव्य के कार्य का कर्त्ता नहीं है। आत्मा का परद्रव्य के साथ कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है।[२]

परद्रव्य में जो कार्य हुआ, वह नैमित्तिक तथा आत्मा उसका निमित्तकर्त्ता - ऐसा कोई कहे तो यह भी ठीक नहीं है। पर का कार्य तो उस काल में उसके उपादान से हुआ है, आत्मद्रव्य उस पर के कार्य का निमित्तकर्त्ता भी नहीं है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग - ४, पृष्ठ १२५-२६

२. वही, पृष्ठ १२६

अरे भाई ! आत्मा को पर के कार्य का कर्त्ता मानना तो मिथ्यादर्शन है, मूढ़ता है। पर का कर्त्ता तो आत्मा है ही नहीं, किन्तु परद्रव्य के तत्समय में अपने क्रमबद्ध होते हुए परिणमन का निमित्तकर्त्ता भी आत्मा नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो, तो उसे नित्यकर्तृत्व का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि परद्रव्य के कार्य का निमित्तकर्त्ता आत्मा होवे, तो जहाँ-जहाँ परद्रव्य से कार्य होगा, वहाँ-वहाँ आत्मा को उपस्थित रहने का प्रसंग प्राप्त होगा तथा नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आने पर परद्रव्य की क्रिया के काल में नित्य उपस्थित होने पर राग से भिन्न होकर भेदज्ञान प्रगट करने का अवसर ही नहीं रहेगा।

इस १००वीं गाथा में परिपूर्ण स्वतंत्रता की बात कही है। अहा ! दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है। वे कहते हैं कि इस शास्त्र के अक्षर लिखने रूप जो पर्याय हुई, मैं उनका कर्त्ता नहीं हूँ तथा इस पर्याय के काल में हमारा आत्मद्रव्य उसका निमित्त (कर्त्ता) भी नहीं है। यदि हमारा द्रव्य उसमें निमित्त हो, तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा तथा पर के कार्य में नित्य ही निमित्त रूप से उपस्थित रहना पड़ेगा।[१]

'निमित्त से कार्य होता है' - यह बात तो रही ही नहीं, किन्तु पर के कार्य में आत्मा निमित्त होता है - यह बात भी नहीं रही। मात्र अज्ञानी के राग व योग के भाव को कार्यकाल में निमित्तकर्त्ता कहा जाता है, क्योंकि अज्ञानी अपने राग व योग का कर्त्ता है।

यह गाथा बहुत महत्वपूर्ण है। यह बात तीनलोक के नाथ केवली भगवान की दिव्यध्वनि में कही गई तथा भगवान से सिद्ध हुई बात है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करे - ऐसा त्रिकाल में है ही नहीं तथा आत्मद्रव्य पर के कार्य में निमित्तकर्त्ता भी नहीं है, यह बात यहाँ सिद्ध की है।[२]

यहाँ प्रश्न होता है कि फिर उस परद्रव्य के कार्य का निमित्तकर्त्ता कौन है? उससे कहते हैं कि जिसे अपने अन्दर विराजमान भगवान ज्ञायक चैतन्यमूर्ति की खबर नहीं है, वह चैतन्यमूर्ति जिसकी दृष्टि में नहीं आया

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग - ४, पृष्ठ १२७
२. वही, पृष्ठ १२९

– ऐसे अज्ञानी का योग व उपयोग अर्थात् इच्छारूप राग परद्रव्यस्वरूप कर्म का निमित्तकर्ता कहा जाता है।

धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव योग व राग परिणाम का कर्त्ता नहीं है, इसकारण धर्मात्मा परद्रव्य के कार्यकाल में उसका निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। ज्ञानी राग व योग का कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी (आत्मा) ज्ञान परिणाम को करता है – ऐसा कहना भी भेदकथन होने से उपचार है, तो फिर पर के कर्त्ता की व निमित्त की तो बात ही कहाँ रही ? वहाँ तो उपचार भी नहीं बनता।[१]

जीव योग के कम्पन का तथा रागयुक्त उपयोग का तो कदाचित् अर्थात् अज्ञानभाव से कर्त्ता है भी, परन्तु पर का कार्य जो उस काल में होता है, उसका कर्त्ता तो अज्ञानी भी कदापि नहीं है। योग का व राग का कदाचित् कर्त्ता है – ऐसा जो कहा है, उसका कारण यह है कि अज्ञान सदा नहीं रहता। जबतक अज्ञान है, तबतक राग व योग का कर्त्ता है तथा उस राग व योग को पर के कार्य का निमित्त कर्त्ता कहा जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लेना कि निमित्त पर के कार्य का वास्तव में कर्त्ता है। भाई ! जगत के कार्य मुझसे होते हैं – ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

मात्र अज्ञानी को राग व योग का कर्त्ता कहा जाता है, बस इससे अधिक कुछ नहीं है। अहो ! यह तो थोड़े में ही सबकुछ कह दिया है। ये राग-द्वेष एवं विषय-वासना के जो परिणाम होते हैं, अज्ञानी उनका कर्त्ता है, किन्तु विषयभोग के काल में शरीर की जो क्रिया होती है, वह परमाणुओं का कार्य है, जीव उनका कर्त्ता नहीं है। परमाणु के उस कार्यकाल में जीवद्रव्य निमित्त भी नहीं है, यदि जीवद्रव्य निमित्त हो तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा और अज्ञान का कभी नाश ही नहीं होगा। अत: अज्ञानी जो कि अपने तत्संबंधी योग व राग का कर्त्ता है, उसके उस योग व राग को उस भोगरूप जड़ की क्रिया का निमित्तकर्त्ता कहा जाता है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग – ४, पृष्ठ १२९-१३०
२. वही, पृष्ठ १३१

अज्ञानी जीव अपने योग व राग का कर्त्ता है, अत: उसका योग व राग परद्रव्य के कार्य का निमित्तकर्त्ता कहा जाता है।[१]

कोई सम्यग्दृष्टि कुम्हार उपस्थित हो तथा घड़ा बनाने की क्रिया हो, वहाँ घड़ा तो मिट्टी से बना है, कुम्हार के राग से या कुम्हार के आत्मद्रव्य से घड़ा नहीं बना। घड़ा बनने की क्रिया व तत्संबंधी जो राग हुआ, उसका समकिती कुम्हार कर्त्ता नहीं है, वह तो मात्र ज्ञाता ही है। वहाँ घड़े का तथा राग का जो ज्ञान हुआ, वह स्वयं से हुआ है तथा घड़ा व राग उसमें निमित्तमात्र है। निमित्त है, इसकारण उसका ज्ञान हुआ - ऐसा नहीं है। अहा ! घड़ा बनने की क्रिया तथा तत्सम्बन्धी जो राग हुआ, व ज्ञानी का कार्य नहीं है। भाई ! यह बहुत सूक्ष्म बात है।[२]

आचार्यदेव ने कर्त्ता की व्याख्या बहुत स्पष्टरूप से की है। परद्रव्य का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है तथा परद्रव्य का कर्त्ता तू (आत्मा) भी नहीं है। परद्रव्य का परिणाम पर से होता है, उसका तू कर्त्ता नहीं है और तेरा आत्मा उसमें निमित्त भी नहीं है। उस कार्यकाल में राग का जो कर्त्ता होता है - उस अज्ञानी के राग व योग को उसका कर्त्ता कहा जाता है।

आत्मा योग व उपयोग का तो कर्त्ता कदाचित् (किसी अपेक्षा से) हो भी जावे, परंतु परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्त्ता तो कदाचित् भी (निमित्त रूप से भी) नहीं होता।[३]''

पर के कर्तृत्व के अभिमान से ग्रस्त और करने-धरने के विकल्पों में उलझे रहने वाले जगत को उक्त परमसत्य को गहराई से समझने का प्रयास करना चाहिए। न केवल समझने का ही प्रयास करना चाहिए, अपितु तदनुसार जीवन को ढालने का भी प्रयास करना चाहिए; क्योंकि जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग - ४, पृष्ठ १३२
२. वही, पृष्ठ १३३
३. वही, पृष्ठ १३४

समयसार गाथा १०१

१००वीं गाथा में यह कहा गया था कि भगवान आत्मा घट-पट-रथ आदि परपदार्थों, इन्द्रियों, क्रोधादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों का उपादानकर्त्ता तो है ही नहीं, निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। उनके करने के भावरूप अपने उपयोग और योग का कर्त्ता कदाचित् अज्ञानी आत्मा को कह भी सकते हैं, किन्तु ज्ञानी आत्मा तो उनका भी कर्त्ता नहीं होता।

अत: यह प्रश्न उठना स्वभाविक ही है कि ज्ञानी आत्मा क्या करता है ?

इसी प्रश्न का उत्तर है १०१वीं गाथा में, जो इसप्रकार है –

जे पोग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥
ज्ञानावरण आदिक जु पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं ।
उनको करे ना आतमा जो जानते वे ज्ञानि हैं ॥१०१॥

ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्यों के जो परिणाम हैं, उन्हें जो आत्मा करता नहीं है, परन्तु जानता है; वह आत्मा ज्ञानी है।

इसीप्रकार का भाव ७५वीं गाथा में आया है। वहाँ कहा है कि कर्म के परिणाम को और नोकर्म के परिणाम को जो करता नहीं, मात्र जानता है; वह ज्ञानी है और यहाँ यह कहा जा रहा है कि ज्ञानावरणादि कर्मों को जो करता नहीं है, मात्र जानता है; वह ज्ञानी है। दोनों में कोई अन्तर नहीं हैं; क्योंकि यद्यपि यहाँ गाथा में अकेले ज्ञानावरणादि कर्मों की ही बात की है, तथापि प्रकरण के अनुसार उन सभी को लेना चाहिए, जिनकी चर्चा ९८ से १००वीं गाथा तक की है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीव घट-पट-रथादि परपदार्थों, इन्द्रियों, क्रोधादि, द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों को भी करता नहीं, मात्र जानता ही है। इसप्रकार इस गाथा में भी द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि सभी आगये।

प्रश्न - गाथा में ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों की बात है और आप क्रोधादि द्रव्यकर्मों की बात कर रहे हैं।

उत्तर - पिछली गाथाओं में क्रोधादि शब्द का उपयोग किया गया था और इस गाथा में ज्ञानावरणादि शब्द का उपयोग है; पर दोनों का भाव एक ही है; क्योंकि दोनों ही स्थानों पर द्रव्यकर्म ही लेना है।

आचार्य अमृतचन्द और जयसेन तो इस गाथा के आधार पर २३ गाथाएं और भी बनाने की बात करते हैं। इसतरह वे तो यहाँ क्रोधादि शब्द में उन सभी परपदार्थों को समाहित कर लेना चाहते हैं, जिनको यह ज्ञानी आत्मा जानता तो है, पर करता नहीं है।

आत्मख्याति में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जिसप्रकार गोरस के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होने वाले दूध-दही गोरस के ही खट्टे-मीठे परिणाम हैं। उन्हें तटस्थभाव से जाननेवाला ज्ञाता-दृष्टा पुरुष उनको करता नहीं है। उसीप्रकार पुद्गल द्रव्य के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले ज्ञानावरणादिक कर्म पुद्गल द्रव्य के ही परिणाम हैं। उन्हें तटस्थभाव से जानने वाला ज्ञाता-दृष्टा ज्ञानी जीव उनको करता नहीं है।

किन्तु जिसप्रकार वह गोरस को देखने-जाननेवाला पुरुष गोरस को देखने-जानने में व्याप्त होकर मात्र उसे देखता-जानता ही है, उसीप्रकार ज्ञानी जीव भी उन ज्ञानावरणादि कर्मों को देखने-जानने में व्याप्त होकर मात्र उन्हें देखता जानता ही है।

इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्त्ता है।

इसीप्रकार ज्ञानावरण पद के स्थान पर क्रमशः दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय पद रखकर सात कर्मसूत्र और बनाना चाहिए। इसीप्रकार मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन - इन सोलह पदों को रखकर सोलह सूत्र बनाकर व्याख्यान करना चाहिए। इस उपदेश से इसीप्रकार के अन्य सूत्र भी बनाये जा सकते हैं। उसका भी विचार कर लेना चाहिए।"

आचार्य जयसेन तो यहाँ तक लिखते हैं कि शुद्धात्मा की अनुभूति से विलक्षण रूप जो भी असंख्य लोकप्रमाण विभावभाव हैं, उन सभी को क्रोधादि

में ले लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी आत्मा उन सभी को जानता ही है, कर्त्ता नहीं।

यहाँ खट्टे-मीठे परिणाम वाले दूध-दही रूप गोरस और तटस्थभाव से उसे देखने-जानने वाले पुरुष का उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि यह ज्ञानी जीव ज्ञानावरणादि कर्मों के मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं।

गाय के दूध और उससे बनने वाले पदार्थों को यदि एक नाम से कहना हो तो उन्हें गोरस कहा जा सकता है। गाय का रस माने दूध-दही आदि। गोरस स्वयं ही दूध से दही रूप में परिणमित हो जाता है। अपने इस परिणमन का कर्त्ता वह स्वयं ही है, उसे दूर से ही तटस्थभाव देखने वाला पुरुष नहीं। उस दूध को दही रूप में स्वयं परिणमित होते हुए देखने वाला पुरुष अपने उस देखने-जानने रूप परिणमन का कर्त्ता तो है, पर दूध को दही रूप में परिणमाने का कर्त्ता नहीं।

इसीप्रकार कार्माण वर्गणायें ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वयं ही परिणमित होती है, उन्हें जाननेवाला ज्ञानी जीव उन्हें जाननेरूप अपनी ज्ञान परिणति का तो कर्त्ता है, पर उनके परिणमन का कर्त्ता नहीं; उनके परिणमन का तो वह ज्ञाता-दृष्टा ही है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं।

३२वीं एवं ३३वीं गाथा में भी इसीप्रकार के अन्य सूत्र बनाकर उनकी व्याख्या करने का आदेश आचार्यदेव ने दिया था, परंतु वहाँ तो मोह, राग-द्वेष आदि सोलह सूत्र बनाने की ही बात की थी, पर यहाँ तो दर्शनावरणादि कर्मों के सूत्र बनाने का भी आदेश दिया है। उन गाथाओं के अनुशीलन में वे सूत्र (गाथायें) कैसे बनाना - यह बताया था। उसीप्रकार यहाँ भी बना लेना चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने इन गाथाओं पर प्रवचन करते हुए आठों कर्मों पर घटित करके विस्तार से समझाया है, जो प्रवचनरत्नाकर भाग ४ में प्रकाशित है। विस्तार से जानने की भावना रखनेवाले आत्मार्थियों को उसका अध्ययन करना चाहिए। ●

समयसार गाथा १०२

गाथा १०१ में कहा गया है कि ज्ञानी आत्मा परभावों का कर्त्ता नहीं है, पर उन्हें जाननेरूप अपने परिणाम का कर्त्ता अवश्य है। अतः यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि समझदार होने से ज्ञानी भले ही परपदार्थों के परिणमन को न करता हो, पर अज्ञानी तो पर का कार्य करता ही होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है आगामी गाथा में, जो इसप्रकार है –

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥
निजकृत शुभाशुभभाव का कर्ता कहा है आतमा ।
वे भाव उसके कर्म हैं वेदक है उनका आतमा ॥१०२॥

आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है, उस भाव का वह वास्तव में कर्त्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है तथा वह आत्मा उस भाव का भोक्ता भी होता है।

इस गाथा के भाव को भावार्थ में जयचंदजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"पुद्गल कर्म का उदय होने पर ज्ञानी उसे जानता ही है अर्थात् वह ज्ञान का ही कर्त्ता होता है और अज्ञानी अज्ञान के कारण कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले अपने अज्ञानरूप शुभाशुभ भावों का कर्त्ता होता है। इसप्रकार ज्ञानी अपने ज्ञानरूप भाव का और अज्ञानी अपने अज्ञानरूप भाव का कर्त्ता है, परभाव का कर्त्ता तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी नहीं है।"

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्रदेव इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यद्यपि आत्मा अचलित एक विज्ञानघन स्वादवाला ही है, तथापि जो आत्मा अनादिकालीन अज्ञान के कारण परके और अपने एकत्व के अभ्यास

से मंद और तीव्र स्वादयुक्त पुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं द्वारा अपने विज्ञानघन स्वाद को भेदता हुआ अज्ञानस्वरूप शुभ या अशुभ भाव को करता है; वह अज्ञानी आत्मा उस समय तन्मयता से उस भाव में व्यापक होने से उस शुभाशुभभाव का कर्त्ता होता है और वह शुभाशुभभाव भी उस समय तन्मयता से उस आत्मा का व्याप्य होने से उसका कर्म होता है; और वही आत्मा उस समय तन्मयता से उस आत्मा का भाव्य होने से उसका अनुभाव्य होता है, भोग्य होता है।

इसप्रकार अज्ञानी भी परभाव का कर्त्ता नहीं है।''

उक्त टीका में यह बताया गया है कि यह ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा भी जब अज्ञान के कारण शुभाशुभभावों में व्याप्त होता है, शुभाशुभभावों में तन्मय होता है, तन्मयता से उनके कर्तृत्व और भोक्तृत्व रूप परिणमित होता है; तब वह उनका कर्त्ता-भोक्ता होता है, किन्तु पर का कर्त्ता-भोक्ता तो वह तब भी नहीं होता।

ज्ञानी आत्मा के भी शुभशुभभाव पाये जाते हैं, पर वह उनमें व्यापता नहीं है, तन्मय नहीं होता, उनका सहज ज्ञाता-दृष्टा रहता है। वे जैसे होते हैं, वैसे ही सहज भाव से उन्हें जान लेता है; इसकारण वह उनका भी कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता, उनके जाननेरूप अपने ज्ञान परिणाम का कर्त्ता-भोक्ता ही होता है।

इसप्रकार अज्ञानी अपने शुभाशुभभाव रूप अज्ञान परिणमन का और ज्ञानी उन्हें जानने रूप अपने ज्ञान परिणमन का कर्त्ता होता है, किन्तु पर का कर्त्ता न तो ज्ञानी होता है और न अज्ञानी ही। पर का कर्त्ता तो वही परद्रव्य होता है कि जिसका वह परिणमन है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में नयविभाग से इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए जो निष्कर्ष निकालते हैं, वह इसप्रकार है -

''तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव अशुद्ध-उपादानरूप अशुद्धनिश्चयनय से मिथ्यात्वरागादि भावों का ही कर्त्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं। आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्त्ता असद्भूतव्यवहारनय से कहा गया है, इसकारण इस अशुद्ध

निश्चयनय को निश्चयनय के नाम से कहा जाता है, तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा यह अशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही है।

प्रश्न – हे भगवन् ! आपने अशुद्ध-उपादानरूप से आत्मा को रागादिभावों का कर्त्ता कहा है, तो उस आत्मा के अशुद्ध-उपादान और शुद्ध-उपादान - ऐसे दो भेद कैसे हो गये ?

उत्तर – अग्नि के द्वारा गर्म हुए लोहे के पिण्ड समान औपाधिकभाववाला आत्मा अशुद्ध-उपादान है तथा जिसप्रकार सोना अपने पीतत्वादि पर्यायों का, सिद्धजीव अपने अनन्तज्ञानादि पर्यायों का और अग्नि अपनी उष्णत्वादि पर्यायों की शुद्ध-उपादान हैं; उसीप्रकार आत्मा अपने निरुपाधिक भावों का शुद्ध उपादान है।

इसप्रकार शुद्ध या अशुद्ध उपादान के स्वरूप का यह व्याख्यान उपादान कारण के व्याख्यान के समय सर्वत्र ही याद रखना चाहिए।''

उक्त कथन में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय को भी व्यवहार कहा है।

अत: यदि आत्मा को रागादिभावों का कर्त्ता, कहीं पर व्यवहारनय से और कहीं पर अशुद्धनिश्चयनय से कहा हो तो भी उद्वेलित होने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न – यदि कही निश्चयनय से रागादि का कर्त्ता आत्मा को बताया हो तो क्या करें ?

उत्तर – तब भी उद्वेलित होने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अशुद्धनिश्चयनय भी तो निश्चयनय का ही भेद है। यदि निश्चयनय से रागादि का कर्त्ता आत्मा को बताया हो तो यही समझना चाहिए कि यहां 'निश्चयनय' शब्द का प्रयोग 'अशुद्धनिश्चयनय' के अर्थ में ही हुआ है।

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि अज्ञानी आत्मा अपने शुभाशुभ भावों का कर्त्ता-भोक्ता स्वयं ही है, पर वह पर का कर्त्ता-भोक्ता कदापि नहीं है। •

समयसार गाथा १०३-१०४

१०१ व १०२ गाथाओं में यह कहा गया है कि ज्ञानी अपने ज्ञान परिणमन का कर्त्ता है और अज्ञानी अपने अज्ञान परिणमन का, पर का कर्त्ता न तो ज्ञानी है और न अज्ञानी। अब १०३ व १०४वीं गाथा में उसी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के भाव को करने में समर्थ नहीं है।

गाथाएं मूलतः इसप्रकार है –

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥
दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि ।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

जब संक्रमण न करे कोई द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में ।
तब करे कैसे परिणमन इक द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में ॥
कुछ भी करे ना जीव पुद्गल कर्म के गुण-द्रव्य में ।
जब उभय का कर्ता नहीं तब किस तरह कर्ता कहें ॥१०४॥

जो वस्तु जिस द्रव्य में और जिस गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य में या अन्य गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती। अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है ?

आत्मा पुद्गलमय कर्म के द्रव्य व गुण को नहीं करता। उन दोनों को न करता हुआ वह आत्मा उनका कर्त्ता कैसे हो सकता है ?

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"अपने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में या गुण में अनादि से ही जो वस्तु निजरस से वर्तती है, अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा तोड़ने में अशक्य होने से वह वस्तु उसी में वर्तती है, द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण को प्राप्त नहीं होती। इसप्रकार द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण को प्राप्त न

होती हुई, वह वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है ? इसलिए यह सुनिश्चित है कि परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता है।

जिसप्रकार मिट्टीमय घटरूपी कर्म (कार्य) मिट्टीरूपी द्रव्य में और मिट्टी के गुण में निजरस से ही वर्तता है, उसमें कुम्हार अपने द्रव्य को या अपने गुणों को डालता या मिलाता नहीं है; क्योंकि किसी वस्तु का द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप में संक्रमण होने का वस्तुस्थिति से ही निषेध है। इसकारण द्रव्यान्तररूप में संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण दोनों को उस घटरूपी कार्य में न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थ से उसका कर्त्ता प्रतिभासित नहीं होता।

इसीप्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म (कार्य) पुद्गलद्रव्य में और पुद्गल के गुणों में निजरस से ही वर्तते हैं, उसमें आत्मा अपने द्रव्य को या अपने गुणों को वास्तव में डालता या मिलाता नहीं है; क्योंकि किसी वस्तु का द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप में संक्रमण होना अशक्य है। द्रव्यान्तररूप में संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य व गुण दोनों को ज्ञानावरणादि कर्मों में न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थ से उनका कर्त्ता कैसे हो सकता है ?

इसलिए वास्तव में आत्मा पुद्गलकर्मों अकर्त्ता सिद्ध हुआ।''

उक्त गाथाओं तथा टीका का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

''देखो ! यह सिद्धान्त ! अचलित वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि परमाणु परमाणु की पर्याय में वर्ते व आत्मा आत्मा की पर्याय में वर्ते। आत्मा कर्मों को बांधें या कर्म आत्मा में विकार कराये – ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है। कर्मों से जीव में विकार होता है – यह बात सत्यार्थ नहीं है; क्योंकि कर्म जड़ परमाणु में वर्तते हैं व विकार आत्मा की पर्याय में वर्तता है। विकारी पर्याय को जड़कर्म करे व जड़कर्मों की प्रकृति को आत्मा करे – ऐसा तीन काल में भी कभी सम्भव नहीं है। कितने ही लोग इस बात को सुनकर बौखला जाते हैं; परन्तु भाई ! यह तो जैनशासन का मूल सिद्धान्त है। एक द्रव्य की पर्याय दूसरा द्रव्य तीन काल में नहीं कर सकता – यह जिनशासन का अविचल सिद्धान्त है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ १६६

जगत में सभी वस्तुएं अपने द्रव्य-गुण में ही वर्तती हैं, द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप से संक्रमित नहीं होतीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं पाता तथा एक पर्याय दूसरे पर्यायरूप हो – ऐसा कभी नहीं होता। जीव की पर्याय का संक्रमण होकर शरीर की अवस्था रूप हो – ऐसा भी त्रिकाल संभव नहीं है। प्रत्येक वस्तु की वर्तमान पर्याय संक्रमण करके पर की पर्याय को करे – ऐसा कभी नहीं होता।[१]

यहां कहते हैं कि मिट्टीरूपी द्रव्य में मिट्टीरूप गुण (घट परिणाम) निजरस से वर्त रहे हैं। गुण का अर्थ यहां पर्याय है। उसमें कुम्हार अपने द्रव्य के गुण व पर्याय को नहीं मिलाता। कुम्हार घड़ा बनाने का जो राग करता है, वह राग घड़ारूप पर्याय में प्रवेश नहीं करता, तो वह राग घड़ारूप पर्याय को कैसे कर सकता है ? अज्ञानी जीव राग का कर्त्ता है, परन्तु वह भी पर का कार्य कभी नहीं कर सकता। जो ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है, उसमें निमित्तरूप जो रागादिभाव हैं, अज्ञानी उनका कर्त्ता है, परन्तु जो कर्म का बन्ध होता है, उसका कर्त्ता वह नहीं है। कर्मबन्ध होना तो जड़ की पर्याय है। जड़ की पर्याय को आत्मा त्रिकाल में भी कभी नहीं कर सकता।[२]

बापू ! यह वीतराग का मार्ग अलौकिक है। जड़ व चेतन दोनों का सदैव प्रगट भिन्न स्वभाव है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, दूसरे कोई भी द्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों को उसमें डालते नहीं हैं, मिलाते नहीं हैं, इसलिए आत्मा जड़ की क्रिया को कभी भी नहीं करता – यह सिद्ध होता है। भाई ! 'मैं खाता हूँ, बोलता हूँ, अपने शरीर को हला-चला सकता हूँ। इत्यादि अनेक प्रकार से मैं परद्रव्य की क्रिया कर सकता हूँ' – ऐसा मानना मिथ्या श्रद्धान है तथा इसका फल चार गतियों में परिभ्रमण करना है।[३]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही स्पष्ट किया गया है कि जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में संक्रमित ही नहीं होता तो उसमें वह कर भी क्या सकता है ? अत: यह आत्मा भी कर्मों में संक्रमित न होने से कर्मों कर्त्ता नहीं हो सकता। •

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ १६९
२. वही, पृष्ठ १७३-१७४
३. वही, पृष्ठ १७५

समयसार गाथा १०५-१०६

विगत गाथाओं में यह बात बहुत विस्तार से स्पष्ट की गई है कि आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता नहीं है। अत: अब एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं है, तब ऐसा क्यों कहा जाता है कि आत्मा कर्मों का कर्त्ता है। जिनवाणी में भी कई स्थानों पर यह मिलता है कि आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता है।

इस समस्या का समाधान आगामी गाथाओं में सोदाहरण दिया जा रहा है; जो इसप्रकार है –

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उपयारमेत्तेण ॥ १०५॥
जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो ।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥ १०६॥

बंध का जो हेतु उस परिणाम को लख जीव में ।
करम कीने जीव ने बस कह दिया उपचार से ॥१०५॥
रण में लड़े भट पर कहे जग युद्ध राजा ने किया ।
बस उसतरह द्रवकर्म आतम ने किए व्यवहार से ॥१०६॥

जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबन्ध का परिणाम होता हुआ देखकर 'जीव ने कर्म किया' – इसप्रकार मात्र उपचार से कह दिया जाता है।

जिसप्रकार योद्धाओं के द्वारा युद्ध किए जाने पर 'राजा ने युद्ध किया' – इसप्रकार लोग कहते हैं; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किया – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

उक्त गाथाओं का भाव अत्यन्त सरल एवं सहज है। आचार्यदेव एकदम स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि यह तो मात्र उपचरित कथन है कि जीव ने ज्ञानावरणादि कर्म किये। वस्तुत: विचार करें तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता न होने से आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता हो ही नहीं सकता।

राजा का उदाहरण देकर बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। अरे भाई ! युद्ध के मैदान में लड़ते तो सैनिक ही हैं; पर जगत में यही कहा जाता है कि राजा ने युद्ध किया। बस इसीतरह आगम में भी उपचार से, उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से यह कह दिया जाता है कि ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा ने किये। शरीरादि की क्रिया का कर्त्ता भी आत्मा को कहना इसीप्रकार का उपचार है।

आचार्य अमृतचन्द्र तो एक कदम आगे बढ़कर आत्मख्याति में यहाँ तक लिखते हैं कि 'पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किये – ऐसा विकल्प निर्विकल्पविज्ञानघनस्वभाव से भृष्ट विकल्पपरायण अज्ञानियों को ही होता है और वह विकल्प मात्र उपचार ही है, परमार्थ नहीं।'

देखो ! यहाँ उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के कथन को अज्ञानियों का विकल्प कहा है और उन अज्ञानियों को निर्विकल्पविज्ञानघनस्वभाव से भृष्ट बताया गया है तथा यह कहा गया है कि उनकी चतुराई मात्र विकल्पों तक ही सीमित है, उससे कोई कार्य नहीं होता। वे विकल्पपरायण ही हैं, आत्मकल्याण करने में परायण नहीं हैं।

जिसप्रकार लोक में यह कहा जाता है कि वह व्यक्ति तो मात्र बातों में ही सूरवीर है, बड़बोला ही है; उससे कुछ होना-जाना नहीं है। उसीप्रकार कर्मों का कर्त्ता स्वयं को माननेवाले अज्ञानी मात्र विकल्पपरायण ही हैं, उनसे मोक्षमार्ग सधने वाला नहीं है। मोक्षमार्ग व्यवहार के आश्रय से नहीं सधता। मोक्षमार्ग तो निश्चयनय के विषयभूत अकर्त्तास्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से सधता है।

आचार्य अमृतचन्द्र का उक्त कथन मूलतः इसप्रकार है –

''यद्यपि इस लोक में यह आत्मा स्वभाव (परमार्थ) से पौद्गलिक कर्मों का निमित्त भी नहीं है, तथापि जो अज्ञानभाव पौद्गलिक कर्मों का निमित्तभूत है, अनादि अज्ञान के कारण उस अज्ञानभावरूप परिमित होने से पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किए – ऐसा विकल्प निर्विकल्पविज्ञानघनस्वभाव से भृष्ट विकल्पपरायण अज्ञानियों को होता है और वह विकल्प मात्र उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

जिसप्रकार युद्ध परिणाम में स्वयं परिणमित होते हुए योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर, युद्ध परिणाम में स्वयं परिणमित नहीं होने वाले राजा में 'राजा ने युद्ध किया' – ऐसा उपचार किया जाता है, वह मात्र उपचार है, परमार्थ नहीं।

उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुए पुद्गल द्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, ज्ञानावरणादि कर्म परिणामरूप स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले आत्मा में 'आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किये' – ऐसा उपचार किया जाता है, वह मात्र उपचार है, परमार्थ नहीं।"

देखो, यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा को कर्मों कर्त्ता कहना उसी प्रकार का अत्यन्त स्थूल उपचरित कथन है कि जिसप्रकार सैनिकों के द्वारा किये गये युद्ध को राजा द्वारा किया गया कहना है। राजा तो युद्ध के मैदान में गया ही नहीं है, आराम से राजमहल में ही रहा है और सैनिक तो पूर्णत: युद्ध में ही रचेपचे थे, तब भी युद्ध करने वालों के रूप में सैनिकों का नाम भी न लेना और यह कहना कि राजा ने युद्ध किया है। जिसप्रकार यह कहना कथन मात्र है, उसीप्रकार जो कार्माण वर्गणा कर्मरूप परिणमित हुई है, उसका तो नाम भी न लेना और जो आत्मा कर्म के परिणमन में निमित्त भी नहीं है, उसको कर्मों का कर्त्ता कहना भी कथन मात्र ही है।

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

"इसलिए यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध निश्चयनय से शुद्धबुद्ध एकस्वभावी होने से जीव न तो किसी को उत्पन्न करता है, न बनाता है, न बाँधता है, न परिणमाता है और न ग्रहण करता है।"

इन गाथाओं के मर्म को उद्घाटित करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"जो रागपरिणाम नये कर्मबन्ध के निमित्त होते हैं, वे रागपरिणाम ज्ञानी को नहीं हैं; क्योंकि ज्ञानी इनसे भिन्न हो गया है। जो रागपरिणाम होते हैं, ज्ञानी उन्हें मात्र जानता ही है, करता नहीं है, इसीकारण ज्ञानी नवीन कर्मबन्ध का निमित्त नहीं है। भाई! बहुत गम्भीर बात है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ १८२

मूल गाथा सूत्र में तो ऐसा कहा है कि जीव नवीन कर्मबन्ध में निमित्तभूत होता है; परन्तु टीका में आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि इस लोक में वस्तुतः आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म में निमित्तभूत भी नहीं है। यदि स्वभाव से ही आत्मा निमित्तभूत हो तो उसे त्रिकाल (सदा) विकार करने का प्रसंग प्राप्त होगा तथा कर्मबन्धन में निमित्तरूप से जीव को सदैव उपस्थित रहने की समस्या उत्पन्न हो जाएगी। इसप्रकार नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आने पर मुक्ति कभी होगी ही नहीं अर्थात् उसके मुक्ति का ही अभाव सिद्ध होगा।

दया, दान आदि के विकल्प आते हैं, ज्ञानी उन्हें बन्ध का कारण जानता है, वह उन्हें धर्म या धर्म के कारण नहीं मानता – यह बात भी यहाँ नहीं ली है। यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञानी को नवीन बन्ध होता ही नहीं है; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वभाव पर रहती है तथा उससे उसको स्वभाव की ही परिणति उत्पन्न होती है। जो राग का परिणाम होता है, वह ज्ञानी का कर्म नहीं है। इससे ज्ञानी नवीन कर्मबन्ध में निमित्त भी नहीं है। अहा ! कैसी गम्भीर व्याख्या की है।[१]

जो नवीन कर्मबन्ध होता है, वह दशा तो जड़कर्म से होती है तथा उनमें उपादानरूप से कर्मपरमाणु वर्तते हैं तथा आत्मा के विकारीभाव उस नवीन कर्मबन्ध में निमित्त हैं; परन्तु चैतन्यरत्नाकर ज्ञाता-दृष्टा तथा आनन्दस्वभाव से भरा चिदानन्दधन प्रभु आत्मा विकार से शून्य है, इसकारण ज्ञायकमूर्ति प्रभु आत्मा नवीन कर्मबन्ध में निमित्तभूत नहीं है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरा चैतन्यमहासागर है। उसमें दया, दान आदि विकार के विकल्प ही नहीं हैं, तो वह नवीन कर्मबन्धन में निमित्तभूत कैसे हो ? आत्मा स्वभाव से नवीन कर्मबन्धन में निमित्त है ही नहीं।[२]

भगवान आत्मा निरंजन, निर्विकार, शुद्ध चैतन्यघन प्रभु है। उसमें शरीर, मन, वाणी, कर्म, नोकर्म तो हैं ही नहीं, शुभभावरूप विकार भी नहीं हैं। इससे आत्मा स्वभाव से कर्मबन्धन का निमित्त नहीं हैं तथा जिसको शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के स्व-संवेदनपूर्वक स्वानुभव हुआ है, उस सम्यग्दृष्टि

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ १८३
२. वही, पृष्ठ १८४

को ऐसा राग ही नहीं होता जो नवीन कर्मबन्धन में निमित्त हो। जो अल्पराग ज्ञानी को होता है, उसे यहाँ (दृष्टि के जोर में) गौण करके यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी के राग होता ही नहीं है और अज्ञानी को तो अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप का भान ही नहीं है, इसकारण अज्ञानी के रागभाव को नवीन कर्मबन्धन में निमित्त कहा जाता है।

जो नवीन कर्मबन्धन होता है, उसे आत्मा नहीं करता। वह तो पुद्गल की पर्याय है और अज्ञानी का अज्ञानरूप परिणाम उसमें निमित्त कहा जाता है। आत्मद्रव्य भी उसमें निमित्त नहीं है और दृष्टिवन्त ज्ञानी भी उसमें निमित्त नहीं है।[१]

अज्ञानी अज्ञानभाव से परिणमित होने से, उसके उस अज्ञानभाव के निमित्तभूत होने पर नवीन पौद्गलिककर्म उत्पन्न होता है; इसप्रकार अज्ञानी का पुण्य-पाप का भाव नवीन कर्मबंध में निमित्त होता है। इससे निर्विकल्पविज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट विकल्पपरायण अज्ञानियों का ऐसा विकल्प है कि 'पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया' – सो वह विकल्प उपचार मात्र है, परमार्थ नहीं।[२]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि कर्मों का कर्त्ता न तो ज्ञानी आत्मा है और अज्ञानी आत्मा ही है। आत्मा को कर्म का कर्त्ता कहना अत्यन्त स्थूल उपचरित कथन है। •

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ १८५-१८६
२. वही, पृष्ठ १८७

वही सत्पुरुष है

सत्पुरुष की सच्ची पहिचान ही यही है कि जो त्रिकाली ध्रुवरूप निज परमात्मा का स्वरूप बताये और उसी की शरण में जाने की प्रेरणा दे, वही सत्पुरुष है। दुनियादारी में उलझानेवाले, जगत के प्रपंच में फंसानेवाले पुरुष कितने ही सज्जन क्यों न हों, सत्पुरुष नहीं हैं – इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

– निमित्तोपादान, पृष्ठ ५२

समयसार गाथा १०७-१०८

विगत गाथाओं में यह बात हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट हो गई है कि आत्मा परभावों का न तो उपादानकर्त्ता ही है और न निमित्तकर्त्ता ही, फिर भी लोक में आत्मा को परभावों का कर्त्ता-भोक्ता कहा जाता है। न केवल लोक में, आगम में भी इसप्रकार के अनेक कथन उपलब्ध होते हैं। इसकारण बहुत से आत्मार्थी बन्धु असमंजस में पड़ जाते हैं।

उन आत्मार्थी भाईयों के असमंजस को दूर करने के लिए आचार्यदेव आगामी गाथाओं में कह रहे हैं कि वह सब कथन व्यवहारनय का है और वह व्यवहार भी प्रजा के दोषों का उत्तरदायी राजा को कहने के समान ही है।

मूल गाथाएं इसप्रकार हैं –

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ।। १०७॥
जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥ १०८॥

ग्रहे बाँधे परिणमावे करे या पैदा करे ।
पुद्गल दरव को आतमा व्यवहारनय का कथन है ॥ १०७॥
गुण-दोष उत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से ।
त्यों जीव पुद्गल कर्म का कर्ता कहा व्यवहार से ॥ १०८॥

आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है, यह व्यवहारनय का कथन है।

जिसप्रकार राजा को प्रजा के दोष और गुणों को उत्पन्न करने वाला कहा जाता है, उसीप्रकार यहाँ जीव को पुद्गल द्रव्य के द्रव्य-गुणों को उत्पन्न करने वाला कहा गया है।

आचार्य जयसेन ने विगत गाथा की टीका में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुये कहा था कि शुद्धनिश्चयनय से आत्मा न तो किसी को उत्पन्न करता है, न बनाता है, न बाँधता है, न परिणमाता है और न ग्रहण करता है। उसी सन्दर्भ को आगे बढ़ाते हुए इन गाथाओं में कहा गया है कि आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है – यह व्यवहारनय का कथन है।

इसप्रकार यहाँ दोनों नयों का कथन करके अन्त में व्यवहारनय की औपचारिकता भी स्पष्ट कर दी है।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तुत: यह आत्मा व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता और न उसे करता है, न बाँधता है; फिर भी अर्थात् व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य रूप पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है; इसप्रकार का जो विकल्प है, वह वस्तुत: उपचार ही है।

जिसप्रकार प्रजा के गुण-दोषों और प्रजा में व्याप्यव्यापकभाव होने से प्रजा ही अपने गुण-दोषों की उत्पादक है – यह स्वभाव से ही सिद्ध होने पर भी प्रजा के गुण-दोषों और राजा में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी उपचार से कहा जाता है कि प्रजा के गुण-दोषों का उद्पादक राजा है।

उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों और पुद्गल द्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव होने से पुद्गलद्रव्य ही अपने गुण-दोषों का उत्पादक है – यह स्वभाव से ही सिद्ध होने पर भी पुद्गल के गुण-दोषों और आत्मा में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी उपचार से कहा जाता है कि पुद्गल के गुण-दोषों का उद्पादक जीव है।"

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य का अर्थ ७६वीं गाथा के अनुशीलन में विस्तार से समझाया जा चुका है। इसीप्रकार व्याप्यव्यापकभाव का स्वरूप भी समझाया जा चुका है। अब यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि आत्मा का पुद्गलकर्म के साथ व्याप्यव्यापकभाव नहीं होने पर भी आत्मा को पुद्गलकर्म के प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप कार्यों का कर्त्ता कहना एकदम उपचरित कथन है।

गाथा में उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमता है और ग्रहण करता है – ये पाँच क्रियापद हैं, पाँच बातें कहीं गई हैं; जिनमें से तीन को तो आचार्य अमृतचन्द्र ने प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य के रूप में प्रस्तुत कर दिया है और शेष दो (करना और बाँधना) को पृथक् से रख दिया है।

आचार्य जयसेन इन पाँच पदों में से चार को प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बंधों से जोड़ देते हैं और 'उत्पन्न करता है' वाले पद को पृथक् से रख कर उसमें चारों को ही सम्मलित कर लेते हैं, पर यह कार्य वे अथवा के रूप में करते हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है –

"व्यवहारनय के अभिप्राय से ऐसा कथन करना योग्य है कि जिसप्रकार कुम्हार घड़े को उत्पन्न करता है, उसीप्रकार अनादि बंधपर्याय के वश से रागादि परिणाम से स्निग्ध होकर आत्मा कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य को द्रव्यकर्म के रूप में उत्पन्न करता है, प्रकृतिबंध को करता है, बाँधता है, परिणमन करता है, ग्रहण करता है; अथवा उत्पन्न करता है का तात्पर्य यह है कि प्रकृतिबंध को करता है, स्थितिबंध को बाँधता है, अनुभागबंध को परिणमन करता है और जिसप्रकार जल में पड़ा हुआ लोहे का गर्म गोला सब ओर से जल ग्रहण करता है, उसीप्रकार विकारी आत्मा सर्वात्मप्रदेशों से प्रदेशबंध को ग्रहण करता है, ऐसा अभिप्राय है।"

आचार्य जयसेन के अनुसार यहाँ तक द्विक्रियावादी के निषेध का ही प्रकरण चल रहा है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है – इस बात को बार-बार क्यों कहा जा रहा है ?

इसका सीधा-सच्चा समाधान तो यही है कि अनादिकालीन अभ्यास के कारण अज्ञानी की परकर्तृत्व सम्बन्धी मान्यता इतनी दृढ़ है कि बारम्बार

समझाने पर भी टूटती नहीं है ? उसे तोड़ने के लिए एवं अकर्तृत्व की मान्यता को दृढ़ता प्रदान करने के लिए ही यहाँ बारंबार कहा जा रहा है कि यह भगवान आत्मा निश्चय से परपदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, इसे परपदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता कहना महज उपचार है।

आचार्य जयसेन को स्वयं ऐसा लगा होगा कि एक ही बात बार-बार आ रही है। अतः उन्होंने स्वयं इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित कर उसका जो उत्तर दिया है, वह इसप्रकार है –

"**शंका** – निश्चयनय से आत्मा द्रव्यकर्म को नहीं करता है – ऐसा कथन बहुत बार किया है, उससे ही द्विक्रियावादी का निराकरण हो जाता है, फिर भी यह पिष्टपेषण क्यों किया जा रहा है ?

समाधान – ऐसा नहीं है, क्योंकि हेतु और हेतुमत् भाव बताने के लिए ऐसा करना कोई दोष नहीं है।"

इसप्रकार इन गाथाओं में अन्तिम रूप से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का कर्त्ता नहीं है; क्योंकि यह आत्मा न तो उन्हें उत्पन्न करता है, न करता है, न परिणमित करता है, न ग्रहण करता है और न बाँधता ही है।

यह सुनिश्चित हो जाने पर इस प्रकार के प्रश्न सहज ही उत्पन्न होते है कि यदि ऐसा है तो फिर इन कर्मों को कौन बाँधता है, ये कर्म आत्मा के साथ क्यों बंधते हैं, कैसे बंधते हैं ?

ये प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इन्हें आचार्य अमृतचन्द्र स्वंय कलश के रूप में उपस्थित करते हैं।

जिस कलश में इसप्रकार का प्रश्न उठाया गया है, वह कलश मूलतः इसप्रकार है –

(बसन्ततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव ।
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव ॥
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय ।
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्त्तृ ॥ ६३॥

(दोहा)

यदी पौद्गलिक कर्म को करे न चेतनराय ।
कौन करे – अब यह कहें सुनो भरम नश जाय ॥ ६३॥

यदि पुद्गलकर्म को जीव नहीं करता है, तो फिर उसे कौन करता है ? – ऐसी आशंका से ही अब तीव्रतरमोह के निवारण के लिए 'पुद्गल कर्म का कर्त्ता कौन है' – यह आगामी गाथाओं में कहते हैं। उसे तुम सुनो।

यह कलश आगामी गाथाओं की उत्थानिका का कलश है, जिसमें यही स्पष्ट किया गया है कि आगामी गाथाओं में पुद्गलकर्म के कर्तृत्व पर प्रकाश डाला जायेगा।

इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है, जो विशेष विश्लेषण की अपेक्षा रखता हो।

बनारसीदासजी ने इस कलश के भाव को इसप्रकार छन्दोबद्ध किया है –

(सवैया तेईसा)

पुग्गलकर्म करै नहि जीव, कही तुम मैं समुझी नहि तैसी ।
कौन करै यह रूप कहौ अब, को करता करनी कहु कैसी ॥
आपुहि आपु मिले बिछुरै जड़, क्यों करि मो मन संसय ऐसी ।
सिष्य संदेह निवारन कारन, बात कहैं गुरु है कछु जैसी ॥

'जीव पुद्गलकर्म को नहीं करता है' – ऐसा जो आपने कहा है, वह मेरी समझ में नहीं आता है। आखिर इन कर्मों को कौन करता है और उसकी करनी (क्रिया) कैसी है ? ये कर्म अपने आप जीव से कैसे बंधते-छूटते हैं ? इसप्रकार का सन्देह मेरे मन में है।

शिष्य के संदेह का निवारण करने के लिए आगामी गाथाओं में गुरुदेव (आचार्यदेव) वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा ही निरूपण करते हैं।

इसप्रकार इस कलश में एक प्रश्न उपस्थित कर दिया गया है; जिसका उत्तर आगामी गाथाओं में दिया जा रहा है।

समयसार गाथा १०९ से ११२

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छतं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ।।१०९॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥
एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा ।
ते जदि करेंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

मिथ्यात्व अरु अविरमण योग कषाय के परिणाम हैं ।
सामान्य से ये चार प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे ॥१०९॥
मिथ्यात्व आदि सयोगि-जिन तक जो कहे गुणथान हैं ।
बस ये त्रयोदस भेद प्रत्यय के कहे जिनसूत्र में ॥११०॥
पुद्गल करम के उदय से उत्पन्न ये सब अचेतन ।
करम के कर्ता हैं ये वेदक नहीं है आतमा ॥१११॥
गुण नाम के ये सभी प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे ।
कर्ता रहा ना जीव ये गुणथान ही कर्ता रहे ॥११२॥

चार सामान्य प्रत्यय बंध के कर्त्ता कहे जाते हैं। उन्हें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के रूप में जानना चाहिए।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त इन चार प्रत्ययों के तेरह भेद कहे गये हैं।

ये सभी अचेतन हैं, क्योंकि पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। यदि ये चार प्रत्यय या तेरह गुणस्थान रूप प्रत्यय कर्मों को करते हैं तो भले करें। आत्मा इन कर्मों का भोक्ता भी नहीं है।

चूँकि ये गुण नामक प्रत्यय अर्थात् गुणस्थान कर्म करते हैं, इसलिए जीव तो इन कर्मों का अकर्त्ता ही रहा और गुण ही कर्मों को करते हैं।

देखो, यहाँ प्रत्ययों को बंध का कर्त्ता कहा जा रहा है; क्योंकि यह तो स्पष्ट किया ही जा चुका है कि बंध का कर्त्ता भगवान आत्मा नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि जब आत्मा बंध का कर्त्ता नहीं है तो फिर बंध का कर्त्ता कौन है ? क्योंकि बंध होता तो है ही। जब बंध होता है तो उसका करने वाला भी कोई न कोई तो होना ही चाहिए, क्योंकि कर्त्ता के बिना कार्य का होना संभव नहीं है।

इसी प्रश्न के उत्तर में यहाँ कहाँ जा रहा है कि बंध के कारण प्रत्यय हैं। वे प्रत्यय सामान्य से चार भागों में विभाजित किये जाते हैं। वे चार प्रकार हैं - मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) में भी बंध के कारणों के रूप में इन्हें ही गिनाया है, पर इतना अन्तर अवश्य है कि वहाँ इनके पाँच प्रकार बताये गये हैं, जिनमें चार प्रकार तो यही है; पाचवाँ प्रकार है प्रमाद, जिसे चारों के एकदम बीचोंबीच रखा गया है। इसप्रकार तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - ये पाँच प्रत्यय बंध के कारण हैं।

तात्पर्य यह है कि बंध के मूल कारण प्रत्यय हैं। प्रत्यय कारण हैं और बंध कार्य है, अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्यय कर्त्ता हैं और बंध कर्म है। प्रत्यय और बंध में कारण-कार्य या कर्त्ता-कर्म संबंध है। कर्ताकर्माधिकार होने से यहाँ इसे कर्ताकर्मसंबंध के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। तात्पर्य यह है कि ये प्रत्यय ही बंध के कर्त्ता हैं, भगवान आत्मा नहीं।

इन चार प्रत्ययों को तेरह गुणस्थान के रूप में भी विभाजित कर सकते हैं। अत: यहाँ कहा गया है कि मिथ्यात्व से सयोगकेवली पर्यन्त जो तेरह गुणस्थान हैं, वे भी इन्हीं चारों प्रत्ययों के कारण बनते हैं। अत: उन तेरह गुणस्थानों को भी बंध का कर्त्ता कहा जा सकता है। कहा क्या जा सकता है, इन गाथाओं में उन्हें बंध कर्त्ता कहा गया है और उनका नाम संक्षेप में 'गुण'

ही रखा हैं। अत: इन गाथाओं की अन्तिम पंक्ति में कहा गया है कि गुण ही कर्म करते हैं, अत: भगवान आत्मा अकर्त्ता है।

ध्यान रहे यहाँ 'गुण' शब्द का अर्थ गुणस्थान ही समझना, ज्ञानादि गुण नहीं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि गुण बंध के कारण नहीं है, गुणस्थान बंध के कारण हैं।

जब भगवान आत्मा बंध का कर्त्ता नहीं है तो वह कर्म का भोक्ता भी नहीं हैं; क्योंकि जो कर्त्ता होता है, भोक्ता भी वही होता है।

इन गाथाओं में एक बात यह भी कही गई है कि अचेतन पौद्गलिक कर्मों के उदय से उत्पन्न होने के कारण ये गुणस्थान भी अचेतन है, पुद्गल हैं और ये ही बंध के कर्त्ता-भोक्ता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"पुद्गल कर्म का कर्त्ता वास्तव में तो एक पुद्गलद्रव्य ही है। उस पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार प्रकार हैं। ये चार प्रकार बंध के सामान्य हेतु होने से बंध के कर्त्ता हैं। इनके ही भेद करने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली पर्यन्त तेरह प्रकार होते हैं, जिन्हें तेरह गुणस्थान करते हैं, विशेष भेद के विचार करने पर ये तेरह कर्त्ता हैं।

(यहाँ आचार्य कहते हैं कि) पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन ये तेरह गुणस्थान ही कर्त्ता होकर व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को करें तो भले करें, इसमें आत्मा का क्या आया ?

यहाँ यदि कोई ऐसा तर्क करे कि पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है।

उससे कहते हैं कि इसप्रकार का तर्क वस्तुत: अविवेक ही है, अविवेक की निशानी ही है; क्योंकि भाव्यभावकभाव का अभाव होने से निश्चय से पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादि का भोक्ता भी आत्मा नहीं है, तो फिर पुद्गलकर्म का कर्त्ता कैसे हो सकता है ?

इससे यह सिद्ध हुआ कि गुण (गुणस्थान) शब्द से कहे जाने वाले पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य प्रत्ययों के भेदरूप तेरह विशेष प्रत्यय ही कर्मों

को करते हैं, इसलिए जीव पुद्गलकर्मों का अकर्त्ता है, किन्तु गुण (गुणस्थान) ही उनके कर्त्ता हैं और वे गुण तो पुद्गलद्रव्य ही हैं, इससे यह सुनिश्चित हुआ कि पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता एक पुद्गल ही है।"

टीका का भाव सरल भाषा में स्पष्ट करते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"शास्त्रों में प्रत्ययों को बन्ध का कर्त्ता कहा गया है। गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही हैं, इसलिये ये गुणस्थान बन्ध के कर्त्ता है अर्थात् पुद्गलकर्म के कर्त्ता हैं, और मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय या गुणस्थानरूप विशेष प्रत्यय अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म का कर्त्ता है, जीव नहीं। जीव को पुद्गलकर्म का कर्त्ता मानना अज्ञान है।"

यहाँ एक बात तो ध्यान देने योग्य यह है कि 'गुणस्थान कर्त्ता होकर व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को करें तो भले ही करें; परन्तु आत्मा तो कर्म का कर्त्ता है ही नहीं' - आत्मख्याति के उक्त वाक्य की भाषा ही ऐसी है कि जिसमें 'आत्मा कर्त्ता नहीं' - इस बात पर अधिक वजन है, गुणस्थान कर्त्ता हैं या नहीं - इस बात पर नहीं।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि यहाँ गुणस्थानों और कर्मबंधन में व्याप्यव्यापकभाव बताया गया है, जबकि व्याप्यव्यापकभाव एक ही वस्तु में घटित होता है; क्योंकि '**व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेत्**- व्याप्यव्यापकता तदात्मक पदार्थों में ही होती है' - ऐसा ४९वें कलश में कहा गया है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"वास्तव में तो प्रत्येक द्रव्य व्यापक (कर्त्ता) है और उसकी पर्याय ही उसका व्याप्य (कर्म) है; परन्तु यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह कहना है कि जो तेरह गुणस्थान हैं, वे तो व्यापक हैं तथा जो नवीन कर्मबंध होता है, वह उनका व्याप्य है। विकारीभाव प्रसारित होकर (पसरकर) नवीन कर्मरूप व्याप्य को बाँधते हैं, करते हैं - यहाँ ऐसा सम्बन्ध लेकर कथन किया है।

व्याप्यव्यापकभाव वस्तुतः एक ही द्रव्य में होता है। द्रव्य कर्त्ता व्यापक एवं उसका कर्म या पर्याय उसका व्याप्य। परन्तु यहाँ दूसरी जुदी शैली

(अपेक्षा) से बात कही गई है। आत्मा शुद्धचैतन्यमय द्रव्य है तथा तेरह गुणस्थान अचेतन हैं। चैतन्यस्वभावी प्रभु आत्मा इन अचेतनरूप तेरह गुणस्थानों को कैसे कर सकता है? जब अचेतन गुणस्थान शुद्ध आत्मद्रव्य में हैं ही नहीं, तो फिर आत्मा नवीन कर्म बाँधता है – यह बात ही कहाँ रही ? अहो ! भेदज्ञान की बात ही अलौकिक है ।[१]''

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में इन गाथाओं के भाव को प्रश्नोत्तर शैली में नयविभाग से विस्तार से स्पष्ट किया है, जो इसप्रकार है –

''निश्चयनय से अभेदविवक्षा में बंध का कर्त्ता एक पुद्गल ही है, भेदविवक्षा में चार सामान्यप्रत्यय – मूलप्रत्यय बंध के कर्त्ता कहे गये हैं और उत्तरप्रत्यय तो बहुत होते हैं – ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

प्रश्न : सामान्य का क्या अर्थ है ?

उत्तर : विवक्षा का अभाव होना ही सामान्य शब्द का अर्थ है। सामान्य के व्याख्यान के समय सर्वत्र ही सामान्य शब्द का यही अर्थ लगाया जाना चाहिए।

ये चार प्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं। – ऐसा जानना चाहिए। उन प्रत्ययों के गुणस्थान के भेद से मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली के चरम समय तक तेरह भेद हैं।

वे मिथ्यात्वादि भावप्रत्यय शुद्धनिश्चयनय से अचेतन ही हैं; क्योंकि वे पुद्गलकर्म के उदय से प्रगट होते हैं।

स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले पुत्र को विवक्षाभेद से कोई देवदत्ता का पुत्र कहता है और कोई देवदत्त का। इन दोनों कथनों में विविक्षा भेद से जिसप्रकार कोई दोष नहीं है; उसीप्रकार जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्वरागादि भावप्रत्यय अशुद्धनिश्चयनय से, अशुद्ध-उपादानरूप से चेतनमय है, जीव के साथ सम्बद्ध हैं और शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध-उपादानरूप से वे मिथ्यात्वरागादि भावप्रत्यय अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-४, पृष्ठ २०८

यदि परमार्थ से विचार करें तो वे मिथ्यात्वरागादि प्रत्यय न तो एकान्त से जीवरूप ही हैं और न एकान्त से पुद्गलरूप ही हैं; किन्तु चूना और हल्दी के संयोग से उत्पन्न हुई कुंकुम के समान वे भी जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होते हैं। यदि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय से विचार करें तो वस्तुतः वे हैं ही नहीं; क्योंकि वे अज्ञान से उत्पन्न हुए कल्पित हैं।

प्रश्न : उक्त कथन का निष्कर्ष क्या है ?

उत्तर : स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न बालक को एकान्त से अकेले पुरुष का कहना या एकान्त से अकेली स्त्री का कहना जिसप्रकार मिथ्या है; उसीप्रकार जीव-पुद्गल के संयोग से उत्पन्न मिथ्यात्व रागादि को एकान्त से अकेले जीव का कहना या एकान्त से अकेले पुद्गल का कहना मिथ्या है।

प्रश्न : यह सब तो ठीक, पर वे रागादिभाव सूक्ष्मशुद्धनिश्चनय से किसके हैं – जीव के या पुद्गल के ?

उत्तर : अरे, भाई ! पहले कह दिया था न कि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय से उनका अस्तित्व ही नहीं हैं – अब इससे अधिक और हम क्या कहें ?

यदि मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म करते हैं तो करते रहें, इसमें जीव का क्या आया, इससे जीव का क्या लेना-देना; क्योंकि शुद्धनिश्चयनय से वे जीव के नहीं है; – यह बात '**सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया** – शुद्धनय से सब जीव शुद्ध ही हैं' – इस आगमवचन से सम्मत ही है।

यदि कोई कहे कि मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्वी होकर यह जीव मिथ्यात्वरागादि कर्मों को भोगता है, अतः कर्त्ता भी होता है।

यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि शुद्धनिश्चयनय से आत्मा कर्मों का भोक्ता भी नहीं है। जब वह भोक्ता ही नहीं है तो कर्त्ता कैसे होगा? – इसप्रकार यह शास्त्रसंमत ही है कि यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय से कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

अब जो एकान्त से जीव को कर्मों का अकर्त्ता मानते हैं, उनके मत में क्या दोष है – यह बताते हैं।

यदि एकान्त से अकर्त्ता कहा जाय तो जिसप्रकार शुद्धनिश्चयनय से अकर्त्ता है, उसीप्रकार व्यवहारनय से भी अकर्त्तापने को प्राप्त होगा। सर्वथा अकर्त्ता मानने में संसार के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा। एक दूषण तो यह आता है और दूसरा दूषण यह आयेगा कि उनके मत में आत्मा किसी भी अपेक्षा कर्मों का वेदक भी नहीं रहेगा। चूंकि सांख्य आत्मा को भोक्ता मानते हैं, इसकारण उन्हें स्वमत के व्याघात का प्रसंग आयेगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि गुणस्थान संज्ञा वाले प्रत्यय ही कर्म करते हैं – यह बात पूर्व सूत्र में कह ही दी है। इसलिए जीव शुद्धनिश्चयनय से कर्मों का कर्त्ता नहीं है, गुणस्थान संज्ञावाले प्रत्यय ही कर्मों के कर्त्ता हैं – यह संमत ही है।"

प्रश्न : गुणस्थान तो चौदह होते हैं, पर यहाँ बार-बार तेरह गुणस्थान कहा जा रहा है। इसका क्या कारण है?

उत्तर : यहाँ बंध के कारणरूप प्रत्ययों की चर्चा है; जो चार प्रकार के बताये गये हैं – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इन चार सामान्य प्रत्ययों के विशेष प्रत्ययों के रूप में ही यहाँ गुणस्थानों की चर्चा है। चौदहवें गुणस्थान में इन चार प्रत्ययों में से कोई भी प्रत्यय नहीं है। अत: यहाँ चौदहवें गुणस्थान को नहीं लिया गया है।

अरे भाई ! यहाँ गुणस्थानों की चर्चा बंध के प्रत्ययों के रूप में है। जब चौदहवें गुणस्थान में बंध ही नहीं होता है तो फिर उसे बंध के कारणरूप प्रत्ययों में कैसे गिनाया जा सकता है।

अत: यही उचित है कि जब बंध के कारण या बंध के कर्त्ता के रूप में गुणस्थानों की चर्चा हो; तब तेरह गुणस्थानों की बात लेना चाहिए।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि तेरह गुणस्थान अथवा मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्मों के कर्त्ता और कर्मबंध के कारण हैं, आत्मा नहीं। •

समयसार गाथा ११३ से ११५

अब आगामी गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि विगत गाथाओं में जिन मिथ्यात्वादि प्रत्ययों को या गुणस्थानरूप प्रत्ययों को बंध का कारण बताया गया है; उन प्रत्ययों और कर्म-नोकर्म से भगवान आत्मा अत्यन्त भिन्न ही है।

वे गाथायें मूलतः इसप्रकार है –

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

उपयोग जीव अनन्य ज्यों यदि त्योंहि क्रोध अनन्य हो ।
तो जीव और अजीव दोनों एक ही हो जायेंगे ॥ ११३॥
यदि जीव और अजीव दोनों एक हों तो इसतरह ।
का दोष प्रत्यय कर्म अर नोकर्म में भी आयगा ॥ ११४॥
क्रोधान्य है अर अन्य है उपयोगमय यह आतमा ।
तो कर्म अरु नोकर्म प्रत्यय अन्य होंगे क्यों नहीं ? ॥ ११५॥

जिसप्रकार जीव से उपयोग अनन्य है; उसीप्रकार यदि क्रोध भी जीव से अनन्य हो तो जीव और अजीव में अनन्यत्व हो जायेगा, एकत्व हो जायेगा।

ऐसा होने पर इस जगत में जो जीव है, वही नियम से अजीव ठहरेगा और इसीप्रकार का दोष प्रत्यय, कर्म और नोकर्म के साथ भी आयेगा।

यदि इस भय से तू यह कहे कि क्रोध अन्य है और उपयोगस्वरूपी जीव अन्य है तो जिसप्रकार क्रोध जीव से अन्य होगा; उसीप्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी जीव से अन्य सिद्ध होंगे।

इन गाथाओं में यह कहा गया है कि जो मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय अथवा तेरह गुणस्थान रूप तेरह प्रत्यय बंध के कारण हैं, आस्रव हैं; वे उपयोगमयी आत्मा से भिन्न हैं, इसकारण आत्मा को बंध का कर्त्ता नहीं माना जा सकता है।

आत्मा को बंध का कर्त्ता मानने की भावना से यदि इन प्रत्ययों को आत्मा से अभिन्न माना जायेगा तो फिर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों से भी आत्मा को अभिन्न मानना होगा, जो कि किसी भी दृष्टि से उचित नहीं हैं; क्योंकि कर्म और नोकर्म में एकत्व-ममत्व रखना और इनका कर्त्ता-भोक्ता आत्मा को मानना ही अज्ञान है, मिथ्यात्व है। – यह बात विगत गाथाओं में विस्तार से समझाई जा चुकी है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसप्रकार जीव के उपयोगमयी होने के कारण जीव से उपयोग अनन्य है; उसीप्रकार यदि ऐसी प्रतिपत्ति की जावे कि जड़क्रोध भी जीव से अनन्य ही है तो चैतन्यरूप जीव और जड़क्रोध के अनन्यत्व के कारण जीव में उपयोगमयता के समान जड़क्रोधमयता भी आ जावेगी। – ऐसा होने पर जो जीव है, वही अजीव सिद्ध होगा; इसप्रकार अन्य द्रव्य का लोप हो जावेगा।

इसीप्रकार का दोष प्रत्यय, कर्म और नोकर्म को जीव से अनन्य मानने पर आवेगा।

इस दोष के भय से यदि यह स्वीकार किया जाय कि उपयोगमयी जीव अन्य है और जड़स्वभावी क्रोध अन्य है; तो जिसप्रकार उपयोगमयी जीव जड़स्वभावी क्रोध से अन्य है; उसीप्रकार जड़स्वभावी प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी उपयोगमयी जीव से अन्य ही सिद्ध होंगे; क्योंकि उनके जड़स्वभावत्व में कोई अन्तर नहीं है। जिसप्रकार क्रोध जड़ है; उसीप्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी जड़ हैं।

इसप्रकार जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं है।"

इन गाथाओं और उनकी टीका का भाव जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में अति संक्षेप में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़स्वभाव हैं और जीव चैतन्यस्वभाव है। यदि जड़ और चेतन एक हो जायें तो भिन्न द्रव्यों के लोप होने का महादोष आता है। इसलिए निश्चयनय का यह सिद्धान्त है कि आस्रव और आत्मा में एकत्व नहीं है।"

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि प्रत्यय रूप आस्रवभाव ही बंध के कारण हैं, भगवान आत्मा बंध का कारण नहीं है। भगवान आत्मा तो बंध का कारण है ही नहीं, आत्मा का उपयोगमयी स्वभाव भी बंध का कारण नहीं है; क्योंकि जानना-देखना आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव बंध का कारण नहीं होता। मिथ्यात्वादिभाव विभाव हैं, जड़ हैं; वे ही बंध के कारण हैं।

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"अब कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव एवं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये सब आस्रव प्रत्यय हैं; शरीर, मन, वाणी इत्यादि नोकर्म हैं तथा ज्ञानावरणादि आठ कर्म जड़कर्म हैं। इन सबको यदि आत्मा करे, तो आत्मा उन सबसे अनन्य अर्थात् एक (अभिन्न) ठहरेगा और ये सब जड़स्वरूप हैं, अत: आत्मा को भी जड़ मानना होगा। ऐसी मान्यता से चैतन्य द्रव्य का लोप हो जायेगा, जबकि भगवान तो स्वरूप से शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा है, पुण्य-पाप के भावों का ज्ञातादृष्टा है; वह पर का कर्त्ता या पररूप नहीं होता है और पर पदार्थ भी ज्ञातादृष्टा नहीं होते। इसकारण जीव से राग अनन्य है – ऐसा मानने पर जो दोष आता है, वही दोष प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्म आत्मा से अभिन्न (एक) हैं – ऐसा मानने में आता है।

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि चैतन्य उपयोगमय ज्ञानस्वरूप जीव अन्य है और जड़स्वभावी क्रोध अन्य है। शुभाशुभभाव जड़ हैं और चैतन्यमय आत्मा से अन्य हैं।[१]"

यद्यपि आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति में आत्मख्याति का ही अनुसरण किया है; तथापि प्रश्नोतर के रूप में कुछ नया प्रमेय भी प्रस्तुत किया है; जो इसप्रकार है –

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ २१८

"**प्रश्न** – आप बहुधा ऐसा कहते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से जीव क्रोधादि का अकर्त्ता है और व्यवहारनय से कर्त्ता है।

अब प्रश्न यह है कि जिसप्रकार व्यवहारनय से जीव द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है; उसीप्रकार व्यवहारनय से भावकर्मों का भी कर्त्ता है; तो फिर द्रव्यकर्म और भावकर्म – इन दोनों में एकत्व प्राप्त होगा; क्योंकि दोनों का ही कर्त्ता आत्मा व्यवहारनय से ही है।

उत्तर – ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस व्यवहारनय से रागादिभावकर्मों का कर्त्ता आत्मा को कहा जाता है; उस व्यवहारनय को अशुद्धनिश्चयनय के नाम से भी कहा जाता है। – यह कथन द्रव्यकर्मों से भावकर्मों का तारतम्य दिखाने के लिये किया जाता है।

प्रश्न – कैसा तारतम्य ?

उत्तर – यद्यपि द्रव्यकर्म अचेतन हैं और भावकर्म चेतन हैं; तथापि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा भावकर्म भी अचेतन ही हैं। इसकारण अशुद्धनिश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय ही है।

इसका भावार्थ यह है कि जीव द्रव्यकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से है और रागादिभावकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता अशुद्धनिश्चयनय से है। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा यह अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार ही है।"

शास्त्रों में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार के कथन आते हैं। आत्मा को शुभाशुभभावों का कर्त्ता-भोक्ता कहीं तो व्यवहारनय से बताया जाता है और कही अशुद्धनिश्चयनय से। इसप्रकार के कथन को पढ़कर चित्त में जो असमंजस हो जाता है; उसका निराकरण तात्पर्यवृत्ति के उक्त कथन से भली-भाँति हो जाता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि इन गाथाओं का मूल प्रतिपाद्य यही है कि बंध के कारण रूप जो मिथ्यात्वादि प्रत्यय हैं; यह भगवान आत्मा उनसे भिन्न है; इसकारण यह भगवान आत्मा बंध का कारण भी नहीं है और बंध का कर्त्ता-भोक्ता भी नहीं है। •

समयसार गाथा ११६ से १२०

अब आगामी १० गाथाओं में सयुक्ति यह समझाते हैं कि जीव और पुद्गल – दोनों ही पदार्थों में परिणामशक्ति होने से वे स्वयं ही परिणमनशील हैं; उन्हें स्वयं के परिणमन में पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है।

सर्वप्रथम गाथा ११६ से १२० तक सांख्यमतानुयायी शिष्य को ध्यान में रखकर पुद्गलद्रव्य को परिणामस्वभावी सिद्ध करते हैं। गाथाएं इसप्रकार हैं –

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पोग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥ ११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ ११७॥
जीवो परिणमायदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥ ११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥ १२०॥

यदि स्वयं ही कर्मभाव से परिणत न हो ना बंधे ही ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा कर्ममय पुद्गल दरव ॥ ११६॥
कर्मत्व में यदि वर्गणाएँ परिणमित होंगी नहीं ।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ती ॥ ११७॥
यदि परिणमावे जीव पुद्गल दरव को कर्मत्व में ।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥ ११८॥
यदि स्वयं ही परिणमें वे पुद्गल दरव कर्मत्व में ।
मिथ्या रही यह बात उनको परिणमावे आतमा ॥ ११९॥
जड़कर्म परिणत जिसतरह पुद्गल दरव ही कर्म है ।
जड़ ज्ञान-आवरणादि परिणत ज्ञान-आवरणादि हैं ॥ १२०॥

'यह पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं नहीं बंधा और कर्मभाव से स्वयं परिणमित नहीं हुआ' – यदि ऐसा माना जाये तो वह पुद्गल द्रव्य अपरिणामी सिद्ध होता है और कार्माणवर्गणाएँ कर्मभाव से परिणमित नहीं होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है।

यदि ऐसा माना जाय कि जीव पुद्गलद्रव्यों को कर्मभाव से परिणमाता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं नहीं परिणमती हुई उन कार्माणवर्गणाओं को चेतन आत्मा कैसे परिणमन करा सकता है ?

यदि ऐसा माना जाय कि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मभाव से परिण करता है तो जीव कर्म (पुद्गलद्रव्य) को कर्मरूप परिणमन कराता है, कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

अत: ऐसा जानो कि जिसप्रकार नियम से कर्मरूप (कर्त्ता के कार्यरूप) परिणमित पुद्गलद्रव्य कर्म ही है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही है।

उक्त गाथाओं की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि अब सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध करते हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द का शिष्य होकर कोई व्यक्ति सांख्यमतानुयायी कैसे हो सकता है; क्योंकि जो सांख्यमत को मानने वाला होगा, वह जैनाचार्य का शिष्यत्व कैसे स्वीकार कर सकता है ?

कोई-कोई व्यक्ति जैनधर्म की आस्था वाले होकर भी निश्चयनय के पक्ष को सुनकर उसके एकान्त में चढ़ जाते हैं और वस्तु के परिणमनस्वभाव की उपेक्षा कर उसे सर्वथा अपरिणामी ही मानने लगते हैं। वे प्रगटरूप से तो जैन ही रहते हैं, पर उनकी अन्तरमान्यता सांख्यों जैसी हो जाती है। ऐसे लोगों को ही यहाँ सांख्यमतानुयायी शिष्य कहकर संबोधित किया है।

इन गाथाओं में सयुक्ति यह सिद्ध किया गया है कि पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणमनशील है, उसे अपने परिणमन में पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं अबद्ध रहे और स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित न हो तो वह अपरिणामी सिद्ध होगा। ऐसा होने पर संसार का अभाव सिद्ध होगा। कारण यह है कि कार्माणवर्गणा के कर्मरूप हुए बिना जीव कर्म रहित सिद्ध होगा, ऐसी स्थिति में संसार कैसा ? क्योंकि जीव की कर्मबद्ध अवस्था का नाम ही तो संसार है।

इससे बचने के लिए यदि यह तर्क उपस्थित किया जाय कि जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है, इसलिए संसार का अभाव नहीं होगा। इस तर्क पर विचार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं अपरिणमित पुद्गलद्रव्य को जीव कर्मरूप परिणमाता है कि स्वयं परिणमित पुद्गलद्रव्य को ?

स्वयं अपरिणमित पदार्थ को दूसरे के द्वारा परिणमित कराना शक्य नहीं है; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।

तथा स्वयं परिणमित होने वाले पदार्थ को अन्य परिणमन कराने वाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

इसप्रकार दोनों ही पक्षों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप परिणमाता है। अतः यही ठीक है कि पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणामस्वभावी हो।

ऐसी स्थिति में जिसप्रकार घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है, उसीप्रकार जड़स्वभाववाले ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म है।

इसप्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।"

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई है कि कार्माणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य अपने परिणमनस्वभाव के कारण ही कर्मरूप परिणमित होता है।

आगामी कलश में भी इसी बात को स्पष्ट किया गया है, जो इसप्रकार है –

(उपजाति)

स्थितेत्याविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ ६४॥

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
यह सहज ही नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥ ६४॥

इसप्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणामशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई और उसके सिद्ध होने पर पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है, उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार किया गया है -

(दोहा)

पुदगल परिनामी दरव, सदा परिनवै सोइ ।
यातैं पुदगल करम कौ, पुदगल करता होइ ॥

इन गाथाओं की टीका लिखते समय आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति में लगभग इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया है। हाँ, एक बात, जो तात्पर्यवृत्ति में सहज ही आगई है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। उसमें कहा गया है कि जब कोई भी महत्त्वपूर्ण बात कही जावे तो उसका अर्थ पाँच प्रकार से किया जाना चाहिए। उसका शब्दार्थ बताया जाना चाहिए, वह कौन-से नय का कथन है – यह बताना चाहिए, वह बात किस मत के सन्दर्भ कही गई है – यह बताना चाहिए। उस बात के समर्थक आगम को प्रस्तुत करना भी जरूरी है और उसका भावार्थ क्या है – यह बताना भी आवश्यक है। ध्यान रहे भावार्थ में हेयोपादेय का व्याख्यान किया जाता है।

जो लोग अति महत्त्वपूर्ण बातों में भी आगम और नयों की उपेक्षा करना चाहते हैं और भावार्थ में चाहे जो कुछ लिख देना अपना अधिकार समझते हैं; उन लोगों को आचार्य जयसेन के उक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए।

समयसार गाथा १२१ से १२५

११६ से १२० गाथा तक पाँच गाथाओं में जो बात पुद्गल के बारे में कही गई है, वही बात आगामी पाँच गाथाओं में जीव के बारे में कही जा रही है; जो इसप्रकार है –

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥ १२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२२॥
पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥ १२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥ १२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणवजुत्तो माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥ १२५॥

यदि स्वयं ही ना बंधे अर क्रोधादिमय परिणत न हो ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा जीव तेरे मत विषें ॥ १२१॥
स्वयं ही क्रोधादि में यदि जीव ना हो परिणमित ।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ती ॥ १२२॥
यदि परिणमावे कर्मजड़ क्रोधादि में इस जीव को ।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥ १२३॥
यदि स्वयं ही क्रोधादि में परिणमित हो यह आतमा ।
मिथ्या रही यह बात उसको परिणमावे कर्म जड़ ॥ १२४॥
क्रोधोपयोगी क्रोध है मानोपयोगी मान है । ।
मायोपयोगी माया है लोभोपयोगी लोभ है ॥ १२५॥

'यह जीव कर्म में स्वयं नहीं बंधता और क्रोधादिभाव में स्वयमेव नहीं परिणमता' – यदि ऐसा तेरा मत है तो यह जीव द्रव्य अपरिणामी सिद्ध होगा। जीव द्रव्य स्वयं क्रोधादिभावरूप परिणमित नहीं होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है।

यदि ऐसा माना जाय कि क्रोधरूप पुद्गलकर्म जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं नहीं परिणमते हुए जीव को क्रोधकर्म, क्रोधरूप कैसे परिणमा सकता है ?

तथा यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा स्वयं ही क्रोधभाव रूप से परिणमत है तो फिर – क्रोधकर्म जीव को क्रोधरूप परिणमाता है – यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

अतः यह मानना ही ठीक है कि क्रोध में उपयुक्त आत्मा क्रोध ही है, मान में उपयुक्त आत्मा मान ही है और माया में उपयुक्त आत्मा माया ही है और लोभ में उपयुक्त आत्मा लोभ ही है।

उक्त गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि जीव स्वयं ही अपने परिणामों का कर्ता है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां जीव को क्रोधादि भावों का कर्ता बताया गया है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"यदि जीव कर्म में स्वयं न बंधता हुआ क्रोधादिभावों में स्वयमेव ही परिणमित न होता हो तो वह वस्तुतः अपरिणामी ही सिद्ध होगा और ऐसा होने से संसार का अभाव सिद्ध होगा।

इससे बचने के लिए यदि यह तर्क उपस्थित किया जाय क्रोधादिरूप पुद्गलकर्म जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित करता है, इस कारण संसार का अभाव नहीं होगा।

इस तर्क पर विचार करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्रोधादिरूप पुद्गल कर्म स्वयं अपरिणमते हुए जीव को क्रोधादिरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए जीव को ?

स्वयं अपरिणमित पदार्थ को दूसरे के द्वारा परिणमित कराना शक्य नहीं है; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।

तथा स्वयं परिणमित होने वाले पदार्थ को अन्य परिणमन कराने वाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

इसप्रकार दोनों ही पक्षों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि क्रोधादिरूप पुद्गलकर्म जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित कराता है। अतः यही ठीक है कि जीव परिणमनस्वभाववाला स्वयं ही हो। ऐसी स्थिति में जिसप्रकार गरुण के ध्यानरूप परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड़ है; उसीप्रकार अज्ञानस्वभावयुक्त क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है, ऐसा जीव स्वयं ही क्रोधादि है।

इसप्रकार जीव का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।''

उक्त सम्पूर्ण कथन में न केवल यह कहा है कि यह आत्मा स्वयं क्रोधादिभाव रूप परिणमित होता है, अपितु यह भी कहा है कि क्रोधादिरूप से परिणमित आत्मा स्वयं क्रोध ही है।

यहाँ आपको ऐसा लग सकता है कि आत्मा क्रोध कैसे हो सकता है ? पर बात यह है कि जिस नय से यहाँ आत्मा को क्रोधादि का कर्त्ता कहा जा रहा है, उसी नय से उसे क्रोध भी कहा जा सकता है; क्योंकि एकत्व, ममत्व, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व एक नय के ही विषय बनते हैं। तथा जिस नय से आत्मा को क्रोध कहना संभव नहीं है, उस नय से उसे क्रोधादि का कर्त्ता कहना भी सम्भव नहीं है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा अपनी स्वभाविक परिमाणशक्ति के कारण ही क्रोधादिरूप परिणमित होता है, अन्य द्रव्य के कारण नहीं है।

इसी बात को आगामी कलश में व्यक्त किया गया है, जो इसप्रकार है-

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥ ६५॥

(हरिगीत)

आत्मा में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
यह सहज ही नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥ ६५॥

इसप्रकार जीव की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध होने पर जीव अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्ता होता है।

पण्डित श्री बनारसीदासजी ने उक्त छन्द का भावानुवाद समयसारनाटक में इसप्रकार किया है –

(दोहा)

जीव चेतना संजुगत सदा पूरण सब ठौर ।
तातैं चेतनभाव कौ करता जीव न और ॥

ज्ञान-दर्शन चेतना से युक्त यह जीव सदा ही सर्वांग परिपूर्ण वस्तु है। इसकारण चेतनभावों का कर्त्ता जीव ही है; अन्य कोई नहीं।

इसप्रकार विगत १० गाथाओं २ कलशों में यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई कि पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता पुद्गलद्रव्य है और चेतनभावों का कर्त्ता जीव है।

प्रश्न – इन्हीं गाथाओं का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य जयसेन तो लिखते हैं कि जीव अपनी स्वभावभूत परिणामशक्ति के कारण क्रोधादिभावों का उपादानकर्त्ता है। इसका क्या आशय है ?

उत्तर – यही आशय है कि क्रोधादिभावों का वास्तविक कर्त्ता आत्मा ही है; क्योंकि उपादानकर्त्ता ही वास्तविक कर्त्ता होता है। क्रोधादिभावों में द्रव्यकर्म का उदय तो मात्र निमित्त है।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो आचार्य अमृतचन्द्र ने ऐसा क्यों नहीं लिखा है?

उत्तर – आचार्य अमृतचन्द्र ने भी घट की कर्त्ता मिट्टी और गरुड़ के ध्यान में परिणत मंत्र साधक का उदाहरण देकर उपादानकर्त्ता की ओर ही संकेत किया है।

प्रत्येक पदार्थ अपनी उपादानगत योग्यता के कारण ही परिणमित होता है, पर पदार्थ तो उसके परिणमन में निमित्तमात्र ही होते हैं। वे उसे परिणमाते नहीं हैं। यही बात इन गाथाओं और कलशों में स्पष्ट की गई है। तात्पर्य यह है कि पदार्थों का परिणमन उनकी विकृति का सूचक नहीं है, अपितु उनकी स्वभावगत योग्यता का परिणाम है, उनकी परिणामशक्ति का कार्य है।

देखो, यहाँ टीका में दो बातें बहुत साफ-साफ कही गई हैं –

(१) जिस कार्य को करने की शक्ति स्वयं में न हो तो अन्य के द्वारा वह शक्ति उत्पन्न नहीं की जा सकती।

(२) स्वयं का कार्य करने में शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

इन दोनों सिद्धान्तों के माध्यम से आचार्य यह बात साफ कर देना चाहते हैं कि कार्य परिणामशक्तिरूप उपादान से ही होता है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार इसप्रकार हैं –

"अब आचार्यदेव कहते हैं कि जीव अपने जिन भावों को करता है, उनका कर्त्ता वह स्वयं होता है। स्वयं परिणमन करता हुआ जीव अपने जिन परिणामों को करता है, उन परिणामों का कर्त्ता वह स्वयं होता है। चाहे वे परिणाम मिथ्यात्व व राग-द्वेष के हों या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के हों; उन परिणामों को जीव स्वयं करता है और स्वयं ही वह अपने परिणामों का कर्त्ता है। अपने परिणमन में कोई अन्य का हस्तक्षेप नहीं है और अन्य किसी के परिणाम को वह स्वयं करता भी नहीं है।

अज्ञानी अज्ञानभाव से राग-द्वेष का कर्त्ता होता है तथा ज्ञानी ज्ञानभाव से ज्ञान का कर्त्ता होता है। जड़ परमाणुओं का या जड़कर्मों का कर्त्ता ज्ञानी व अज्ञानी कोई नहीं है। जड़कर्म तो स्वयं अपनी सामर्थ्य से परिणमन करते हैं तथा जीव भी स्वयं अपनी सामर्थ्य से परिणमता है।

मिथ्यात्व के जो भाव होते हैं, वे स्वयं अपनी योग्यता से अपने कारण होते हैं, किसी कुगुरु के कारण से नहीं। इसीतरह सम्यक्त्व के परिणाम भी स्वयं से सहज होते हैं, किसी सुगुरु के कारण नहीं। निमित्तादि पर कारणों से किसी में कोई भी कार्य कभी भी नहीं होता है।

अपनी परिणमनशक्ति से ही अपने में अपना कार्य होता है, पर से नहीं। भाई ! यदि यह एक सिद्धान्त ही अच्छी तरह यथार्थ समझ में आ जावे, तो सर्व समाधान हो जायें। यह ऐसी अद्भुत बात है।

प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। एक द्रव्य की पर्याय कोई अन्य द्रव्य नहीं कर सकता। जीव में स्वत: निर्विघ्न परिणमनशक्ति है। तात्पर्य यह है कि जीव की परिणमनशक्ति किसी अन्य द्रव्य के आश्रित नहीं है। जब जीव निर्मल या मलिनभाव से परिणमित होता है, तब उसकी निर्मल या मलिन पर्याय स्वयं से होती है, पर से या कर्म से नहीं; उसीप्रकार जब कोई भी परमाणु पलटता है, तो वह भी अपनी परिणमनशक्ति से ही पलटता है, आत्मा से नहीं। प्रत्येक पदार्थ में अनादि-अनन्त परिणमनस्वभाव है; इसकारण प्रतिसमय वह स्वयं से परिणमता है, पर से नहीं – ऐसी ही वस्तुस्थिति है।[१]''

इन गाथाओं के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में तीन गाथायें आती हैं, जो आत्मख्याति में नहीं हैं। वे गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

जो साधु बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध जानता है, अनुभव करता है; उस निसंग साधु को परमार्थ के जानने वाले सर्वज्ञ परमात्मा या ज्ञानीजन साधु कहते हैं।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

जो परमसाधु समस्त चेतन-अचेतन एवं शुभाशुभ परद्रव्यों में मोह छोड़कर ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानते हैं, परद्रव्यों से भिन्न अनुभव करते हैं; उसे परमार्थ को जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा या ज्ञानीजन जितमोह साधु कहते हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २४२-२४३

इस गाथा की टीका लिखने के उपरान्त आचार्य जयसेन मोह पद को बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, बुद्धि, उदय, शुभपरिणाम, अशुभपरिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन पद रखकर २० सूत्र बनाने का आदेश देते हैं। तथा यह भी लिखते हैं कि इसप्रकार अपने आत्मस्वभाव से भिन्न असंख्यातलोकप्रमाण विभावभाव हैं। - ऐसा जानना चाहिए।

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥

जो योगीन्द्र शुभोपयोगरूप धर्म परिणाम को, पुण्य को छोड़कर ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित अनुभव करते हैं, उन्हें परमार्थ के जाननेवाले सर्वज्ञ भगवान या ज्ञानीजन व्यवहार धर्मरूप पुण्य परिग्रह से रहित साधु कहते हैं।

उक्त गाथाओं पर गहराई से दृष्टिपात करते हैं तो निम्नांकित बातें विशेष ख्याल में आती हैं -

(१) इन तीन गाथाओं में मध्य की गाथा ३२वीं गाथा के समान ही है; मात्र अन्तर इतना ही है कि उसमें समागत '**जिणित्ता**' पद के स्थान पर इसमें '**मुइत्ता**' पद आया है। **जिणित्ता** का अर्थ जीतकर होता है और **मुइत्ता** का अर्थ छोड़कर होता है।

(२) यद्यपि '**परमट्ठवियाणया विंति**' पद तीनों ही गाथाओं में एक-सा है; तथापि तात्पर्यवृत्ति में प्रथम गाथा में उसका अर्थ गणधरदेव और दूसरी गाथा में तीर्थंकरदेव तथा तीसरी गाथा में प्रत्यक्षज्ञानी अर्थ किया है।

चूँकि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी से लेकर सर्वज्ञ परमात्मा तक सभी लोग परमार्थ के ज्ञाता हैं; अत: मैंने इसका अर्थ तीर्थंकरदेव या ज्ञानीजन किया है।

(३) तीसरी गाथा ३७वीं गाथा से मिलती-जुलती है; तथापि ३७वीं गाथा में 'धम्म' पद का प्रयोग धर्मद्रव्य के अर्थ में है और यहाँ पुण्यभाव के अर्थ में 'धम्म' पद का प्रयोग है।

(४) प्रथम गाथा में 'शुद्ध' पद का अर्थ द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित किया और तीसरी गाथा में शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित किया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पहली गाथा में संग (परिग्रह) को छोड़ने की बात है और तीसरी गाथा में पुण्यभाव को छोड़ने की बात है। संग में बाह्य पदार्थ और रागादिविकार – सभी आ जाते हैं तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म में भी सभी बाह्य परिग्रह तथा रागादि भावरूप अंतरंग परिग्रह – ये सभी आ जाते हैं।

(५) १२५वीं गाथा में यह कहा था कि क्रोध में उपयुक्त आत्मा क्रोध है, मान में उपयुक्त आत्मा मान है, माया में उपयुक्त आत्मा माया है और लोभ में उपयुक्त आत्मा लोभ है।

१२६वीं गाथा में यह कहने वाले हैं कि जो आत्मा जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्त्ता होता है और ज्ञानी के सर्व भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय।

१२५वीं गाथा में क्रोधादिरूप अज्ञानमयभाव की बात तो आ गई थी, पर ज्ञानमयभावों की बात नहीं आई थी। अत: उक्त तीन गाथाओं में ज्ञानमय भावों की चर्चा की गई है। •

देख ! देख !! देख !!!

अपनी ओर देख ! एक बार इसी जिज्ञासा से अपनी ओर देख !! जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है, अपना आत्मा ही है। यह आत्मा शब्दों में नहीं समझाया जा सकता, इसे वाणी से नहीं बताया जा सकता। यह शब्दजाल और वाक्विलास से परे है। यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है। यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड है और आनन्द का कन्द है। अत: समस्त परपदार्थों, उनके भावों एवं अपनी आत्मा में उठने वाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर में झाँक! अन्तर में देख, अन्तर में ही देख! देख!! देख!!!

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७६

समयसार गाथा १२६-१२७

६५वें कलश के बाद तत्काल आने वाली गाथा १२६ की उत्थानिका आत्मख्याति में मात्र 'तथाहि' शब्द के रूप में ही दी गई है। 'तथाहि' शब्द का आशय ही यह है कि जो बात अभी-अभी कही गई है, अब उसी को विस्तार से समझाते हैं। इसका आशय यह है कि ६५वें कलश में समागतभाव को ही आगामी गाथाओं में विस्तार से स्पष्ट किया जायगा।

६५वें कलश में यह कहा गया है कि जीव अपनी स्वभावभूत परिणामशक्ति के कारण जिस-जिस भाव रूप परिणमित होता है, वह उन-उन भावों का कर्त्ता होता है। अत: अब आगामी गाथाओं में उसी भाव को स्पष्ट कर रहे हैं।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥ १२६॥
अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमयो णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ॥ १२७॥

जो भाव आतम करे वह उस कर्म का कर्ता बने ।
ज्ञानियों के ज्ञानमय अज्ञानि के अज्ञानमय ॥ १२६॥
अज्ञानमय हैं भाव इससे अज्ञ कर्ता कर्म का ।
बस ज्ञानमय हैं इसलिए ना विज्ञ कर्ता कर्म का ॥ १२७॥

आत्मा जिस भाव को करता है, वह उस भावरूप कर्म का कर्त्ता होता है। ज्ञानी के वे भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय। अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होने से अज्ञानी कर्मों को करता है और ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होने से ज्ञानी कर्मों को नहीं करता।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"इसप्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है और अपने जिस भाव को करता है, कर्मपने को प्राप्त उस भाव का कर्त्ता होता है। तात्पर्य यह

है कि वह भाव आत्मा का कर्म है और आत्मा उस भाव का कर्त्ता है। वह भाव भी ज्ञानी के ज्ञानमय ही होता है; क्योंकि ज्ञानी को स्वपर के विवेक से सर्व परभावों से भिन्न आत्मा की ख्याति सम्यक्प्रकार से अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है। तथा वह भाव अज्ञानी के अज्ञानमय ही होता है; क्योंकि उसे सम्यक्प्रकार से स्वपर का विवेक न होने से परपदार्थों से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है।

सम्यक्प्रकार से स्वपर का विवेक न होने से, पर से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त होने से; अज्ञानी के अज्ञानमय भाव ही होते हैं। ऐसी स्थिति में स्वपर के एकत्व के अभ्यास के कारण ज्ञानमात्रभाव से भ्रष्ट और राग-द्वेष भाव से एकाकार होकर अहंकार में प्रवर्त्तमान 'मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, मैं राग-द्वेष करता हूँ' - इसप्रकार मानता हुआ अज्ञानी रागी-द्वेषी होता है, अज्ञानमय भाव के कारण स्वयं को राग-द्वेषरूप करता हुआ कर्मों को करता है।

ज्ञानी के तो सम्यक्प्रकार से स्वपर के विवेक के द्वारा पर से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई होने से ज्ञानमय भाव ही होता है। ऐसी स्थिति में स्वपर के भिन्नत्व के विज्ञान के कारण ज्ञानमात्र निजभाव में भलीप्रकार स्थित, पररूप राग-द्वेषादि भावों से भिन्नत्व के कारण अहंकार से निवृत्त ज्ञानी मात्र जानता ही है, रागी-द्वेषी नहीं होता, राग-द्वेष नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानमय भाव के कारण ज्ञानी स्वयं को राग-द्वेष रूप न करता हुआ कर्मों को नहीं करता।''

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

''ज्ञानी को स्वपर का भेदज्ञान हुआ है; इसलिए उसके अपने ज्ञानमयभाव का ही कर्तृत्व है और अज्ञानी को स्वपर का भेदज्ञान नहीं है; इसलिए उसके अज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है।

इस आत्मा के क्रोधादिक मोहनीय कर्म की प्रकृति (राग-द्वेष) का उदय आने पर अपने उपयोग में उसका राग-द्वेष रूप मलिन स्वाद आता है। अज्ञानी

स्वपर का भेदज्ञान न होने से यह मानता है कि 'यह राग-द्वेषरूप मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है – वही मैं हूँ।' इसप्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि करता हुआ अज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी करता है; इसलिए वह कर्मों को करता है। इसप्रकार अज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध होता है।

ज्ञानी के भेदज्ञान होने से वह ऐसा जानता है कि 'ज्ञानभाव शुद्ध उपयोग है, वही मेरा स्वरूप है – वही मैं हूँ; राग-द्वेष कर्मों का रस है, वह मेरा स्वरूप नहीं है।' इसप्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि न करता हुआ ज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है, इसलिए वह कर्मों को नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानमयभाव से कर्मबन्ध नहीं होता।''

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं –

''ज्ञानी का ज्ञानमय परिणाम है, इसका अर्थ भी यही है कि ज्ञानी का वीतरागतामय परिणाम है। उसकी दृष्टि वीतरागी हुई है, ज्ञान वीतरागी हुआ है एवं आचरण भी वीतरागी हुआ है। ज्ञानी के सर्वभाव वीतरागी है, इसकारण ज्ञानी वीतरागभाव का ही कर्त्ता है और वीतरागभाव उसका कर्म है।[१]

परन्तु जो व्यवहाररत्नत्रय का राग होता है, ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं। व्यवहाररत्नत्रय का जो राग होता है, उसे ज्ञानी मात्र जानता है, किन्तु वह राग ज्ञानी का कार्य नहीं है।[२]

प्रश्न – ज्ञानी को यथापदवी राग तो आता है न ?

उत्तर – हाँ, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, व्रत, दानादि का राग ज्ञानी को भी भूमिकानुसार आता है, परन्तु ज्ञानभाव से परिणमित ज्ञानी के ज्ञान परिणमन से वह राग भिन्न रह जाता है। 'अपना चैतन्यस्वरूप राग से भिन्न है' – ऐसा भेदज्ञान प्रगट हो जाने से ज्ञानी को जो शुभाशुभ राग आता है, वह उसका ज्ञाता रहता है, कर्त्ता नहीं बनता। ज्ञानी को राग की रुचि एवं उसका स्वामित्व नहीं है। राग के स्वामीपने से नहीं परिणमता ज्ञानी मात्र अपने शुद्ध

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २५०
२. वही, पृष्ठ २५०

परिणाम का ही कर्त्ता होता है। ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होते हैं, राग ज्ञानी का कर्तव्य (कार्य) नहीं है।[१]

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन अनन्तगुणमय पवित्रधाम प्रभु स्वयं 'स्व' है और जो दया-दान, भक्ति आदि के विकल्प उठे, वे 'पर' हैं। अज्ञानी को ऐसा निर्मल भेदज्ञान नहीं होता। स्वपर का भेदज्ञान नहीं होने से वह अज्ञानमय भावों का कर्त्ता होता है, अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के जो विकल्प उठते हैं, उनका वह कर्त्ता होता है।[२]"

इसप्रकार इन गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया कि ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञानभावों का कर्त्ता होता है और अज्ञानी अज्ञानभावों का कर्त्ता होता है।

इन गाथाओं के बाद जो कलश आता है, उसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि अज्ञानी अज्ञानभावों का ही एवं ज्ञानी आत्मा ज्ञानभावों का ही कर्त्ता क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर आगामी गाथाओं में दिया जायगा। वह कलश मूलतः इसप्रकार है –

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥ ६६ ॥

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी है ।
अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी है ॥
ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है ।
तथा शुभाशुभ भावों में भी अन्तर क्यों है ॥ ६६ ॥

यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानी को ज्ञानमयभाव ही क्यों होते हैं, उसके अज्ञानमयभाव क्यों नहीं होते ? इसीप्रकार अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय क्यों होते हैं, उसके ज्ञानमयभाव क्यों नहीं होते ?

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २५४
२. वही, पृष्ठ २५४

कलश के अर्थ पर विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि इस प्रश्न में क्या दम है कि ज्ञानी के भाव ज्ञानमय और अज्ञानी के भाव अज्ञानमय क्यों होते हैं ? पर गहराई में जाते हैं तो यह भाव भासित होता है कि दया-दान-भक्ति आदि के शुभभाव तथा विषय-भोगादि के अशुभभाव यदि ज्ञानी के हों तो उन्हें ज्ञानमयभाव कहना और ये ही भाव यदि अज्ञानी के हों तो इन्हीं भावों को अज्ञानमय कहना कहाँ तक उचित है ? अज्ञानी के उक्त भावों को अज्ञानमय कहकर बंध के कारण बताना और ज्ञानी के उक्त भावों को ही ज्ञानमय कहकर वे बंध के कारण नहीं है – ऐसा कहना क्या न्याय संगत है ? वास्तविक प्रश्न यह है।

पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में इस कलश का अर्थ करते हुए इसप्रकार के संकेत दिये हैं। यही कारण है कि बनारसीदासजी ने इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार किया है –

(अडिल्ल छन्द)

ग्यानवंत कौ भोग निरजरा हेतु है,
अग्यानी कौ भोग बंधफल देतु है ॥
यह अचरज की बात हिये नहिं आवही,
पूछै कोऊ सिष्य गुरू समझावही ॥

'ज्ञानी के भोग तो निर्जरा के कारण हैं और अज्ञानी के लिए वही भोग बंध के कारण हैं' – यह बात तो आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है। यह बात मेरे हृदय में नहीं बैठती है, इसमें मुझे अन्याय भासित होता है; क्योंकि जो भाव अज्ञानी के लिए बंध के कारण हैं, वे ही भाव ज्ञानी के लिए निर्जरा के कारण कैसे हो सकते हैं ?

शिष्य द्वारा इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित करने पर गुरुजी उसे समझाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर आगामी गाथाओं में दिया जा रहा है। ●

समयसार गाथा १२८ से १२९

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥ १२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥ १२९॥

ज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों सब ज्ञानमय ।
बस इसलिए सद्ज्ञानियों के भाव हों सद्ज्ञानमय ॥ १२८॥
अज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों अज्ञानमय ।
बस इसलिए अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ॥ १२९॥

क्योंकि ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है; इसलिए ज्ञानियों के समस्त भाव ज्ञानमय ही होते हैं।

क्योंकि अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

"वास्तव में अज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सभी अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ, अज्ञानमय ही होता है; इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं और ज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही ज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ, ज्ञानमय ही होता है; इसलिए ज्ञानियों के सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में '**उपादानकारण के समान ही कार्य होता है**' – इस आगमवचन का स्मरण दिलाते हुए यह समझाते हैं कि ज्ञानमयभावों से ज्ञानमयभाव ही उत्पन्न होते हैं, निश्चयरत्नत्रयरूप ज्ञानभावों से मोक्षपर्यायरूप ज्ञानभाव ही उत्पन्न होता है तथा 'जौ का बीज बोने पर जिसप्रकार बासमती चावल पैदा नहीं होते' – इस उदाहरण से भी वे अपनी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि अज्ञानमयभावों से ज्ञानमय भाव उत्पन्न नहीं हो सकते।

इन गाथाओं की टीका के बाद आचार्य अमृतचन्द्र जो छन्द (कलश) लिखते हैं, उसमें भी इसी भाव को दुहराया गया है, इसी भाव की पुष्टि की गई है। वह छन्द इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ ६७॥

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं ।
अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं ॥
उपादान के ही समान कारज होते हैं ॥
जौ बोने पर जौ ही तो पैदा होते हैं ॥ ६७॥

ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञान से रचित होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञान से रचित होते हैं।

इन गाथाओं और इस कलश का भाव यह है कि चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती ज्ञानी जीवों के चारित्र की कमजोरी से जो भूमिकानुसार रागादिभावों का परिणमन पाया जाता है, वह परिणमन भी ज्ञानमयभाव ही कहलाता है; क्योंकि ज्ञानी जीव के उन रागादि के होने पर भी अनन्तसंसार को करनेवाला मिथ्यात्वादि का बंध नहीं होता। चारित्रमोहोदय संबंधी जो भी बंध होता है, वह अत्यन्त अल्प होता है, अनन्त संसार का कारण नहीं होता। इसकारण यहाँ उसे बंध में गिनते ही नहीं हैं।

इन बातों का बहुत-कुछ स्पष्टीकरण पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में इस कलश के भावार्थ में लिखा है, जो इसप्रकार है –

''भावार्थ इसप्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीव की और मिथ्यादृष्टि जीव की क्रिया तो एक-सी है, क्रियासम्बन्धी विषय-कषाय भी एक-से है; परन्तु द्रव्य का परिणमन भेद है।

विवरण – सम्यग्दृष्टि का द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणमा है, इसलिये जो कोई परिणाम बुद्धिपूर्वक अनुभवरूप है अथवा विचाररूप है अथवा व्रत-क्रियारूप

है अथवा भोगाभिलाषरूप है अथवा चारित्रमोह के उदय क्रोध, मान, माया, लोभरूप है; वह सभी परिणाम ज्ञानजाति में घटता है; कारण कि जो कोई परिणाम है, वह संवर-निर्जरा का कारण है, ऐसा ही कोई द्रव्यपरिणमन का विशेष है।

मिथ्यादृष्टि का द्रव्य अशुद्धरूप परिणमा है; इसलिये मिथ्यादृष्टि का परिणाम अनुभवरूप तो होता ही नहीं। इसकारण सूत्रसिद्धान्त के पाठरूप है अथवा व्रत-तपश्चरणरूप है अथवा दान, पूजा, दया, शीलरूप है अथवा भोगाभिलाषरूप है अथवा क्रोध, मान, माया, लोभरूप है - ऐसा समस्त परिणाम अज्ञानजाति का है; क्योंकि बन्ध का कारण है, संवर-निर्जरा का कारण नहीं है।

द्रव्य का ऐसा ही परिणमनविशेष है।''

उक्त कथन में पाण्डे राजमलजी ज्ञानी के क्रोधादिभावों एवं भोगाभिलाषा को भी ज्ञानभाव में घटित कर रहे हैं और अज्ञानी के व्रत-तपश्चरण एवं दान-पूजादिभावों को अज्ञानभावों में घटित कर रहे हैं।

पाण्डे राजमलजी के उक्त कथन को आधार बनाकर पंडित कविवर बनारसीदासजी ने उक्त छन्द का भावानुवाद इसप्रकार किया है -

(सवैया इकतीसा)

दया-दान-पूजादिक विषय-कषायादिक,
दोऊ कर्मबंध पै दुहू कौ एक खेतु है ।
ग्यानी मूढ़ करम करत दीसे एक से पै,
परिणामभेद न्यारौ-न्यारौ फलदेतु है ॥
ग्यानबंत करनी करै पै उदासीन रूप,
ममता न धरै तातैं निरजरा कौ हेतु है ।
वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप,
अंध भयो ममता सौ बंधफल लेतु है ॥

दया, दान और पूजादिक पुण्यभाव तथा विषय-कषायादिक पापभाव - दोनों ही भाव कर्मबंधरूप हैं, कर्मबंध करनेवाले हैं और दोनों भावों का उत्पत्ति

स्थान भी एक आत्मा ही है। यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही दोनों प्रकार के कर्मों को करते हुए एक-से ही दिखाई देते हैं, तथापि दोनों के परिणामों में अन्तर होने से फल में अन्तर पड़ जाता है। ज्ञानी जीव पुण्य-पाप भावों को करते तो हैं, पर उनमें उनका उदासीन भाव रहता है। वे उनमें ममत्व धारण नहीं करते, इसकारण उनके वे कार्य बंध के कारण न बनकर निर्जरा के कारण बन जाते हैं; किन्तु अज्ञानी मगन होकर वही कार्य करते हैं, अंध होकर उनमें ममत्व करते हैं; इसकारण बंध को प्राप्त होते हैं।

इसप्रकार इन गाथाओं में और कलश में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी के मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी संबंधी रागादिभाव तो हैं ही नहीं; किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि संबंधी जो भी रागादिभाव विद्यमान हैं, यद्यपि ज्ञानी उन रूप परिणमित होता है, तथापि उनका स्वामित्व उसके नहीं होता, उसका कर्तृत्व भी नहीं होता, इसकारण उसे तत्संबंधी बंध भी नहीं होता।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं -

"अज्ञानी को शुभाशुभभावों में एकत्वबुद्धि है, इसकारण उसके व्रत-तपादि के भाव भी अज्ञानमय ही हैं, जबकि ज्ञानी को राग से भिन्न निर्मलानंदस्वरूप अपने चैतन्यमय भगवान आत्मा का भान हो गया है। अत: उसे जो रागादिभाव होते हैं, उन्हें वह मात्र जानता ही है, उनका कर्त्ता नहीं बनता।

ज्ञानी उस राग संबंधी ज्ञान का कर्त्ता तो है; परन्तु उस रागभाव का कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी के सभी भाव ज्ञान की जाति का उल्लंघन नहीं करते; अत: उसके सभी भाव ज्ञानमय ही हैं; परन्तु अज्ञानी जो व्रत, तपादि के भाव करता है, वह उन भावों का उल्लंघन नहीं कर पाने से उसके सभी भाव अज्ञानमय होते हैं

'जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि' अर्थात् अज्ञानी की दृष्टि राग पर है, इस कारण उसके रागमय परिणाम की सृष्टि होती है। धर्मीजीव की दृष्टि राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव पर है; अत: उसके ज्ञानमय परिणाम की सृष्टि होती है।

अज्ञानी को व्रत, तप, संयम, उपवास, बह्मचर्य आदि के जो भाव होते हैं, वे रागमय हैं; क्योंकि उसे उनमें एकत्वबुद्धि है। इसकारण अज्ञानी के सभी

भाव अज्ञानमय हैं। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के परिणमन में जमीन-आसमान का अन्तर है।[१]''

इसप्रकार विगत कलश में जो प्रश्न उठाया गया था; उसका उत्तर इस कलश में दे दिया गया। विगत कलश में कहा था कि ज्ञानवंत के भोग निर्जरा हेतु हैं और अज्ञानी को वही भोग बंध करते हैं। इसका क्या कारण है ? इस कलश में उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि अज्ञानी का उन भोगों में एकत्व, ममत्व और कर्तृत्व है; इसकारण अज्ञानी को बंध होता है और ज्ञानी का उनमें एकत्व, ममत्व और कर्तृत्व नहीं है; इसकारण ज्ञानी को उनसे बंध नहीं होता।

इस सबका कुल मिलाकर तात्पर्य यह हुआ कि बंध का मूल कारण शुभाशुभ क्रिया नहीं; अपितु अज्ञानभाव है, मिथ्यात्वभाव है। अत: हमें इस अज्ञानभाव, मिथ्यात्वभाव से बचने का प्रयास करना चाहिए; किन्तु परपदार्थों में मुग्ध इस जगत का ध्यान इस ओर है ही नहीं। वह तो थोड़ी-बहुत शुभक्रिया और शुभभाव करके ही सन्तुष्ट है, उसी में धर्म मान रहा है।

जबतक वह अपने इस अज्ञानभाव को नहीं छोड़ेगा; मिथ्यात्वभाव को नहीं छोड़ेगा; तबतक बंध का निरोध नहीं होगा, संवर नहीं होगा, निर्जरा नहीं होगी और इनके नहीं होने से उसे मोक्ष भी नहीं होगा। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २६६-२६७

धर्म के नाम पर न तो मैं समाज को विघटित होते देख सकता हूँ और न मुझसे धर्म की कीमत पर संगठन ही होगा। मैं धर्म को कायम रखकर समाज को संगठित करूँगा और समाज को संगठित रखकर धर्म को उसके सामने प्रस्तुत करूँगा – यह मेरा संकल्प है।

– सत्य की खोज, पृष्ठ २४३

समयसार गाथा १३० से १३१

जो बात विगत गाथाओं तथा कलशों में कही गई है, अब आगामी गाथाओं में उसी बात को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं –

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

स्वर्णनिर्मित कुण्डलादि स्वर्णमय ही हों सदा ।
लोहनिर्मित कटक आदि लोहमय ही हों सदा ॥१३०॥
इस ही तरह अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ।
इस ही तरह सब भाव हों सद्ज्ञानियों के ज्ञानमय ॥१३१॥

जिसप्रकार स्वर्णमयभाव में से स्वर्णमय कुण्डल आदि बनते हैं और लौहमय भाव में से लोहमय कड़ा आदि बनते हैं; उसीप्रकार अज्ञानियों के अनेकप्रकार के अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानियों के सभी ज्ञानमय भाव होते हैं।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार पुद्गल के स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी '**कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं**' – इस नियम के अनुसार स्वर्णपदार्थ से स्वर्णमय ही कुण्डलादि बनते हैं, लौहमय कड़ा आदि नहीं बनते; क्योंकि स्वर्ण स्वर्णजाति का उल्लंघन नहीं करता। तथा लोह पदार्थ से लोहमय कड़ा आदि बनते हैं, स्वर्णमय कुण्डलादि नहीं; क्योंकि लोह लोहजाति का उल्लघंन नहीं करता।

इसीप्रकार जीव के स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी '**कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं**' – इस नियम के अनुसार अज्ञानी के अनेकप्रकार के

अज्ञानमय ही भाव होते हैं, ज्ञानमय भाव नहीं होते; क्योंकि अज्ञानमयभाव अज्ञानजाति का उल्लंघन नहीं करते। तथा ज्ञानमयभाववाले ज्ञानी के अनेकप्रकार के ज्ञानमय ही भाव होते हैं, अज्ञानमय भाव नहीं होते; क्योंकि ज्ञानमयभाव ज्ञानजाति का उल्लंघन नहीं करते।''

इस टीका में यह बताया गया है कि यद्यपि लोहा और सोना - दोनों ही पुद्गल हैं और पुद्गल स्वयं परिणमनस्वभाववाला है; तथापि सोने से सोने के ही आभूषण बनते हैं और लोहे से लोहे के ही; क्योंकि **उपादान कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं** - यह नियम है। अतः उपादान कारण के रूप में यदि सोना है तो उससे बननेवाले सभी आभूषण सोनेमय ही होंगे, सोने के ही होंगे। इसीप्रकार यदि उपादान कारण के रूप में लोहा है तो उससे बने सभी औजार लोहमय ही होंगे।

इसीप्रकार यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी - दोनों ही जीव हैं और जीव स्वयं परिणामस्वभाववाला है; तथापि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं; क्योंकि **उपादान कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं** - यह नियम है। अतः उपादान कारण के रूप में यदि ज्ञानी आत्मा है तो उससे होनेवाले सभी भाव ज्ञानमय ही होंगे और यदि उपादान कारण के रूप में अज्ञानी आत्मा है तो उससे होनेवाले सभी भाव अज्ञानमय ही होंगे।

इसप्रकार इस कथन से यह प्रतिफलित हुआ कि यद्यपि सामान्य रूप से आत्मा अपने ज्ञानमय और अज्ञानमय - सभी भावों का कर्त्ता कहा गया है; क्योंकि वे उसके ही भाव हैं, उसका ही परिणमन है; तथापि जब विशेष भेद करके देखते हैं तो ज्ञानी आत्मा ज्ञानभावों का कर्त्ता है और अज्ञानी आत्मा अज्ञानभावों का कर्त्ता है; क्योंकि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।

इन गाथाओं के भाव का स्पष्टीकरण जयचंदजी छाबड़ा ने भावार्थ में इसप्रकार किया है -

"अज्ञानी के शुभाशुभभावों में आत्मबुद्धि होने से उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) के यद्यपि चारित्रमोह के उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं; तथापि उसके उन भावों में आत्मबुद्धि नहीं है, वह उन्हें पर के निमित्त से उत्पन्न उपाधि मानता है। उसके क्रोधादिक कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं। वह भविष्य का ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार परिभ्रमण बढ़े; क्योंकि (ज्ञानी) स्वयं उद्यमी होकर क्रोधादिभावरूप परिणमता नहीं है। यद्यपि उदय की बलबत्ता से परिणमता है; तथापि ज्ञातृत्व का उल्लंघन करके परिणमता नहीं है, ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है; इसलिए वह क्रोधादिक भावों का अन्य ज्ञेयों की भाँति ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं। इसप्रकार ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं।"

प्रश्न – 'उदय की बलवत्ता से परिणमता है।' - इसका क्या आशय है ? क्या कर्म उसे जबरदस्ती रागादिरूप परिणमाता है ?

उत्तर – इस प्रश्न का उत्तर जयपुर से प्रकाशित समयसार की टिप्पणी में इसप्रकार दिया गया है –

"सम्यग्दृष्टि की रुचि सर्वदा शुद्धात्मद्रव्य के प्रति ही होती है, उसको कभी रागद्वेषादि भावों की रुचि नहीं होती। उसको जो रागद्वेषादि भाव होते हैं; वे भाव यद्यपि उसकी स्वयं की निर्बलता से ही एवं उसके स्वयं के अपराध से ही होते हैं, फिर भी वे रुचिपूर्वक नहीं होते; इसकारण उन भावों को 'कर्म की बलबत्ता से होनेवाले भाव' कहने में आता है। इससे ऐसा नहीं समझना कि 'जड़ द्रव्यकर्म आत्मा के ऊपर लेशमात्र भी जोर कर सकता है; परन्तु ऐसा समझना कि विकारी भावों के होने पर भी सम्यग्दृष्टि महात्मा की शुद्धात्मद्रव्यरुचि में किंचित् भी कमी नहीं है, मात्र चारित्रादि सम्बन्धी निर्बलता है – ऐसा आशय बतलाने के लिए ऐसा कहा है। जहाँ-जहाँ कर्म की बलवत्ता, कर्म की जबरदस्ती, कर्म का जोर इत्यादि कथन होवे; वहाँ-वहाँ ऐसा आशय समझना।"

प्रश्न – जब ज्ञानी के भी रागादि होते हैं और रागादिभाव तो अज्ञानभाव ही हैं, फिर ज्ञानी के अज्ञानमयभाव नहीं होते – यह क्यों कहा जाता है ?

उत्तर – ज्ञानी उन रागादिभावों का स्वामी नहीं बनता, कर्त्ता नहीं बनता; उनका स्वामी और कर्त्ता स्वयं को नहीं मानता, उनका भी वह ज्ञाता ही रहता है और ज्ञातृत्व का भाव तो ज्ञानभाव ही है, अज्ञानभाव नहीं; इसकारण यह कहा जाता है कि ज्ञानी के अज्ञानभाव नहीं होते।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं –

"ज्ञानी ज्ञानस्वरूप से परिणमता है, ज्ञानी ज्ञान का उल्लंघन करके नहीं परिणमता। ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है। ज्ञानी को रागादि में स्वामीपना नहीं है। अशुभराग भी कदाचित् ज्ञानी को होता है; परन्तु उसे उसका भी स्वामित्व नहीं है।

ज्ञानी क्रोधादि विकारी भावों का भी ज्ञाता है, कर्त्ता नहीं है। शरीर, मन, वाणी आदि पर पदार्थ जैसे ज्ञेय हैं, जाननेलायक हैं; उसीप्रकार चारित्रमोहादिजनित अस्थिरतारूप कमजोरी से रागादि होने पर भी वे सब ज्ञानी के ज्ञेय हैं, वह उनका कर्त्ता नहीं होता; रागादिरूप परिणमन है, इस अपेक्षा से कर्त्ता कहा जाता है – यह बात जुदी है।[१]"

इसप्रकार इन गाथाओं में भी उदाहरण के माध्यम से यही सिद्ध किया गया है कि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं अथवा ज्ञानी अपने ज्ञानमयभावों का कर्त्ता-भोक्ता है और अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कर्त्ता-भोक्ता है।

अब आगामी गाथाओं की सूचना देनेवाला कलशरूपकाव्य कहते हैं, जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥ ६८॥

(दोहा)

अज्ञानी अज्ञानमय भावभूमि में व्याप्त ।
इसकारण द्रवबंध के हेतुपने को प्राप्त ॥ ६८॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २७८

अज्ञानी अपने अज्ञानमयभावों की भूमिका में व्याप्त होकर अपने अज्ञानमय भावों के कारण द्रव्यकर्म के बंधन के हेतुत्व को प्राप्त होता है, द्रव्यकर्म के बंधन का निमित्त बनता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी के अज्ञानमयभाव ही कर्मबंधन के निमित्तकारणरूप हेतु हैं।

विगत गाथाओं में यह कहते आये हैं कि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं; ज्ञानी ज्ञानमयभावों का कर्त्ता है और अज्ञानी अज्ञानमयभावों का कर्त्ता है तथा यह भी कहा गया है कि अज्ञानी को कर्मबंध होता है और ज्ञानी को कर्मबंध नहीं होता है। इसकारण यहाँ यह स्पष्ट कर रहे हैं कि अज्ञानी का अज्ञानमयभावभूमि में व्याप्त होना ही उसके कर्मबंध का कारण है।

इस कलश के भाव को कलशटीकाकार ने सोदाहरण समझाया है, जिसका सार इसप्रकार है -

"जिसप्रकार कलश रूप में तो मिट्टी परिणमती है, कुम्हार का परिणाम उसका बाह्य निमित्त कारण है; परन्तु व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपिण्डरूप तो पुद्गल स्वयं परिणमता है, पुद्गलद्रव्य ही उसमें व्याप्य-व्यापकरूप है; तथापि जीव का अशुद्धचेतनारूप मोह, राग, द्वेषादि परिणाम बाह्य निमित्तकारण है, परन्तु व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है।

कोई जानेगा कि जीवद्रव्य तो शुद्ध, उपचारमात्र कर्मबन्ध का कारण होता है तो ऐसा नहीं है; क्योंकि वह स्वयं मोह-राग-द्वेष अशुद्धचेतनापरिणामरूप परिणमता है; इसलिए वह कर्म का कारण है।

द्रव्यकर्म अनेकप्रकार का है, उसका उदय भी अनेकप्रकार का है। एक कर्म ऐसा है कि जिसके उदय में शरीर होता है, एक ऐसा है कि जिसके उदय में मन, वचन, काय होता है, एक कर्म ऐसा होता है कि जिसके उदय में सुख-दुःख होता है। ऐसे अनेकप्रकार के कर्म के उदय होने पर मिथ्यादृष्टि जीव कर्म के उदय को आपरूप अनुभवता है, इससे राग-द्वेष-मोह परिणाम होते हैं, उनके द्वारा नूतन कर्मबंध होता है। इसकारण मिथ्यादृष्टि जीव अशुद्धचेतनपरिणाम का कर्त्ता है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव के शुद्धस्वरूप का अनुभव नहीं है, इसलिए कर्म के उदय के कार्य को आपरूप अनुभवता है।

जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि के कर्म का उदय है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि के भी है; परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धस्वरूप का अनुभव है, इसकारण कर्म के उदय को कर्मजातिरूप अनुभवता है, आपको शुद्धस्वरूप अनुभवता है। इसलिए कर्म के उदय से रंजायमान नहीं होता, इसलिए मोह-राग-द्वेषरूप नहीं परिणमता है, इसलिए कर्मबंधन नहीं होता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि अशुद्धपरिणाम का कर्त्ता नहीं है।"

कलश टीका के उक्त भाव को हृदयंगम करके बनारसीदासजी ने उसे छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत किया है –

(छप्पय)

ज्यौं माटी मैं कलस होन की सकति रहे ध्रुव ।
दंड चक्र चीवर कुलाल बाहजि निमित्त हुव ॥
त्यौं पुद्गल परवांनु पुंज वरगना भेस धरि ।
ग्यानावरणादिक स्वरूप विचरंत विविध परि ॥
बाहजि निमित्त बहिरातमा गहि संसै अग्यानमति ।
जगमाहि अहंकृत भावसौं कामरूप ह्वै परिनमति ॥

जिसप्रकार मिट्टी में घटरूप होने की शक्ति सदा विद्यमान रहती है और डंडा, चाक, धागा और कुम्हार आदि बाह्य निमित्त होते हैं; उसीप्रकार पुद्गलपरमाणुओं के पुंज कार्माणवर्गणाओं का भेष धारण करके ज्ञानावरणादि विविध रूप होकर विचरण करते हैं, तब उसमें बहिरात्मा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव बाह्य निमित्त होता है। ऐसा होने पर अज्ञानमति बहिरात्मा संशयशील होकर कर्तृत्व का अहंकार करने लगता है, इसकारण वह कर्मबंध को प्राप्त होता है।

इसप्रकार इस कलश में मात्र यही कहा गया है कि अज्ञानी जीव पुराने कर्म के उदय का लक्ष्य करके नवीन कर्मबंध के कारणरूप जो अज्ञानभाव है, उसके हेतुपने को प्राप्त होता है।

यही बात आगामी गाथाओं में विस्तार से समझाई गई है। •

समयसार गाथा १३२ से १३६

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणतं ॥ १३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेई अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥ १३३॥
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहण वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥ १३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

निजतत्त्व का अज्ञान ही बस उदय है अज्ञान का ।
निजतत्त्व का अश्रद्धान ही बस उदय है मिथ्यात्व का ॥ १३२॥
अविरमण का सद्भाव ही बस असंयम का उदय है ।
उपयोग की यह कलुषता ही कषायों का उदय है ॥ १३३॥
शुभ-अशुभ चेष्टा में तथा निवृत्ति में या प्रवृत्ति में ।
जो चित्त का उत्साह है, वह ही उदय है योग का ॥ १३४॥
इनके निमित्त के योग से जड़ वर्गणाएं कर्म की ।
परिणमित हों ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म में ॥ १३५॥
इसतरह वसुविध कर्म से आबद्ध जिय जब हो तभी ।
अज्ञानमय निजभाव का हो हेतु जिय जिनवर कही ॥ १३६॥

जीवों के जो अतत्त्व की उपलब्धि है, तत्त्व संबंधी अज्ञान है, वह अज्ञान का उदय है; जो तत्त्व का अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है; जो अविरमण है, अत्याग का भाव है, वह असंयम का उदय है; जो मलिन उपयोग है, वह कषाय का उदय है और जो शुभ या अशुभ, प्रवृत्तिरूप या निवृत्तिरूप चेष्टा का उत्साह है, उसे योग का उदय जानो।

इन उदयों के हेतुभूत होने पर जो कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूप से आठ प्रकार परिणमता है, वह कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव से बंधता है, तब जीव अपने अज्ञानमय परिणाम भावों का हेतु होता है।

प्रश्न : महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – इन पाँच भावों को बंध का हेतु बताया गया है।[१] यहाँ जो बताया जा रहा है, उसकी संगति तत्त्वार्थसूत्र के उक्त कथन से कैसे बैठे?

यद्यपि यहाँ इन गाथाओं में भी बंध के कारण तो पाँच ही बताये हैं; तथापि यहाँ बताये पाँच कारणों में तत्त्वार्थसूत्र में तीसरे नम्बर पर आने वाला प्रमाद नहीं है तथा यहाँ प्रथम स्थान पर उल्लिखित अज्ञान तत्त्वार्थसूत्र में बताये गये कारणों में नहीं है।

दूसरी बात यह है कि इसी समयसार शास्त्र में १०९वीं गाथा में बंध के कारण चार प्रत्यय ही बताये गये हैं, जो तत्त्वार्थसूत्र में बताये गये कारणों के समान ही हैं; परन्तु इनमें भी प्रमाद नहीं है।

अत: प्रश्न यह है कि प्रथम तो दो आचार्यों में इसप्रकार का मतभेद क्यों है ? कदाचित् दो आचार्यों में मतभिन्नता हो भी सकती है; परन्तु एक ही आचार्य ने एक स्थान पर बंध के चार कारण बताये और दूसरे स्थान पर पाँच – यह कहाँ तक उचित है ?

उत्तर : अरे भाई ! न तो यहाँ दो आचार्यों में कोई मतभेद है और न एक आचार्य ने एक ही ग्रन्थ में दो बातें कही हैं। समयसार गाथा १०९ में प्रमाद को अविरति और कषाय में गर्भित कर लिया है; क्योंकि चार कषाय, पाँच इन्द्रियों की आधीनता, चार विकथा, निद्रा और स्नेह – इनके मिश्रण का नाम ही तो प्रमाद है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड के गुणस्थानाधिकार में इसका विस्तृत विवेचन है। जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें जीवकाण्ड के गुणस्थानाधिकार का अध्ययन करना चाहिए।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ८, सूत्र – १

प्रमाद में मुख्य भाग पाँच इन्द्रियों के विषय सेवन रूप अविरति और चार कषायों का ही है; अत: कषाय और अविरति में प्रमाद को गर्भित कर लेने में कुछ भी अनुचित नहीं है तथा विशेष ध्यान आकर्षित करने के लिए पृथक् उल्लेख कर देने में भी कोई दोष नहीं है।

अब रही बात समयसार की इन गाथाओं में प्रथम स्थान पर उल्लिखित अज्ञान की बात, सो वह तो मिथ्यात्वादि चार कारणों के समुदायरूप ही है। इस बात का उल्लेख इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में है ही, जो इसप्रकार है -

"अतत्त्व की उपलब्धिरूप से अर्थात् तत्त्व के अज्ञान रूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ अज्ञान का उदय है।

नवीन कर्मों के हेतुरूप यह अज्ञानमयभाव मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के उदय के रूप में चार प्रकार के हैं।

तत्त्व के अश्रद्धानरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ मिथ्यात्व का उदय है, अविरमणरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ असंयम का उदय है, कलुष उपयोगरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ कषाय का उदय है, शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति के व्यापार रूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ योग का उदय है।

इन पौद्गलिक मिथ्यात्वादि के उदय के हेतुभूत होने पर जो पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भाव से आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है, वह कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव में निबद्ध होता है, तब स्वयमेव अज्ञान से स्वपर के एकत्व के अध्यास के कारण तत्त्व-अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय परिणामभावों का हेतु होता है।"

गाथा और टीका के इसी भाव को भावार्थ में पंडित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

"अज्ञानभाव के भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के उदय पुद्गल के परिणाम हैं और उनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धानादिरूप से ज्ञान में आता है। वे उदय निमित्तभूत होने पर कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव

ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं और जीव के साथ बँधते हैं और उस समय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमता है और इसप्रकार अपने अज्ञानमय भावों का कारण स्वयं ही होता है।

मिथ्यात्वादि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमना तथा बँधना और जीव का अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमना - यह तीनों ही एक समय में ही होते हैं, सब स्वतन्त्रतया अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसी का परिणमन नहीं कराता।''

गाथाओं में तो अज्ञान का उदय, मिथ्यात्व का उदय, असंयम का उदय, कषाय का उदय और योग का उदय - ये पाँच प्रकार के उदय बताये हैं; परन्तु आत्मख्याति टीका में अज्ञान के उदय को मुख्य रखकर शेष चार को अज्ञान के उदय के भेद के रूप में प्ररूपित किया है। इसकारण वे चारों ही एक प्रकार से अज्ञान के ही उदय हैं। इसप्रकार अज्ञान के उदय में पाँचों ही गर्भित हो गये हैं। यही कारण है कि इन पाँचों को एक अज्ञानभाव शब्द से भी अभिहित किया जाता है।

इन पाँचों की परिभाषाएँ टीका व भावार्थ में स्पष्ट हो ही चुकी हैं। भावार्थ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अज्ञानभाव के भेदरूप ये सभी उदय पुद्गल के परिणाम हैं और इनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धानादिक के रूप से ज्ञान में आता है। मिथ्यात्वादि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमना और जीव का अतत्त्वश्रद्धानादिरूप परिणमना - यद्यपि ये तीनों एक ही समय में होते हैं, सब स्वतंत्ररूप से अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसी का परिणमन नहीं कराता; तथापि इनमें निमित्त-नैमित्तिकभाव अवश्य है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यहाँ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - सभी को अज्ञानभाव बताया जा रहा है और यह भी कहा गया है कि अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं और ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं। ऐसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के अविरति, प्रमाद, कषाय और योग नहीं होना चाहिए; पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों

के ये भाव पाये जाते हैं। तथा यह भी तो स्पष्ट कर आये हैं कि ज्ञानी के विषय-कषाय भी ज्ञानभाव में ही आते हैं और अज्ञानी के व्रत-तपादि भी अज्ञानभाव में ही आते हैं। अत: अब प्रश्न यह होता है कि अविरति आदि को ज्ञानभाव मानें या अज्ञानभाव।

अरे भाई ! सीधी-सरल बात है कि अज्ञानी के अविरति आदि भाव अज्ञानभाव हैं; क्योंकि वह उन्हें निज के मानता है, निजरूप मानता है, उनका कर्त्ता-भोक्ता स्वयं को मानता है, जानता है और ज्ञानी के जो भूमिकानुसार अविरति, प्रमाद, कषायादि पाये जाते हैं, वे सभी ज्ञानभाव में ही आते हैं; क्योंकि ज्ञानी का उनमें एकत्व-ममत्व नहीं है, वह उनका कर्त्ता-भोक्ता अपने को नहीं मानता। यही अन्तर तो है ज्ञानी और अज्ञानी में।

यहाँ अज्ञानी के अविरति आदि भावों की चर्चा है। इसकारण उन्हें अज्ञानभाव में शामिल किया जा रहा है। आत्मख्याति टीका और जयचन्दजी के भावार्थ में इस बात के स्पष्ट संकेत है। 'ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ असंयम का उदय, ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ कषाय का उदय और ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ योग का उदय' - इत्यादि कथन से यह स्पष्ट है कि अज्ञानी का ज्ञान उन्हें अपना जान रहा है। ज्ञानी की पर्याय में भूमिकानुसार विद्यमान अविरति, कषायादि के उदय ज्ञानी के मात्र ज्ञेय बनकर रह जाते हैं, स्वादरूप नहीं होते, ज्ञानी उन्हें अपना नहीं जानता है; यही कारण है कि ज्ञानी का उन्हें जाननेरूप परिणमन ज्ञानभाव में ही आता है।

आत्मख्याति टीका के अन्तिम पैरा और जयचन्दजी के भावार्थ में समागत तथ्य भी ध्यान देने योग्य है। उनमें जो कुछ कहा गया है, उसका भाव इसप्रकार भासित होता है -

यद्यपि पुराने पौद्गलिक कर्मों का उदय; उसके निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले औपपादिक भाव, विभाव भाव, राग-द्वेषादि परिणाम और उन परिणामों के निमित्त से होनेवाले आगामी द्रव्यकर्मों का बंध - ये तीनों क्रियायें एकसाथ एकसमय में ही सम्पन्न होती हैं, तथापि पौद्गलिक परिणमन पुद्गल

में होता है, उसका उपादान पुद्गल है और राग-द्वेष के परिणाम आत्मा में होते हैं, उनका उपादान आत्मा है।

'पुराने कर्म के उदय में राग-द्वेष परिणाम और उन राग-द्वेष परिणामों से नये कर्मों का बंध' यदि इसमें राग-द्वेष परिणामों को गौण कर दें तो नये कर्मों के बंधन का कारण पुराने कर्मों के उदय को कहा जा सकता है। इसप्रकार पौद्गलिक कर्मों के बंधन के कारण पौद्गलिक कर्म ही ठहरते हैं।

इसीप्रकार जब कर्मों का उदय होता है, तब आत्मा स्वयमेव ही राग-द्वेषादिभावों रूप परिणमित होता है; परन्तु कर्मों के उदय और राग-द्वेषरूप परिणाम - इन दोनों में एकत्व के अध्यास के कारण, एकत्व की भ्रान्ति के कारण अज्ञानी आत्मा तत्त्व के अश्रद्धानादि रूप अपने अज्ञानमय परिणामों का हेतु बनता है, कर्त्ता बनता है।

अपने अज्ञानमय परिणामों का कर्त्ता अज्ञानी ही बनता है, ज्ञानी नहीं; क्योंकि उसमें उनके एकत्व का अध्यास नहीं है।

इस प्रकरण का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"यहाँ पर यह सिद्ध करना है कि पुराने कर्म का उदय नवीन कर्म के बंध का कारण होता है। मिथ्यात्व, अविरति आदि जो पूर्वबद्ध कर्म हैं, उनका उदय नवीन बंध का कारण है; परन्तु जो जीव स्वयं मिथ्यात्व, अविरति आदि अज्ञानभावरूप से परिणमित होते हैं, उनको ही पूर्वकर्म का उदय निमित्त कहा जाता है। भाई ! बात थोड़ी सूक्ष्म है, वीतराग-सर्वज्ञ का मार्ग अलौकिक है। लोगों को यह सुनने को नहीं मिला; इसकारण कठिन लगता है; परन्तु सुनते-सुनते सब सुलभ हो जाता है।[१]

पुराने कर्म का जो उदय आया, वह नवीन कर्मबन्धन में हेतु है; क्योंकि अज्ञानी जीव जब त्रिकाली शुद्ध चैतन्य के साथ क्षणिक राग के भाव को एक मानकर परिणमता है; तब उसे पुराने द्रव्यकर्म का उदय निमित्त होता है और

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २८५

उस रागादि से नवीन कर्मबंध होता है। इसप्रकार पुराना कर्म नवीन कर्मबंध का कारण होता है। विकार का परिणाम जीव का स्वभाव नहीं है, इसलिए यह कहा है कि पुराना कर्म का उदय नवीन कर्मबंध का हेतु है, परन्तु जो अपने चैतन्यस्वभाव को भूलकर विभावरूप से परिणमते हैं - ऐसे मिथ्यादृष्टियों को ही पुराना कर्म का उदय नवीन कर्मबंध का हेतु बनता है।[१]''

प्रश्न – 'द्रव्यप्रत्ययरूप पूर्वकर्म के उदय में मिथ्यात्वादि भावप्रत्यय होंगे और उनके उदयानुसार नवीन द्रव्यकर्मों का बंध होगा।' यदि ऐसा माना जाय तो संसार का कभी अभाव ही न होगा और मुक्त का मार्ग सदा अवरुद्ध ही रहेगा।

उत्तर – इस प्रश्न का उत्तर आचार्य जयसेन ने उक्त गाथाओं की टीका में इसप्रकार दिया है –

''इसका भावार्थ यह है कि द्रव्यप्रत्ययों का उदय होने पर यदि यह जीव अपने सहजस्वभाव को छोड़कर रागादि भावप्रत्ययों के रूप में परिणमन करता है, तभी नूतन बंध होता है, केवल द्रव्यप्रत्ययों के उदयमात्र से बंध नहीं होता। जिसप्रकार घोर उपसर्ग होने पर भी पाण्डवादि मुनिराज अपने स्वभाव से च्युत नहीं हुए, रागादिरूप परिणमित नहीं हुए तो उन्हें द्रव्यप्रत्ययों के उदय होने पर भी नवीन बंध नहीं हुआ। इसीप्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

यदि द्रव्यप्रत्ययों के उदयमात्र से बंध मान लिया जाय तो फिर सदा संसार ही रहेगा, मुक्ति कभी होगी ही नहीं; क्योंकि संसारी जीवों के कर्म का उदय तो सदा रहता ही है।''

उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि द्रव्यप्रत्ययों के उदय में जब जीव स्वयं विकारीभावों रूप परिणमित होता है, तब कर्मबंधन को प्राप्त होता है; किन्तु जब यह जीव कर्मोदय के विद्यमान रहते हुए भी स्वात्मोन्मुखी पुरुषार्थ करके विकाररूप परिणमित नहीं होता, निर्विकारी रहता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करता है; तब आगामी बंध नहीं होता। अतः आत्मार्थियों को स्वात्मोपलब्धि के लिए सतत् सावधान रहना चाहिए। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ २८८

समयसार गाथा १३७ से १४०

अब इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि पुद्गल का परिणाम जीव से भिन्न है और जीव का परिणाम पुद्गल से भिन्न है।

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं दो वि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥
जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
एवं पोग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥
एकस्य दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥

इस जीव के रागादि पुद्गलकर्म में भी हों यदि ।
तो जीववत् जड़कर्म भी रागादिमय हो जावेंगे ॥१३७॥
किन्तु जब जड़कर्म बिन ही जीव के रागादि हों ।
तब कर्म जड़ पुद्गलमयी रागादिमय कैसे बनें ? ॥१३८॥
यदि कर्ममय परिणाम पुद्गल द्रव्य का जिय साथ हो ।
तो जीव भी जड़कर्मवत् कर्मत्व को ही प्राप्त हो ॥१३९॥
किन्तु जब जियभाव बिन ही एक पुद्गल द्रव्य का ।
यह कर्ममय परिणाम है तो जीव जड़मय क्यों बनें ? ॥१४०॥

जीव के कर्म के साथ ही रागादि परिणाम होते हैं अर्थात् कर्म और जीव दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमित होते हैं' - यदि ऐसा माना जाय तो जीव और कर्म दोनों ही रागादिभावपने को प्राप्त हो जायें; परन्तु रागादिभावरूप तो एक जीव ही परिणमित होता है। इसकारण कर्मोदयरूप हेतु के बिना ही रागादिभाव जीव के परिणाम हैं।

इसीप्रकार 'पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ ही कर्मरूप परिणाम होता है अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमित होते हैं' - यदि

ऐसा माना जाय तो पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मत्व को प्राप्त हो जायें, परन्तु कर्मरूप परिणमित तो एक पुद्गलद्रव्य ही होता है, इसकारण जीवभाव के हेतु बिना ही कर्म पुद्गल का परिणाम है।

उक्त गाथाओं के भाव को पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"यदि यह माना जाय कि जीव और पुद्गलकर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं तो दोनों के रागादिरूप परिणाम सिद्ध हो; किन्तु पुद्गलकर्म तो रागादिरूप कभी नहीं परिणम सकता। इसलिए पुद्गलकर्म का उदय जो कि रागादि परिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।

यदि यह माना जाय कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं तो दोनों के कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो; परन्तु जीव तो कभी भी जड़कर्मरूप नहीं परिणम सकता। इसलिए जीव का अज्ञान परिणाम जो कि कर्म का निमित्त है, उससे अलग ही पुद्गलद्रव्य का कर्म परिणाम है।"

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि जीव के रागादिभाव कार्माणवर्गणा के कर्मरूप परिणमन में निमित्त है तथा कर्म का उदय जीव के आगामी रागादिभावों के होने में निमित्त है; तथापि जीव का रागादिभावरूप परिणमन पूर्णत: जीव का ही है, अकेले जीव का ही है, उसमें कर्म का कुछ भी नहीं है; इसीप्रकार कार्माणवर्गणा का कर्मरूप परिणमन पूर्णत: पुद्गल का ही है, अकेले पुद्गल का ही है, उसमें जीव का कुछ भी नहीं है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"रागादि अज्ञान परिणाम के निमित्तभूत उदयागत पुद्गलकर्म के साथ ही, दोनों एकत्र होकर ही रागादि-अज्ञान परिणाम होता है - यदि ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो जिसप्रकार मिले हुये चूना और हल्दी का लाल परिणाम होता है; उसीप्रकार जीव और पुद्गलकर्म दोनों के रागादि अज्ञान परिणाम की आपत्ति आ जावे; परन्तु रागादि अज्ञान परिणाम तो एक जीव के ही होता है; इसलिए पुद्गलकर्म का उदय जो कि जीव के रागादि-अज्ञान परिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।

कर्मपरिणाम के निमित्तभूत रागादि-अज्ञान परिणाम से परिणत जीव के साथ ही पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप परिणाम होते हैं - यदि ऐसा तर्क उपस्थित किया जाय तो जिसप्रकार मिले हुये चूना और हल्दी का लाल परिणाम होता है; उसीप्रकार पुद्गल और जीवद्रव्य - दोनों के कर्मरूप परिणाम की आपत्ति आ जावे। परन्तु कर्मत्वरूप परिणाम तो एक पुद्गलद्रव्य के ही होता है; इसलिए जीव के रागादि-अज्ञान परिणाम जो कि कर्म के निमित्त हैं; उनसे भिन्न ही पुद्गलकर्म का परिणाम है।"

हल्दी और चूना के मिले हुए रूप का उदाहरण देकर आत्मख्याति के उक्त कथन में भी वही बात सिद्ध की गई है, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है।

हल्दी और चूना जब मिलकर परिणमते हैं, तब दोनों ही लाल रंगरूप हो जाते हैं, न तो हल्दी पीली रहती है न चूना सफेद। इसीप्रकार यदि आत्मा और कर्माणवर्गणारूप पुद्गल - दोनों मिलकर परिणमें तो दोनों को ही या तो द्रव्यकर्मरूप हो जाना चाहिए या फिर दोनों को ही रागादिभावरूप-भावकर्मरूप हो जाना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता; क्योंकि न तो आत्मा द्रव्यकर्मरूप परिणमित होता है और न कार्माणवर्गणारूप पुद्गल रागादिभावरूप परिणमित होता है; अतः यह स्पष्ट ही है कि आत्मा और पुद्गल मिलकर नहीं परिणमते। आत्मा के रागादिरूप परिणमन में पुद्गलकर्म का उदय निमित्त है और पुद्गलकर्म के बंधने में आत्मा के रागादिभाव निमित्त हैं। रागादिभाव और द्रव्यकर्मों के बंधन तथा द्रव्यकर्मों का उदय और रागादभावों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी दोनों का परिणमन स्वतन्त्र है। यह एकदम स्पष्ट है।

आत्मख्याति में मूल शब्द सुधा है, जिसका अनुवाद पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने फिटकरी किया है, सहजानन्द वर्णी ने भी फिटकरी ही किया है; जबकि अन्यत्र चूना किया गया है। शब्दकोश में भी चूना ही पाया जाता है, फिटकरी नहीं। प्रयोग करके देखने पर पता चला कि चूना और हल्दी के

मिलाने से जैसा लाल रंग होता देखा जाता है, वैसा फिटकरी और हल्दी के मिलाने से नहीं। अत: हमने भी यहाँ सुधा का अर्थ चूना ही किया है।

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में हल्दी और चूना के उदाहरण के माध्यम से ही बात को स्पष्ट करते हैं। हाँ, एक बात तात्पर्यवृत्ति में विशेष जानने योग्य है, जो इसप्रकार है -

"यह जीव अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है और अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भावकर्मों का कर्त्ता है। यद्यपि जीव को द्रव्यकर्मों का कर्त्ता कहने वाले अनुपचारित-असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से यह अशुद्धनिश्चयनय नाम पाता है; तथापि शुद्धात्मद्रव्य को विषय बनानेवाले शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा वह वस्तुत: व्यवहार ही है - यह भावार्थ है।"

उक्त कथन में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह कि यहाँ जीव को अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता कहा गया है; क्योंकि जीव का शरीर से संश्लिष्ट संबंध होने से जीव का शरीर के साथ एकत्व, ममत्व, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व बतानेवाले नय को अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं और द्रव्यकर्म कार्माणशरीररूप ही है; अत: उनका कर्त्ता जीव को बताना अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का ही कार्य है।

दूसरे यहाँ शुद्धनिश्चयनय से अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार बताया गया है। यह तो आप जानते ही हैं कि पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों में परमशुद्धनिश्चयनय को नयाधिराज कहा गया है और उसकी अपेक्षा शेष सभी नयों को एक अपेक्षा से व्यवहार की कोटि में डाला गया है।

'शुद्धात्मद्रव्य को विषय बनानेवाले शुद्धनिश्चयनय को ऐसा कहकर आचार्य जयसेन यहाँ शुद्धनिश्चय शब्द का प्रयोग परमशुद्धनिश्चयनय के अर्थ में ही कर रहे हैं; क्योंकि दृष्टि का विषयभूत शुद्धात्मद्रव्य परमशुद्धनिश्चयनय का ही विषय है।

यद्यपि नयचक्रादि ग्रंथों में चार प्रकार के व्यवहारनय और चार प्रकार के निश्चयनय बताये गये हैं और समयसारादि ग्रन्थों में प्रयोग भी तदनुसार ही

पाये जाते हैं; क्योंकि नयचक्रकार स्वयं लिखते हैं कि हमने यह ग्रन्थ समयसारादि ग्रन्थों का आधार लेकर ही बनाया है; तथापि शुद्धात्मा तक ले जाने के लिए नयाधिराज परमशुद्धनिश्चयनय को ही निश्चयनय बताकर शेष को व्यवहार कहने की पद्धति भी अध्यात्म में पाई जाती है। इस बात का प्रबल प्रमाण है आचार्य जयसेन का उक्त कथन।

यहाँ एक और बात भी ध्यान देने योग्य है, वह यह कि विभिन्न प्रकाशनों में उक्त चार गाथाओं के क्रम में अन्तर देखने में आया है। यहाँ हमने जो क्रम दिया है, वह आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में तो है ही; साथ ही आत्मख्याति की जो भाषा टीका जयचंदजी छावड़ा ने लिखी है, उसमें भी वही क्रम है तथा सहजानन्दवर्णी की सप्तशांगी टीका में भी वही क्रम है; किन्तु सोनगढ़ व जयपुर से प्रकाशित समयसार में ऊपर की दो गाथाएँ बाद में हैं और नीचे की दो गाथायें पहले। गाथाओं के अर्थ पर ध्यान देने पर भी परिवर्तन का कोई कारण नजर नहीं आता है; क्योंकि उनके आगे-पीछे रखने से भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति में एकरूपता रहे – इस भावना से हमने छाबड़ाजी के क्रम को ही रखना उचित समझा है। •

किसी भी काम में सफलता प्राप्त करने के लिए शान्ति और प्रेम का रास्ता यद्यपि लम्बा रास्ता है, इसमें प्रतिद्वन्द्वी को नहीं, उसके हृदय को जीतना पड़ता है, जीत कर उसे समाप्त नहीं किया जाता, अपितु अपना बनाया जाता है; तथापि टिकाऊ और वास्तविक सफलता प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता यही है। इसमें असीम धैर्य की आवश्यकता होती है। साधारण व्यक्ति में तो इतना धैर्य होता ही नहीं कि वह इतनी प्रतीक्षा कर सके – यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों द्वारा महान कार्य सम्पन्न नहीं हो पाते। – सत्य की खोज, पृष्ठ २४७

समयसार गाथा १४१

अब नय विभाग से यह स्पष्ट करते हैं कि यह आत्मा कर्मबंधनों से बद्ध है या अबद्ध, कर्मों ने उसे स्पर्श किया है या नहीं ?

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं ॥ १४१॥
कर्म से आबद्ध जिय यह कथन है व्यवहार का ।
पर कर्म से ना बद्ध जिय यह कथन है परमार्थ का ॥ १४१॥

जीव में कर्म बंधा हुआ है और स्पर्शित है - ऐसा व्यवहारनय का कथन है और जीव में कर्म अबद्ध और अस्पर्शित है - यह शुद्धनय का कथन है।

आत्मख्याति टीका में भी इस गाथा के इसी अर्थ को मात्र दो पंक्तियों में दुहरा दिया गया है, जो इसप्रकार है -

''जीव को और पुद्गलकर्म को एक बंधपर्यायपने से देखने पर, उनमें उस काल में भिन्नता का अभाव है; इसलिए जीव में कर्म बद्ध-स्पष्ट है – ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है। जीव को तथा पुद्गलकर्म को अनेक द्रव्यपने से देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है, इसलिए जीव में कर्म अबद्ध-स्पृष्ट है - यह निश्चयनय क़ा पक्ष है।''

तात्पर्यवृत्ति में इसकी टीका में तो कुछ विशेष नहीं कहा, किन्तु १४१ से १४४ तक की चार गाथाओं की समुदायपातनिका में उनकी विषयवस्तु का जो संकेत किया है, वह द्रष्टव्य है एवं इसप्रकार है -

''अब व्यवहारनय से जीव बद्ध है और निश्चयनय से अबद्ध है - इत्यादि विकल्परूप नयपक्षपात को स्वीकार न करते हुए शुद्धपारिणामिकपरमभाव-ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से पुण्य-पापादि पदार्थों से भिन्न शुद्धसमयसार का कथन आगामी चार गाथाओं द्वारा करते हैं।''

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अब आगामी गाथाओं में नवतत्त्वों में छुपी हुई, पर नवतत्त्वों से भिन्न आत्मज्योति का स्वरूप स्पष्ट करेंगे, उसके अनुभव की प्रक्रिया पर प्रकाश डालेंगे।

पदार्थों की चर्चा में जीवाजीवादि पदार्थों को मुख्यता न देकर तथा पुण्य-पापादि पदार्थों की बात कहकर आगामी अधिकार का संकेत भी दे दिया है। आगामी चार गाथाओं में कर्त्ताकर्माधिकार समाप्त हो जावेगा और उसके बाद पुण्यपापाधिकार आवेगा। इस बात का संकेत उक्त कथन में है।

अभी तक आचार्यदेव विभिन्न नयों से वस्तु को समझाते आये हैं, अब आगामी गाथाओं में वे हमें नयपक्षातीत वस्तु की ओर ले जाना चाहते हैं; यही कारण है कि उक्त गाथा के माध्यम से एक बार संक्षेप में व्यवहार और निश्चयनय की विषयवस्तु को स्पष्ट किया गया है। •

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्यायदृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जाएगा; तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है। अत: जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अत: हम "किसी अपेक्षा नित्य भी है", ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है, भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है। अत: वाणी में स्यात् पद का प्रयोग आवश्यक है, स्यात्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

– अनेकान्त और स्याद्वाद, पृष्ठ ७

समयसार गाथा १४२

१४१वीं गाथा में आत्मा के सन्दर्भ में व्यवहारनय और निश्चयनय के पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। उसी के सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की उत्थानिका आत्मख्याति में 'ततः किम् - इससे क्या ?' मात्र इतनी ही देते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई नय कुछ भी क्यों न कहे, मुझे उससे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि मैं तो नयपक्ष से पार हूँ, नयविकल्पों से विकल्पातीत हूँ और आत्मानुभूति भी नयपक्षातीत अवस्था का नाम है। अतः मुझे इन नय विकल्पों से क्या प्रयोजन है ? इस आशय का प्रतिपादन करने वाली आगामी गाथा इसप्रकार है -

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२॥
अबद्ध है या बद्ध है जिय ये सभी नयपक्ष हैं ।
नयपक्ष से अतिक्रान्त जो वह ही समय का सार है ॥ १४२॥

जीव में कर्म बद्ध या अबद्ध हैं - इसप्रकार तो नय पक्ष जानो, किन्तु जो पक्षातिक्रान्त कहलाता है, समयसार तो वह है, शुद्धात्मा तो वह है।

उक्त भाव को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भावार्थ में इसप्रकार व्यक्त किया है -

"जीव कर्म से 'बंधा हुआ है' तथा 'नहीं बंधा हुआ है' - यह दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने बन्धपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबन्ध पक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया और किसी ने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्प का ही ग्रहण किया। परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़कर जो कोई भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वही शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जानकर उसरूप समयसार को, शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। नयपक्ष को ग्रहण करना राग है, इसलिये समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है।"

नय संबंधी जो भी कथन है, चिन्तन है; वह सब विकल्पात्मक है और समयसारस्वरूप भगवान आत्मा निर्विकल्प है, विकल्पातीत है, यही कारण है कि वह नयपक्षातीत है; तात्पर्य यह है कि जब आत्मा का अनुभव होता है, तब नय संबंधी विकल्प नहीं होता।

इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा भी नयपक्षातीत है और उसकी अनुभूति भी नयपक्षातीत है। नय के कथनों से तो मात्र उसके स्वरूप का प्रतिपादन होता है। जब आत्मा का स्वरूप हमारे विकल्पात्मक ज्ञान में स्पष्ट हो गया तो अब प्रतिपादन का भी क्या प्रयोजन रह जाता है? अत: अब इन नयविकल्पों से बस होओ - इसी में सार है।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जीव में कर्म बद्ध है अथवा जीव में कर्म अबद्ध है - इसप्रकार के दोनों विकल्प नयपक्ष ही हैं। जो व्यक्ति इन दोनों नयपक्षों का उल्लंघन कर देता है, अतिक्रम कर देता है, दोनों को छोड़ देता है; वह समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प होकर, एक विज्ञानघन स्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है।

जो व्यक्ति 'जीव में कर्म बद्ध है' - ऐसा विकल्प करता है, वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' - ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता और जो व्यक्ति 'जीव में कर्म अबद्ध है' - ऐसा विकल्प करता है, वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' - ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। तथा जो व्यक्ति यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध भी है और अबद्ध भी है' - वह दोनों पक्षों का अतिक्रम न करता हुआ विकल्प का अतिक्रम नहीं करता।

इसलिए जो व्यक्ति समस्त नयपक्षों का अतिक्रम करता है, वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करता है और जो समस्त विकल्पों का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है, उसका साक्षात् अनुभव करता है।"

गाथा में तो मात्र दो नयपक्षों की ही चर्चा आई है; किन्तु टीका में तीसरे प्रमाणपक्ष को भी रखा गया है, जिसमें कहा गया है कि जो ऐसा विकल्प करता

है कि आत्मा वद्ध भी है और अवद्ध भी है, वह भी विकल्प का अतिक्रमण नहीं करता। इसप्रकार इसमें नय और प्रमाण – दोनों के पक्ष का निषेध किया गया है। कहा गया है कि वस्तु नयातीत ही नहीं, प्रमाणातीत भी है; नयपक्ष के विकल्प से भी पार है और प्रमाण के विकल्प से भी पार है, सवप्रकार के विकल्पों से पार है।

यहाँ एक वात यह भी ध्यान देने योग्य है कि गाथा और टीका में तो इसप्रकार की भाषा का प्रयोग है कि 'जीव में कर्म बद्ध है या अबद्ध' परन्तु जयचन्दजी के भावार्थ में ऐसा लिखा है कि जीव कर्मों से बंधा है या नहीं बंधा है। वर्तमान में समयसार पर प्रवचन करनेवाले सभी प्रवक्ता भी पण्डित जयचन्द के अनुकरण पर 'जीव कर्मों से बंधा है या नहीं बंधा है' भाषा का ही प्रयोग करते हैं। यद्यपि दोनों के भाव में कोई अन्तर नहीं है; तथापि गाथा और टीका की भाषा ही अधिक उपयुक्त लगती है; क्योंकि उसमें भगवान आत्मा की प्रधानता भासित होती है।

गाथा में प्रतिपादित सम्पूर्ण विषय-वस्तु का प्रतिपादन करते हुए स्वामीजी ने जो प्रकाश डाला है, उसमें कुछ ध्यान देने योग्य तथ्य इसप्रकार है –

''इसका अर्थ यह है कि दृष्टि अन्तर में झुकते ही जब सभी विकल्प छूट जाते हैं, तब शुद्ध आत्मा का साक्षात् अनुभव हो जाता है। 'ये विकल्प हैं, मैं इनको छोड़ता हूँ' – ऐसा विकल्प भी नहीं रहता, मात्र अन्तर्दृष्टिपूर्वक अनुभव ही रह जाता है।[१]

यहाँ समस्त नयपक्ष को छोड़ने की बात चल रही है। पीछे ११वीं गाथा में जो यह कहा है कि भूतार्थ के आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, वहाँ नयपक्ष के विकल्प की बात नहीं है। वहाँ तो भूतार्थ अर्थात् शाश्वत रहनेवाले शुद्धचैतन्यस्वभावमय भगवान आत्मा को ही शुद्धनय कहा है और उसके आश्रय से जो स्वानुभव प्रगट होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३०५-३०६

यहाँ यह कह रहे हैं कि 'मैं ऐसा हूँ' – ऐसे नयपक्ष को छोड दे। 'आत्मा अबद्धस्पृष्ट है' – यह तो सत्य है। उस अबद्धस्पृष्ट आत्मा को छोड़ने की बात नहीं है, बल्कि 'मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ' – ऐसा जो एक नयपक्ष का विकल्प है, उसको छोड़ने के लिए कहा जा रहा है; क्योंकि जो समस्त विकल्पों को छोड़ता है, वही समयसार को प्राप्त करता है, अनुभव करता है।[१]

जहाँ यह कहा है कि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही हैं, वहाँ आशय यह है कि ज्ञानी को जो विकल्प आते हैं, वह उनको मात्र जानता है। जो विकल्प हैं, उनका ज्ञान स्वयं से उत्पन्न होता है और ज्ञानी उस ज्ञान का कर्त्ता है; परन्तु उस विकल्प का कर्त्ता ज्ञानी नहीं है। जिस जाति का विकल्प होता है, उसीप्रकार की ज्ञान में स्वपरप्रकाशक पर्याय स्वयं से उत्पन्न होती है।[२]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मख्याति टीका में न केवल समस्त नयों के पक्षपात से पार होने की ही बात है; पर प्रमाण संबंधी विकल्पों से विराम लेने की भी बात है।

टीका के अन्त में कहा गया है कि 'यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को वास्तव में कौन नहीं नचायेगा।' – ऐसा कहकर आचार्य अमृतचन्द्र नयपक्ष के त्याग की भावनावाले २३ कलशरूप काव्य लिखते हैं; जिसमें पहला काव्य इसप्रकार है –

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशांतचितास्त एव साक्षादमृतं पिवंति ॥ ६९॥

(सोरठा)

जो निवसे निज माहि छोड़ सभी नय पक्ष को ।
करे सुधारस पान निर्विकल्प चित शान्त हो ॥ ६९॥

जो नयों के पक्षपात को छोड़कर सदा स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं; क्योंकि उनका चित्त विकल्पजाल रहित हो गया है और एकदम शान्त हो गया है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३०८
२. वही, पृष्ठ ३१०

उक्त छन्द में 'स्वरूपगुप्त' पद आया है। आचार्य अमृतचन्द्र को यह पद अत्यन्त प्रिय है। वे इस पद का प्रयोग बार-बार स्वयं के लिए करते हैं। अन्तिम कलश, जो एक प्रकार से प्रशस्ति का छन्द है, उसमें वे स्वयं को स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र कहते हैं। यहाँ भी वे कह रहे हैं कि जो व्यक्ति स्वरूप में गुप्त रहकर निवास करते हैं, निजात्मस्वरूप का आश्रय करते हैं; वे साक्षात् अमृत का पान करते हैं। इसप्रकार स्वरूपगुप्त और अमृतचन्द्र - ये दोनों पद इस छन्द में भी आये हैं।

उक्त छन्द का भाव पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

"जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है, तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है, तब वीतरागदशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।"

इसीप्रकार का भाव कलश टीका में पाण्डे राजमलजी भी व्यक्त करते हैं; जो इसप्रकार है -

"जो एक सत्त्वरूप वस्तु है, उसका द्रव्य-गुण-पर्यायरूप, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप विचार करने पर विकल्प होता है, उस विकल्प के होने पर मन आकुल होता है, आकुलता दुःख है, इसलिए वस्तु मात्र के अनुभवने पर विकल्प मिटता है, विकल्प मिटने पर आकुलता मिटती है, आकुलता के मिटने पर दुःख मिटता है, इससे अनुभवशीली जीव परमसुखी है।"

नाटक समयसार में इसका भावानुवाद इसप्रकार किया गया है -

(सवैया तेईसा)

जे न करै नयपच्छ विवाद, धरै न विखाद अलीक न भाखें ।
जे उदवेग तजै घट अन्तर, सीतलभाव निरन्तर राखें ॥
जे न गुनी-गुन भेद विचारत, आकुलता मनकी सब नाखें ।
ते जग मैं धरि आतम ध्यान, अखण्डित ग्यानसुधारस चाखें ॥

जो नयों के पक्ष में पड़कर विवाद नहीं करते हैं, चित्त में विषाद को नहीं रखते हैं, झूठ नहीं बोलते हैं, आंतरिक उद्वेग को छोड़ देते हैं और सदा ही शान्त रहते हैं, जो गुण-गुणी के विचार में भी नहीं उलझते हैं और मन की समस्त आकुलता को छोड़ देते हैं; वे जीव ही इस लोक में आत्मध्यान धारण करके अखण्डित ज्ञानामृत का रस चखते हैं, आत्मानुभव करते हैं।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि इस छन्द में मात्र यही कहा गया है कि जो व्यक्ति नयपक्षातीत होकर निजस्वरूप में निवास करते हैं; वे विकल्पजाल से रहित शान्तचित्तवाले व्यक्ति अतीन्द्रिय आनन्दामृत का पान करते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मानुभवी ही सुखी होते हैं।

अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव लगभग एक से ही भाव वाले २० छन्दों के माध्यम से नयपक्ष-सन्यास की भावना को नचाते हैं, आत्मानुभव की भावना को भाते हैं; जो इसप्रकार है –

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७० ॥
एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खुल चिच्चिदेव ॥ ७१ ॥
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७२ ॥
एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७३ ॥
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७४ ॥
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७५ ॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७६ ॥
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७७ ॥

एकस्य हेतु र्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७८॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७९॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८०॥
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८१॥
एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८२॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८३॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८४॥
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८५॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८६॥
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८७॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८८॥
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८९॥

(रोला)

एक कहे ना बंधा दूसरा कहे बंधा है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७०॥

एक कहे ना मूढ़ दूसरा कहे मूढ़ है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७१॥
एक कहे ना रक्त दूसरा कहे रक्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७२॥
एक कहे न दुष्ट दूसरा कहे दुष्ट है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७३॥
एक अकर्ता कहे दूसरा कर्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७४॥
एक अभोक्ता कहे दूसरा भोक्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७५॥
एक कहे ना जीव दूसरा कहे जीव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७६॥
एक कहे ना सूक्ष्म दूसरा कहे सूक्ष्म है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७७॥
एक कहे ना हेतु दूसरा कहे हेतु है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७८॥

एक कहे ना कार्य दूसरा कहे कार्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७९॥
एक कहे ना भाव दूसरा कहे भाव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८०॥
एक कहे ना एक दूसरे कहे एक है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८१॥
एक कहे ना सान्त दूसरा कहे सान्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८२॥
एक कहे ना नित्य दूसरा कहे नित्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८३॥
एक कहे ना वाच्य दूसरा कहे वाच्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८४॥
नाना कहता एक दूसरा कहे अनाना,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८५॥
एक कहे ना चेत्य दूसरा कहे चेत्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८६॥

एक कहे ना दृश्य दूसरा कहे दृश्य ना,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८७॥

एक कहे ना वेद्य दूसरा कहे वेद्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८८॥

एक कहे ना भात दूसरा कहे भात है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८९॥

एक नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बंधा है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बंधा नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्व का बेत्ता इन दोनों ही पक्षपातों से रहित होता है। उसके लिए चित्स्वरूप जीव सदा चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव मूढ़ है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव मूढ़ नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव रागी है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव रागी नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव द्वेषी है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव द्वेषी नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव कर्ता है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कर्ता नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव भोक्ता है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भोक्ता नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव जीव है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव जीव नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात हैं; किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव सूक्ष्म है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव सूक्ष्म नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव हेतु (कारण) है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव हेतु (कारण) नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव कार्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कार्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव भाव है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भाव नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव एक है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव एक नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव सांत है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव सांत नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव नित्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव नित्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव वाच्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव वाच्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव नानारूप है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव नानारूप नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव चेत्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव चेत्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धी में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव दृश्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव दृश्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव वेद्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव वेद्य नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव भात है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भात नहीं है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव के संबंध में दो नयों के दो पक्षपात है, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपात से रहित है। उसके लिए तो चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

उक्त बीस छन्दों में यह कहा गया है कि आत्मा बद्ध है, अबद्ध है; मूढ़ है, अमूढ़ है; रागी है, अरागी है; द्वेषी है, अद्वेषी है; कर्त्ता है, अकर्त्ता है; भोक्ता है, अभोक्ता है; जीव है, अजीव है; सूक्ष्म है, स्थूल है; कारण है, अकारण है; कार्य है, अकार्य है; भाव है, अभाव है; एक है, अनेक है; सान्त है, अनन्त है; नित्य है, अनित्य है; वाच्य है, अवाच्य है; नाना है, अनाना है; चेत्य है, अचेत्य है; दृश्य है, अदृश्य है; वेद्य है, अवेद्य है और भात है, अभात है – ये सब नयों के कथन हैं। यद्यपि ये समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, तथापि विकल्पात्मक होने से नयपक्ष ही है।

जो आत्मार्थी उक्त कथनों के माध्यम से यथायोग्य विवक्षापूर्वक वस्तुस्वरूप का निर्णय करके, तत्व का निर्णय करके, इन नयकथनों का भी पक्षपात छोड़कर, नयों का पक्षपात छोड़कर, नय कथनों के विकल्पों को तोड़कर, चित्स्वरूप निज आत्मा का अनुभव करता है; वह ही आत्मा को प्राप्त करता है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त करता है; अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है; परमसुखी होता है; मुक्ति को प्राप्त करता है।

यद्यपि आत्मा में अनेक साधारण धर्म हैं, सामान्य धर्म हैं, तथापि चित्स्वभाव आत्मा का असाधारण धर्म है, विशेष धर्म है, प्रगट अनुभवगोचर धर्म है। इसकारण उसे मुख्य करके यहाँ जीव को बार-बार चित्स्वरूप ही कहा गया है।

उक्त बीस छन्दों में प्रत्येक के अन्तिम तीन पद तो समान ही हैं, मात्र पहले पद में परिवर्तन है। ७०वें पद में अर्थात् प्रथम पद में समागत बद्ध-अबद्ध पदों

के स्थान पर क्रमशः मूढ़-अमूढ़, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्त्ता-अकर्त्ता आदि पद रखकर शेष छन्द बनाये गये हैं। अतः एक ७०वें छन्द का भाव ख्याल में आ जाने पर शेष छन्दों का भाव भी सहज ही भासित हो जाता है।

यही कारण है कि कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में मात्र एक ७०वें छन्द का ही अर्थ किया है, शेष छन्दों का अर्थ ही नहीं किया।

कलशटीका में ७०वें छन्द का जो अर्थ किया गया है, उसका भाव इसप्रकार है –

"चैतन्यमात्र वस्तु में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दो नयों के दो ही पक्षपात हैं। जीवद्रव्य अनादि से कर्म संयोग के साथ एक पर्यायरूप विभावरूप परिणमा है। इसप्रकार द्रव्यस्वरूप को ग्रहण न कर मात्र बंधपर्याय की ओर से देखें तो जीव बंधा है। एक पर्यायार्थिक नय का पक्ष तो यह है। दूसरा द्रव्यार्थिक नय का पक्ष यह है कि जीव द्रव्य अनादिनिधन चेतना लक्षण है, उसमें बन्धन है ही नहीं, वह सदा अपने रूप ही रहता है; क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्यायरूप नहीं परिणमता।

जो व्यक्ति जीव के शुद्ध चेतनामात्र स्वभाव का अनुभवशील है, वह उक्त पक्षपात से रहित है। एक वस्तु की अनेक रूप कल्पना करने का नाम ही पक्षपात है और वस्तुमात्र का स्वाद आने पर कल्पनाबुद्धि सहज ही मिट जाती है। शुद्धस्वरूप का अनुभव करने वाले को चैतन्यवस्तु का प्रत्यक्ष स्वाद आता है। अतः वह नयपक्षातीत है।"

कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक समयसार में सर्वत्र कलश टीका का अनुसरण करते हैं, इसकारण उन्होंने भी सभी २० छन्दों के भाव को लेकर समयसार में एक ही छन्द बनाया है, जो इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

विवहार-दृष्टिसौं विलोकत बंध्यौसौ दीसै,
निहचै निहारत न बांध्यौ यह किनिहीं ।
एक पच्छ बंध्यौ एक पच्छसौं अबंध सदा,
दोउ पच्छ अपनै अनादि धरे इनिहीं ॥

कोऊ कहै समल विमलरूप कोऊ कहै,
चिदानन्द तैसौई बखान्यौ जैसौ जिनिहीं ।
बंध्यौ मानै खुल्यौ मानै दोऊ नैको भेद जानै,
सोई ग्यानवंत जीव तत्त्व पायौ तिनिहीं ॥

व्यवहारनय से देखो तो आत्मा बंधा हुआ दिखाई देता है और निश्चयनय से देखने पर प्रतीत होता है कि वह किसी से भी बंधा हुआ नहीं है। एक पक्ष आत्मा को बंधा मानता है और दूसरा कहता है कि सदा ही अबंध है। अपेक्षा समझे बिना ये दोनों ही पक्ष अपनय हैं; कुनय हैं; मिथ्यानय हैं और ये अनादि से ही चले आ रहे हैं। कोई नय आत्मा को समल कहता है, कोई नय अमल कहता है; जिस नय से जैसा कहा है, आत्मा उस नय से वैसा ही है; किन्तु जो व्यक्ति प्रत्येक नय के कथन का सही अभिप्राय समझता है, उस कथन के प्रयोजन को भलीभाँति पहिचानता है और आत्मा को यथायोग्य बंधा और अबंध मानता है; वही ज्ञानी है और उसी ने तत्त्व को प्राप्त किया है।

पाण्डे राजमलजी और कविवर बनारसीदासजी ने उक्त छन्द का जो भाव बताया है, उसके अनुशीलन करने पर निम्नांकित बिन्दु ध्यान में आते हैं –

(१) मूल छन्द में तो 'एक नय से बंधा और दूसरे नय से अबंध' – मात्र इतना ही लिखा है, नयों के नामों का उल्लेख नहीं किया है; पर पाण्डे राजमलजी नयों का उल्लेख पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक नयों के रूप में करते हैं और बनारसीदासजी व्यवहार और निश्चय नयों के रूप में करते हैं।

(२) राजमलजी पक्षपात का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि एक वस्तु की अनेक रूप कल्पना करना ही पक्षपात है। वस्तु मात्र का स्वाद आने पर उक्त कल्पना विलीन हो जाती है, आत्मानुभव होने पर विकल्प समाप्त हो जाते हैं। इसी अवस्था का नाम नयपक्षातीत अवस्था है। इसप्रकार आत्मानुभवी ही नयपक्षातीत है, तत्त्ववेदी है।

(३) बनारसीदासजी इस बात पर वजन देते हैं कि जो व्यक्ति दोनों नयों के कथनों के मर्म को समझता है, उनके अभिप्राय को जानता है, प्रयोजन को पहिचानता है; वही ज्ञानवंत है, वही तत्त्ववेदी है, उसने ही तत्त्व को प्राप्त किया है।

उक्त तीन बिन्दुओं में प्रथम विन्दु के सन्दर्भ में बात यह है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय मूलतः आगम के नय हैं और निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के। यद्यपि ये दोनों ही शैलियाँ एकदम अलग-अलग हैं; तथापि एक-दूसरे की विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में दोनों ही शैलियाँ सहज ही घटित हो जाती हैं। 'आत्मा में कर्म बद्ध हैं' - यह कथन पर्यायदृष्टि से किया गया कथन होने से पर्यायार्थिक नय का कथन है तथा आत्मा और कर्मों के संयोग का कथन होने से दो द्रव्यों के बीच संयोग को बताने वाले असद्भूतव्यवहारनय का कथन भी है। इसीप्रकार 'आत्मा में कर्म अबद्ध हैं' - यह कथन द्रव्यदृष्टि से किया गया होने से द्रव्यार्थिकनय का कथन है और संयोग को अस्वीकार कर देनेवाला कथन होने से शुद्धस्वभाव के प्रतिपादक निश्चयनय का कथन है। - इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ दोनों की शैलियाँ सहजभाव से घटित हो रही हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी संयोग का कथन करनेवाले असद्भूतव्यवहारनय को नय ही नहीं मानते हैं। जो इस बात से अपरिचित हों, उन्हें '**परमभावप्रकाशक नयचक्र**' का '**पंचाध्यायी के अनुसार व्यवहारनय के भेद-प्रभेद**' प्रकरण का अध्ययन करना चाहिए।

हाँ, तो संयोगी कथन करनेवाले असद्भूतव्यवहारनय को नयाभास माननेवाले पाण्डे राजमलजी यहाँ 'आत्मा में कर्म बद्ध हैं' - इस संयोगी कथन को व्यवहारनय का कथन कैसे कह सकते थे ? यही कारण है कि उन्होंने यहाँ 'एक नय' शब्द का अर्थ पर्यायार्थिकनय और 'दूसरे नय' शब्द का अर्थ द्रव्यार्थिकनय किया है।

दूसरे वे व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय को पर्यायवाची जैसा ही मानते हैं। जैसाकि उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट ही है -

> ''पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।
> एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ॥[१]

१. पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५२१

पर्यायार्थिकनय कहो या व्यवहारनय कहो - इन दोनों का एक ही अर्थ है; क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचार मात्र है।''

जो व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय को पर्यायवाची ही मानता हो, उसे इस बात की गहराई में जाने की क्या आवश्यकता है कि वह 'एक नय' शब्द का अर्थ पर्यायार्थिकनय करे या व्यवहारनय। यही कारण है कि सहजभाव से जो भी शब्द ख्याल में आया, उसी का प्रयोग कर दिया गया।

प्रश्न - यदि यह बात है तो फिर नाटक समयसार में सर्वत्र ही कलश टीका का अनुसरण करने वाले बनारसीदासजी ने यहाँ भी उनका अनुसरण क्यों नहीं किया ?

बनारसीदासजी तो नाटक समयसार के अन्त में प्रशस्ति में स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं -

(चौपाई)

पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, समैसार नाटक के मर्मी ।
जिन गिरंथ की टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी ॥
इह विधि बोध-वचनिका फैली, समै पाय अध्यातम सैली ।
प्रगटी जगमांही जिनवाणी, घर-घर नाटक कथा बखानी ॥
नाटक समयसार हित जी का, सुगमरूप राजमली टीका ।
कवितबद्ध रचना जो होई, भाषा ग्रन्थ पढ़ै सब कोई ॥
तब बनारसी मनमहिं आनी, कीजै तो प्रगटै जिनवानी ।
पंचपुरुष की आज्ञा लीनी कवितबद्ध की रचना कीनी ॥

उक्त छन्दों से स्पष्ट ही है कि बनारसीदासजी के नाटक समयसार का मुख्य आधार राजमलीय कलशटीका ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना अत्यन्त स्वाभाविक है कि इस छन्द के अर्थ करने में बनारसीदासजी ने कलशटीकाकार का अनुसरण क्यों नहीं किया ?

उत्तर - अध्यात्मप्रेमी मुमुक्षु समाज इस बात से अपरिचित नहीं है कि आचार्य कुन्दकुन्द के प्रमुख ग्रन्थ समयसार और नियमसार में निश्चय-व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है तथा प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से कथन किया गया है। लगता है कि इस बात को

ध्यान में रखकर ही बनारसीदासजी ने यहाँ निश्चय-व्यवहारनयों का प्रयोग करना ही उपयुक्त समझा है। यह भी हो सकता है कि पाण्डे राजमलजी के समान उनकी दृष्टि में भी व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय एकार्थवाची ही हों। इसकारण उन्होंने इस ओर विशेष ध्यान ही न दिया हो और सहज छन्दानुरोध से निश्चय-व्यवहार शब्दों का प्रयोग कर दिया हो। जो भी हो, मूल बात यह है कि दोनों ही अर्थ सही हैं और प्रस्तुत प्रकरण में पूर्णत: घटित भी हो जाते हैं तथा आत्मख्याति के कलश के भाव को पूरी तरह स्पष्ट करने में समर्थ हैं।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने दोनों में से किसी भी नय के नाम का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने तो सभी २२ छन्दों में 'एक नय का पक्ष है कि आत्मा बंधा है और दूसरे नय से अबंध है' - इसप्रकार 'एक नय' और 'दूसरे नय' शब्दों से ही काम चला लिया है।

प्रश्न – इस प्रकरण में आपने सबके मत तो बताये, पर आपका मत क्या है ? - यह नहीं बताया।

उत्तर – अरे भाई ! हमारा क्या मत है, हमारा मत तो वही है, जो आचार्यों का है। समयसार १४१वीं गाथा में इसी बात को बताने के लिए शुद्धनय और व्यवहारनय का प्रयोग है और ये कलश भी १४२वीं गाथा के तत्काल बाद आये हैं, प्रकरण भी वही चल रहा है। इसकारण मेरा बल तो निश्चय-व्यवहार की ओर ही जाता है। अकेली कलशटीका को छोड़कर अन्यत्र लगभग सभी जगह निश्चय-व्यवहार नयों का ही प्रयोग है।

नयों के प्रकरण में भी पाण्डे राजमलजी की धारा आज तक प्राप्त आगम-अध्यात्म धारा से कुछ अलग हटकर ही है, उसी की छाया यहाँ भी आ गई लगती है।

दूसरे और तीसरे बिन्दु के संदर्भ में भी दो प्रश्न सामने आते हैं। प्रथम तो यह कि आत्मा अनुभव के काल में ही नयपक्षातीत होता है और दूसरा यह कि वस्तु का सम्यक् स्वरूप जाननेवाले आत्मानुभवी ज्ञानी सदा ही नयपक्षातीत हैं।

जहाँ पक्ष का अर्थ तत्संबंधी विकल्प ही लिया जाय; वहाँ प्रथम अर्थ घटित होगा और जहाँ पक्ष का अर्थ पक्षपात लिया जाय अथवा एक पक्ष के प्रतिपादन में अपर पक्ष का सर्वथा निषेध अभीष्ट हो; वहाँ दूसरा अर्थ घटित होगा।

नयपक्षातीत माने विकल्पातीत। जबतक विकल्प चलेगा, तबतक आत्मा का अनुभव नहीं होगा। यह विकल्प चारित्र संबंधी कमजोरी का परिणाम है; क्योंकि आत्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोगचारित्र निर्विकल्प दशा का ही नाम है। इस अपेक्षा से शुद्धोपयोगियों को ही विकल्पातीत, नयपक्षातीत कहा जाता है; सामान्य ज्ञानियों को भी अनुभूति के काल में ही विकल्पातीत, नयपक्षातीत कहा जाता है।

दूसरे दोनों नयों के स्वरूप को भलीभाँति जाननेवाले, उनके प्रयोजन को पहिचाननेवाले, आत्मानुभवी ज्ञानी धर्मात्मा सदा ही नयपक्षातीत हैं; क्योंकि वे दोनों में से किसी भी नय के पक्ष में नहीं पड़ते। वे दोनों को सही रूप में जानते हैं और दोनों का यथायोग्य उपयोग करते हैं। अत: वे सदा ही नयपक्षातीत हैं।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं –

"देखो, 'मैं एक हूँ, अबद्ध हूँ' – इत्यादि प्रकार की जो वृत्ति उठती है, वह भी एक नयपक्ष का विकल्प है; इसका भी जो त्याग करता है, वही सदा स्वरूप में गुप्त होकर रह सकता है। देखो, बाह्य वस्तु का ग्रहण-त्याग तो स्वरूप में है ही नहीं। यहाँ तो एक समय की अवस्था में जो नयपक्ष का विकल्प उठता है, उसके भी त्याग की भावना की बात है।[१]

जबतक व्रत, तपादि शुभराग का पक्षपात रहता है, तबतक चित्त में क्षोभ रहता है। यह बात तो है ही; परन्तु 'मैं शुद्ध हूँ, अभेद एकरूप चिद्रूप हूँ' – ऐसा निजस्वरूप सम्बन्धी नयपक्ष का विकल्प भी जबतक उठता है, तबतक भी चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। ये नयपक्ष के विकल्प भी क्षोभ हैं, आकुलता हैं। जब नय का सर्व पक्षपात मिट जाता है, तब वीतरागदशा होने पर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है तथा अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव में आता है।[२]

देखो, चौथे गुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन होता है, वह श्रद्धा अपेक्षा निर्विकल्प अर्थात् रागरहित वीतरागी परिणाम ही है। ऐसा नहीं समझना कि जीव ११वें-१२वें गुणस्थान में ही वीतरागदशा प्राप्त करता है। भाई! सम्यग्दर्शन स्वयं वीतरागी दशा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४,,पृष्ठ ३१२
२. वही, पृष्ठ ३१४

'मैं एक हूँ, शुद्ध चिद्रूप हूँ, अबद्ध हूँ' - ऐसा जो नयविकल्प अर्थात् राग की लगन है, जब वह भी छूट जाती है, तब वीतरागी दशा होकर स्वरूप का श्रद्धान निर्विकल्प होता है। भाई ! यह स्वदया की बात है। आत्मा का जीवन ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है। राग या विकल्प आत्मा का जीवन ही नहीं है।[१]

आचार्य कहते हैं कि पहले ज्ञान में ऐसा पक्षपात आता है कि वस्तु यही है, पश्चात् वह पक्षपातरूपविकल्प को मेटकर वस्तु का जो निर्विकल्प अनुभव होता है, वह धर्म है। यह आत्मधर्म की बात है। ... तत्त्ववेदी धर्मी जीव चित्स्वरूप को चित्स्वरूप से ही निरन्तर अनुभव करता है। एक समय का भी अन्तर पड़े बिना धर्मी को निरन्तर चैतन्यमूर्ति जलहल ज्योतिस्वरूप भगवान आनन्दस्वरूप से ही अनुभव में आता है।[२]

देखो, प्रारम्भ में वस्तुस्वरूप का निर्णय करते समय नय के विकल्प आते ही हैं और आना ही चाहिए; परन्तु जो पुरुष उनके द्वारा वस्तुस्वरूप का निर्णय करके स्वभावसन्मुख होता है, उसे चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूप से ही अनुभव होता है। विकल्पों से पार होकर जो चैतन्य की पर्याय स्वभाव में तन्मय होती है, उसी का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। पहले जो ज्ञान पर्याय विकल्प में एकमेक थी, अब ज्ञायक में एकमेक होने लगी है। बस इसी का नाम धर्म है। ज्ञानी को निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही अनुभव में आता है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि तत्त्वविचार के काल में उक्त नयकथनों पर विचार होता है, चिन्तन होता है, मंथन होता है, तत्त्वचर्चा भी होती है; किन्तु अनुभूति के काल में अन्य विकल्पों की बात तो दूर, नयसंबंधी विकल्प भी नहीं होते; क्योंकि आत्मानुभूति निर्विकल्प दशा का नाम है। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय संबंधी विकल्प तो होते ही नहीं, निश्चयनय संबंधी विकल्प भी नहीं होते; क्योंकि आत्मानुभूति सर्वविकल्पों से पार ऐसी निर्विकल्प दशा है कि जिसमें किसी भी प्रकार के किसी विकल्प को, विचार को कोई स्थान ही नहीं है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३१५
२. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३१७
३. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३३४

अब उपर्युक्त २० कलशों के भाव का उपसंहार करते हुए आचार्यदेव ९०वां कलश लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(बसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला –
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥ ९०॥

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें अनन्ते विकल्पों का जाल है ।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है ॥
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को ।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को ॥ ९०॥

इसप्रकार जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठ रहा है – ऐसी महती नयपक्षकक्षा का उल्लंघन करके ज्ञानी जीव अन्तर्बाह्य से समतारस स्वभाव वाले अनुभूतिमात्र अपने भाव को प्राप्त करते हैं।

उक्त कलश का भावानुवाद बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

प्रथम नियत नय दूजी विवहार नय,
दुहूकौं फलावत अनंत भेद फले हैं ।
ज्यौं-ज्यौं नय फलैं त्यौं-त्यौं मनके कल्लोल फलैं,
चंचल सुभाव लोकालोकलौं उछले हैं ॥
ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव,
समरसी भए एकतासौं नहिं टले हैं ।
महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं ॥

पहला निश्चयनय है और दूसरा व्यवहारनय है। इन दोनों नयों की फलावट करने से, इनके विस्तार में जाने से, इनके अनन्तों भेद हो जाते हैं; क्योंकि जितने

भी वचन विकल्प हो सकते हैं, उतने ही नय भी हो सकते हैं। जैसाकि गोम्मटसार में कहा गया है –

'जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।[१]

जितने वचन-विकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं, अर्थात् नय के भेद हैं।'

ज्यों-ज्यों नयों के विस्तार में जाते हैं, त्यों-त्यों मन के विकल्प भी विस्तार को प्राप्त होते हैं, चंचलचित्त लोकालोक तक उछलने लगता है। ज्ञानी जीव इसप्रकार के नयों के पक्ष को छोड़कर, समरसीभाव को प्राप्त होकर, आत्मा के एकत्व में अटल होकर, महामोह का नाश कर, शुद्ध अनुभव के अभ्यास से निजात्मबल प्रगट करके पूर्णानन्द में लीन हो जाते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि नयविकल्पों के विस्तार से उपयोग समेट कर जब आत्मा स्वभावसन्मुख होकर, निर्विकल्पज्ञानरूप परिणमित होता है; तभी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है।

इस कलश के अर्थ में भी कलशटीकाकार ने निश्चय-व्यवहारनय न लेकर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय लिए हैं। इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा गत कलश में हो ही चुकी है। अतः अब यहाँ कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है।

अब नय पक्ष के त्याग की भावना का अन्तिम काव्य कहते हैं –

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ९१॥

(दोहा)

इन्द्रजाल से स्फुरें, सब विकल्प के पुंज ।
जो क्षणभर में लय करे, मैं हूँ वह चित्पुंज ॥ ९१॥

विपुल, महान, चंचल विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उड़ते हुए इस समस्त इन्द्रजाल को जिसका स्फुरण मात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है, वह चिन्मात्र तेजपुंज मैं हूँ।

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८९४

इस कलश में यह कहा गया है कि मैं तो वह चैतन्य का पुंज चिन्मात्रज्योति भगवान आत्मा हूँ कि जिसके ज्ञान पर्याय में स्फुरायमान होने पर समस्त विकल्पों का शमन हो जाता है, नयों का इन्द्रजाल विलायमान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से ही विकल्पों का जाल समाप्त होता है। अत: एकमात्र वह आत्मा ही श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणों की पर्यायों द्वारा आश्रय करने योग्य है। एकमात्र श्रद्धेय, ध्येय और परमज्ञेय निजभगवान आत्मा ही है।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में कविवर बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है -

(सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू बाजीगर चौहटै बजाइ ढोल,
नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है ।
तैसैं मैं अनादिकौ मिथ्यात की तरंगनिसौं,
भरम मैं धाई बहु काय निज मानी है ॥
अब ग्यानकला जागी भरम की दृष्टि भागी,
अपनी पराई सब सौंज पहिचानी है ।
जाकै उदै होत परवांन ऐसी भांति भई,
निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है ॥

जिसप्रकार कोई बाजीगर (इन्द्रजालिया-जादूगर) चौराहे पर ढोल बजाकर भीड़ इकट्ठी करके अनेक रूप धारण करके भगल-विद्या का प्रयोग करता है, जादूगरी दिखाता है, ठग विद्या से लोगों को भ्रम में डाल देता है; उसीप्रकार मैं भी अनादिकाल से मिथ्यात्व की तरंगों से भ्रम में भटककर, आन्दोलित होकर अनेक शरीरों को धारण करता हुआ, उन्हें ही अपना मानता रहा; जिस शरीर में पहुँचा, उसे ही अपना मानकर आज तक भटकता रहा हूँ; किन्तु अब मेरे चित्त में ज्ञान कला जाग गई है, भ्रम की दृष्टि भाग गई है, अपने और पराये की सच्ची पहिचान हुई है। ऐसी दृष्टि होने से, ज्ञानकला जागृत होने से मैंने यह प्रमाणित कर लिया है कि जो मेरी चैतन्यज्योति है, निश्चय से मैं तो वही हूँ, मैं तो निज चैतन्यज्योतिस्वरूप ही हूँ।

समयसार गाथा १४३

विगत गाथाओं और कलशों में यह बात जोर देकर कहते आ रहे हैं कि समयसार स्वरूप शुद्धात्मा पक्षातिक्रान्त है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि पक्षातिक्रान्त का वास्तविक स्वरूप क्या है ? यही कारण है कि इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपमिति चेत्** - यदि कोई ऐसा पूछे कि पक्षातिक्रान्त का क्या स्वरूप है तो उसके उत्तर में यह गाथा कही जा रही है -

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं तु समय पडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्ख परिहीणो ॥ १४३॥
दोनों नयों को जानते पर ना ग्रहे नय पक्ष जो ।
नयपक्ष से परिहीन पर निज समय से प्रतिबद्ध वे ॥ १४३॥

नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ, चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनों ही नयों के कथनों को मात्र जानता ही है, किन्तु नयपक्ष को किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता।

गाथा में यह तो स्पष्ट है ही कि नयपक्ष से रहित ज्ञानी जीव दोनों नयों के कथनों को जानते तो हैं, परन्तु मात्र जानते ही हैं, नयपक्ष को रंचमात्र भी ग्रहण नहीं करते; साथ ही 'समय से प्रतिबद्ध' विशेषण का प्रयोग होने से यह भी संकेत मिलता है कि यह बात आत्मानुभवी ज्ञानी जीवों की ही है। तात्पर्य यह है कि किसी भी नय के विषय को जानने का निषेध नहीं है; परन्तु नयपक्ष में पड़ने का निषेध अवश्य है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जिसप्रकार केवली भगवान विश्व के साक्षीपन के कारण श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनयपक्षों के स्वरूप को मात्र जानते ही हैं, परन्तु सतत् उल्लसित सहज-विमल-सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयमेव

विज्ञानधन स्वभावी होने से, श्रुतज्ञान की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा अर्थात् श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण समस्त नयपक्ष के परिग्रहण से दूर हुये होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।

उसीप्रकार जो श्रुतज्ञानी आत्मा तत्संबंधी क्षयोपशम से उत्पन्न श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्सुकता से निवृत्त हुआ होने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयपक्षों के स्वरूप को केवल जानता ही है; परन्तु अतितीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये निस्तुष, नित्य-उदित, चिन्मय समय (आत्मा) से प्रतिबद्धता के द्वारा अर्थात् चैतन्य आत्मा के अनुभव द्वारा अनुभव के समय स्वयमेव विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुआ होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता हुआ; वह श्रुतज्ञानी आत्मा भी वस्तुतः समस्त विकल्पों से अति पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।''

टीका का सार संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए पंडित जयचंदजी छावड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

''जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञातादृष्टा) हैं। उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करते हैं, तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही है। यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये, तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है, प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे, तो मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्र मोह का राग रहता है और जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को मात्र जानते ही हैं, तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी की भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं -ऐसा जानना।''

उक्त सम्पूर्ण विषयवस्तु को स्वामीजी ने बहुत ही बढ़िया ढंग से स्पष्ट किया है। अतः अपनी ओर से कुछ भी टिप्पणी किये बिना उनके स्पष्टीकरण को उद्धृत कर देना ही पर्याप्त लगता है; जो इसप्रकार है -

"टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव केवली भगवान का दृष्टान्त देकर समझाते हैं –

(१) जिसप्रकार केवली भगवान विश्व के साक्षी होने से अन्य समस्त लोकालोक के साथ श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार व निश्चयनय के भेदों को भी मात्र साक्षीपने से जानते ही हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी श्रुतज्ञानात्मक विकल्पमय होते हुए भी पर के ग्रहण के प्रति उत्साह निवृत्त होने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चय के पक्षों के स्वरूप को मात्र जानते ही हैं।

(२) जिसप्रकार केवली भगवान निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल, केवलज्ञान से सदा स्वयं ही विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्त हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी अतितीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि सें ग्रहण करते हुए निर्मल, नित्यउदित, चैतन्यमय आत्मा के अनुभव द्वारा अनुभव के काल में स्वयं ही विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका से पार को प्राप्त हो गये हैं, उसका उल्लंघन कर गये हैं।

(३) जिसतरह केवलज्ञानी श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्तता के कारण समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हो गये हैं, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी अनुभव के काल में स्वयं विज्ञानघन होने से समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हो गये हैं; इसलिए नयपक्ष ग्रहण नहीं करते।

इसप्रकार उपरोक्त तीन बोलों द्वारा सम्यग्दृष्टि के अनुभव की प्रक्रिया को भगवान केवली के ज्ञाता-दृष्टास्वभाव का उदाहरण देकर समझाया है। उक्त बोलों में केवली व श्रुतज्ञानी को समान बताया है। केवली भगवान को श्रुतज्ञान नहीं है; इसकारण उनके नय नहीं हैं; मात्र वे श्रुतज्ञान के स्वरूप को जानते ही हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी को भी आत्मानुभव के काल में व्यवहार-निश्चय का पक्ष छूट गया है, इसकारण वह भी अनुभव के काल में नयपक्ष के स्वरूप को केवल जानता ही है। उसे भी उस समय नयों का विकल्प नहीं रहता।

केवली भगवान तो सदा के लिए पूर्ण विज्ञानघन हो गये हैं, पर सम्यग्दृष्टि केवल अनुभव के काल में ही विज्ञानघन हुआ है; क्योंकि अनुभवकाल के

सिवाय सम्यग्दृष्टि जीव को नानाप्रकार के विकल्प उठते ही हैं, इसलिए केवल अनुभव के काल में ही वह विज्ञानघन हुआ है - यह कहा है। यह बात धर्म की प्रारंभिक भूमिका की है अर्थात् चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की ही बात चल रही है। ...

'मैं शुद्ध हूँ' - ऐसा जो अन्दर विकल्प उठता है, वह अन्तर्जल्प है और बाहर जो वाणी निकलती है, वह बहिर्जल्प है। श्रुतज्ञानी अनुभव के काल में समस्त अन्तर्जल्प व बहिर्जल्परूप विकल्पों को लाँघ चुका है। अहो ! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने श्रुतज्ञानी आत्मानुभवी जीव को केवलज्ञानी से तुलना करके समझाया है, गजब का काम किया है।[१]

जिसमें राग का अंश भी नहीं है, ऐसे शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का अनुभव करने वाले को यहाँ पहले परमात्मा कहा, फिर इसके ज्ञानगुण को मुख्य करके ज्ञानात्मा कहा तथा राग से भेदज्ञान कराके उसे ही प्रत्यग्ज्योति कहा, तत्पश्चात् उसे ही आत्मज्योति कहा और अन्त में उसी को अनुभूतिमात्र समयसार कहा है।[२]

पर्याय में बद्ध है, द्रव्य अपेक्षा अबद्ध है; - ऐसा जो वस्तुस्वरूप है, उसे तो अज्ञानी मानता नहीं है और एकान्त से एकपक्ष को ही ग्रहण करता है। पर्याय में अशुद्धता है - ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है और द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है - ऐसा निश्चयनय का पक्ष है। जो इनमें एक नय को तो माने और दूसरे को न माने, तो वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है।

मैं त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमय आनन्दकन्द प्रभु हूँ - ऐसा तो जाने नहीं और व्रतादि के शुभराग को ही मात्र ग्रहण करके संतुष्ट रहे, तो वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है तथा 'आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है' - ऐसा कहें, परन्तु पर्याय में जो रागादि हैं, उन्हें स्वीकार नहीं करे, तो वह निश्चयभासी मिथ्यादृष्टि है तथा दोनों पक्षों को तो ग्रहण करे और आत्मा को ग्रहण न करें, तो वह भी विकल्पों के जाल में उलझा हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है। जैन होने की तो

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३४४-३४५
२. वही, पृष्ठ ३४७-३४८

यह शर्त है कि किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करें, बल्कि दोनों नयों के द्वारा वस्तु को यथार्थ जानकर नयपक्ष को भी छोड़कर मात्र आत्मवस्तु को ही ग्रहण करें।

प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसे ग्रहण करे, तो मिथ्यात्व नहीं होगा, मात्र चारित्रमोह का राग रहेगा। 'मैं शुद्ध, अखण्ड, एकरूप, आनन्दस्वरूप हूँ, ज्ञायक हूँ' – इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए व्यवहारनय के पक्ष को गौण करके तथा निश्चयनय के पक्ष को मुख्य करके उसे ग्रहण करें, तो मिथ्यात्वरहित मात्र चारित्रमोह का राग रहता है। अनुभव होने के बाद भी 'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा प्रधानपने पक्ष रहे, तो वह रागरूप चारित्र का दोष है। उसे ज्ञानी यथावत् जानता है और उग्र पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव का आश्रय करके उसे भी दूर करता है।

और जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को केवल जानता ही है, तब श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी की तरह वीतराग जैसा ही होता है।[१]''

जो लोग स्वामीजी को एकान्ती होने का भ्रम पालते हैं, उन्हें स्वामीजी के उक्त कथनों पर ध्यान देना चाहिए तथा जो लोग उनके अनुयायी होते हुए भी एक पक्ष को ही सर्वथा स्वीकार करना चाहते हैं; उन्हें भी स्वामीजी के उक्त कथनों पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

अब आगामी कलश में यह कहते हैं कि वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है कि –

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥ ९२॥

(रोला)

मैं हूँ वह चित्पुंज कि भावाभावभावमय ।
परमारथ से एक सदा अविचल स्वभावमय ॥
कर्मजनित यह बंधपद्धति करूँ पार मैं ।
नित अनुभव यह करूँ कि चिन्मय समयसार मैं ॥ ९२॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३४९

चित्स्वरूप के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किये जाते हैं - ऐसा जिसका परमार्थस्वरूप है, इसकारण जो एक है; - ऐसे अपार समयसार को मैं समस्त बंधपद्धति को दूर करके अर्थात् कर्मोदय से होनेवाले समस्त भावों को छोड़कर अनुभव करता हूँ।

यहाँ '**चित्स्वभावभर**' पद का प्रयोग है, जो यह बताता है कि यह भगवान आत्मा चित्स्वभाव से भरा हुआ है तथा '**भावित भावाभावभाव**' पद में भाव-अभाव-भाव में भाव माने उत्पाद, अभाव माने व्यय और भाव माने ध्रौव्य होता है। तात्पर्य यह है कि पहले भाव का अर्थ उत्पाद और दूसरे भाव का अर्थ ध्रौव्य लेना है। भावित का अर्थ है कि ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य चित्स्वभाव के द्वारा ही भावित हैं, होते हैं। द्रव्य होने से भगवान आत्मा का परमार्थस्वरूप; उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होना है और इसीकारण भगवान आत्मा एक है। ऐसा यह अपार समयसारस्वरूप भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ। ऐसा अनुभव करने से ही सम्पूर्ण बंधपद्धति से निवृत्ति होती है। इसकारण मैं समस्त बंधपद्धति का अभाव करता हुआ ऐसा अनुभव करता हूँ कि यह चैतन्यस्वरूप परमार्थ आत्मा मैं ही हूँ।

इस सन्दर्भ में पाण्डे राजमलजी कलशटीका में लिखते हैं कि -

"शुद्धस्वरूप का अनुभव होने पर जिसप्रकार नयविकल्प मिट जाते हैं, उसीप्रकार समस्त कर्मों के उदय से होनेवाले भाव भी मिट जाते हैं - ऐसा स्वभाव है।"

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में बनारसीदासजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

जैसैं महा रतन की ज्योति मैं लहरि उठै,
जलकी तरंग जैसैं लीन होय जल मैं ।
तैसैं शुद्ध आतम दरब परजाय करि,
उपजै बिनसै थिर रहै निज थल मैं ॥

ऐसै अविकलपी अजलपी अनंदरूपी,
अनादि अनंत गहि लीजै एक पल मैं ।
ताकौ अनुभव कीजै परम पीयूष पीजै,
बंधकौ विलास डारि दीजै पुद्गल मैं ॥

जिसप्रकार महान रत्न की ज्योति में से लहरें उठती हैं और पानी की तरंगें पानी में ही विलीन हो जाती हैं; उसीप्रकार यह शुद्ध आत्मा अपने द्रव्य और पर्यायों के द्वारा अपने में ही उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर रहता है। ऐसे इस वाणी और विकल्पों से पार, आनन्दमयी, अनादि-अनन्त आत्मा को एक पल में ग्रहण कर लीजिए, इसका अनुभव कीजिए, परम-अमृत का पान कीजिए और बन्ध के विलास को पुद्गल में डाल दीजिए।

देखो, यहाँ यह कह रहे हैं कि जिसप्रकार रत्नों की किरणें रत्नों में से निकलती हैं; उसीप्रकार आत्मा की पर्यायों का उत्पाद आत्मा में से ही होता है तथा जिसप्रकार जल की तरंगें जल में ही समा जाती हैं; उसीप्रकार आत्मा की पर्यायें, व्यय होकर आत्मा में ही समा जाती हैं और आत्मा द्रव्यरूप से सदा ही स्थिर रहता है। इसप्रकार यह भगवान आत्मा अपने में ही उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर रहता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ उत्पाद को समझाने के लिए रत्न की ज्योति का और व्यय को समझाने के लिए जल की तरंगों का उदाहरण दिया है। जल की तरंगों के उदाहरण से यह बात भी स्पष्ट होती है कि जिसप्रकार जल की तरंगें जल में ही समा जाती हैं; उसीप्रकार व्यय होनेवाली पर्यायें द्रव्य में ही समाहित हो जाती हैं, कहीं बाहर नहीं चली जातीं। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वे पर्यायें व्यय होकर आत्मद्रव्य में उदयादि भावों के रूप में न रहकर पारिणामिकभाव के रूप में रहती हैं।

यहाँ बनारसीदासजी कह रहे हैं कि हे भाई ! वाणी और विकल्पों से पार इस आनन्दमयी, अनादि-अनन्त आत्मा को इसी समय एक पल में ही ग्रहण कर लीजिए, इसका ही अनुभव कीजिए, परम-अमृत रस का पान कीजिए और

बंध की चर्चा को पुद्गल की कृति जानकर, उससे उपयोग को हटा लीजिए। इसी में सार है और सब असार है, संसार है।

ज्ञानप्रधान कथन होने से ही यहाँ यह कहा गया है कि जिस चित्पुंज आत्मा के द्वारा अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किये जाते हैं, मैं उस समयसाररूप आत्मा का अनुभव करता हूँ।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"अहा! त्रिकाली ज्ञायक चैतन्यस्वभावरूप आत्मा अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव के द्वारा ही नवीन अवस्थारूप उत्पाद, एक समयपूर्व की पुरानी अवस्था के अभावरूप व्यय तथा स्थिरतारूप ध्रुवस्वभाव से अनुभव में आता है।[१]

यह ज्ञानप्रधान कथन है; अत: कहते हैं कि चित्स्वभाव आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है, व्यवहार के विकल्पों द्वारा नहीं।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव का पुंज भगवान आत्मा स्वयं अपने से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमता है अर्थात् ध्रुवरूप से रहता है और उसी के आश्रय से निर्मल वीतरागी पर्याय का उत्पाद होता है।[२]"

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि दृष्टिप्रधान कथन में तो भगवान आत्मा को पर और पर्यायों से पार ही बताया जाता है, उत्पाद-व्यय निरपेक्ष ही बताया जाता है; किन्तु ज्ञानप्रधान कथन में उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभावी भी बताया जाता है।

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३५०
२. वही, पृष्ठ ५५१

विरोधियों का बिखर जाना कोई विजय ही नहीं है, यह तो नकारात्मक पहलू है। विरोध का समाप्त हो जाना भी पूरी विजय नहीं है; अपितु सबका सत्य के प्रति, तत्त्व के प्रति प्रेम हो जाना ही सच्ची विजय होगी।

– सत्य की खोज, पृष्ठ २४७

समयसार गाथा १४४

यह गाथा कर्ताकर्माधिकार की अन्तिम गाथा है। इसमें पक्षातिक्रान्त संबंधी सम्पूर्ण प्रकरण का समापन है, निष्कर्ष दिया गया है। यही कारण है कि आत्मख्याति में इस गाथा की उत्थानिका इसप्रकार दी गई है -

"**पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते** - यह सुनिश्चित होता है कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है।"

पक्षातिक्रान्त को समयसार कहने वाली वह गाथा इसप्रकार है -

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४॥
विरहित सभी नयपक्ष से जो वह समय का सार है ।
है वही सम्यग्ज्ञान एवं वही समकित सार है ॥ १४४॥

जो सर्वनयपक्षों से रहित कहा गया है, वह समयसार है। इसी समयसार को ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान - ऐसी संज्ञा (नाम) मिलती है। तात्पर्य यह है कि नामों से भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है।

देखो, यहाँ आत्मा को ही, समयसार को ही; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जा रहा है, दोनों को एक ही वस्तु बताया जा रहा है। इसकी क्या अपेक्षा है - यह सब टीका में स्पष्ट किया जायगा।

इस गाथा की आत्मख्याति टीका में इस गाथा का जो भाव स्पष्ट किया गया है, वह इसप्रकार है -

"वास्तव में तो समस्त नयपक्षों के द्वारा खण्डित न होने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है - ऐसा समयसाररूप भगवान आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम को प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसाररूप आत्मा से अलग नहीं हैं, अभिन्न ही हैं।

पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का स्वरूप सुनिश्चित करके, भलीभाँति समझकर; फिर आत्मा की ख्याति के लिए, प्रगट प्रसिद्धि के लिए, आत्मानुभूति के लिए; परपदार्थों की प्रसिद्धि की हेतुभूत इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रवर्त्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर, आत्मोन्मुख करके; जिसने मतिज्ञानतत्त्व को आत्मसम्मुख किया है, मतिज्ञान को आत्मोन्मुख किया है; वह, तथा नानाप्रकार के नयपक्षों के अवलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लेकर, आत्मोन्मुख करके; जो श्रुतज्ञान को भी आत्मसम्मुख करता हुआ अत्यन्त विकल्परहित होकर; शीघ्र ही, तत्काल ही निजरस से ही प्रगट होता हुआ; आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो - ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मरूप समयसार का जब वह आत्मा अनुभव करता है, तब उसी समय आत्मा सम्यकतया दिखाई देता है और ज्ञात होता है। इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।''

यहाँ टीका में यह तो कहा ही गया है कि स्वानुभूतिसम्पन्न, पक्षातिक्रान्त, समयसारस्वरूप, भगवान आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; साथ ही पक्षातिक्रान्त होने की, सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करने की, आत्मानुभूति प्राप्त करने की विधि भी बताई गई है।

इस विधि में यह बताया गया है कि सर्वप्रथम क्या करना चाहिए। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए करणलब्धि का होना आवश्यक है और करणलब्धि देशनालब्धि के बिना नहीं होती। अतः सर्वप्रथम देशनालब्धि की बात है और देशनालब्धि के लिए सर्वप्रथम श्रुतज्ञान के माध्यम से, देव-गुरु के सदुपदेश से, जिनवाणी के स्वाध्याय से, ज्ञानी धर्मात्मा के संबोधन से, तत्संबंधी अध्ययन से, मनन से, चिन्तन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिए, ज्ञानस्वभावी आत्मा का विकल्पात्मक ज्ञान में सम्यक् निर्णय करना चाहिए, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को भलीभाँति समझना चाहिए; क्योंकि

जबतक आत्मा का स्वरूप विकल्पात्मक ज्ञान में भलीभाँति स्पष्ट नहीं होगा, तबतक आत्मानुभूति की प्रक्रिया सम्पन्न होना संभव नहीं है।

आत्मा का लक्षण उपयोग है। अतः ज्ञान-दर्शन उपयोग लक्षण से आत्मा को जानना चाहिए; क्योंकि लक्ष्य की पहिचान लक्षण से ही होती है। यह जानना चाहिए कि जो जानता-देखता है, वही आत्मा है। आत्मा को देहवाला, कुटुम्ब-परिवारवाला, राग-द्वेषवाला जानना - यह आत्मा की सही पहिचान नहीं है। आत्मा को संयोगों से नहीं जानना है, अपितु असंयोगी आत्मतत्त्व को उसके ज्ञानस्वभाव से जानना है। यह जानना है कि आत्मा जानने-देखने के स्वभाववाला पदार्थ है। आत्मा का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है, स्वपर को जानना-देखना मात्र है; पर में कुछ करना या रागादिभाव करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह बात श्रुतज्ञान से जानना है और आत्मा को ज्ञानस्वभावी जानना है, जानने-देखने के स्वभाववाला जानना है।

जब श्रुतज्ञान के माध्यम से ज्ञानस्वभावी आत्मा जान लिया जाय तो फिर उसके बाद मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप ज्ञान पर्यायों को बाह्य विषयों में से समेट कर आत्मसम्मुख करना है। मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से परपदार्थों को जानने में उलझा है और श्रुतज्ञान नानाप्रकार के नयविकल्पों में उलझकर रह गया है, आकुलित हो रहा है। इन दोनों ही ज्ञानों को मर्यादा में लाकर आत्मसन्मुख करना है। आत्मानुभूति प्राप्त करने का यही उपाय है।

जब यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान निर्विकल्प होकर आत्मसम्मुख होते हैं, तब तत्काल ही समयसारस्वरूप भगवान आत्मा का दर्शन होता है, ज्ञान होता है; भगवान आत्मा प्रतीति में आता है, अनुभूति में आता है और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का झरना झरता है। आत्मा की इसी परिणति का नाम आत्मानुभूति है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है। इसकारण आत्मा और आत्मानुभूति एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी आत्मा ही है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"सर्वप्रथम वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहे गये, गणधरदेव द्वारा गूँथे गये एवं तदनुसार कुन्दकुन्दाचार्यादि दिगम्बर सन्तों द्वारा रचे गये शास्त्रों के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करना चाहिए। निर्विकल्प अनुभव के लिए पहले विकल्प द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने को कहा है। इससे ऐसा नहीं समझना कि यह विकल्पात्मक निर्णय निर्विकल्प अनुभव का कारण है, बल्कि यह जानना कि निर्विकल्प अनुभव के पहले विकल्पात्मक निर्णय होता ही है। प्रथम भूमिका में श्रुतज्ञान के अवलम्बन से राग मिश्रित विचार द्वारा यह निर्णय होता है कि - 'मैं त्रिकाली शुद्ध ज्ञानस्वभावी नित्यानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा हूँ।'

'श्रुतज्ञान के अवलम्बन से' - इसका अर्थ यह है कि सर्वज्ञदेव एवं निर्ग्रन्थगुरु आगम द्वारा जो बात कहते हैं, उसे सुनकर आत्मार्थी जीव पहले विकल्प में ऐसा निर्णय करता है कि मैं विकल्पों से लेकर समस्त लोकालोक से भिन्न शुद्ध ज्ञानस्वभावी हूँ। इसे जानकर सर्वप्रथम वह मन में विकल्पात्मक निर्णय करता है। सम्यग्दर्शन का होना तो बाद की बात है, यह तो विकल्पात्मक निर्णय करने की बात है।

आत्मा के अनुभव की शुरुआत जिसे करनी हो, जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो; उसे प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिए।[१]

जिन्हें सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, वे सर्वप्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से स्वरूप का निश्चय करते हैं। पश्चात् पाँच इन्द्रिय व मन द्वारा परपदार्थों की प्रसिद्धि करनेवाले ज्ञान को मर्यादा में लेते हैं और मतिज्ञान को आत्मसन्मुख करते हैं। मतिज्ञान को परज्ञेयों से हटाकर स्वज्ञेय में जोड़ते हैं, यही आत्मानुभव की विधि की प्रक्रिया है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३५९-३६०
२. वही, पृष्ठ ३६१

यहाँ कहते हैं कि भाई ! जो मतिज्ञान अभी तक मन और इन्द्रियों की ओर झुका है, उसे वहाँ से हटाकर आत्मसन्मुख कर ! यह एक बोल हुआ। श्रुतज्ञान के अनेक प्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं। मैं अबद्ध हूँ, मैं बद्ध हूँ; मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ; इत्यादि नयपक्ष के विकल्प तो आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं ही; परन्तु मैं अबद्ध हूँ - ऐसे स्वरू संबंधी विकल्प भी आकुलता उत्पन्न करनेवाले ही हैं। व्रत, तप, भक्ति आदि के राग तो आकुलता उत्पन्न करते ही हैं; परन्तु नयपक्ष का राग भी आकुलता उत्पन्न करता है, दु:खदायी है।

मात्र शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप भगवान आत्मा में राग और दु:ख नहीं है। श्रुतज्ञान के विकल्प से उत्पन्न हुई आकुलता आत्मवस्तु में नहीं है। मैं पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ - ऐसे जो विकल्प उठते हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं। इन विकल्पों से भी भिन्न आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन है।[१]

यहाँ तो यह कहते हैं कि आकुलता को उत्पन्न करनेवालें नयपक्ष के विकल्पों से भगवान आत्मा भिन्न हैं। ऐसा स्वरूप निर्विकल्प अनुभव से प्रसिद्ध होता है, इसकारण श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लेकर अर्थात् श्रुतविकल्प से हटाकर श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसन्मुख करो- ऐसा कहा है।

श्रुतज्ञान की बुद्धियाँ अर्थात् ज्ञान की दशायें, जो नयज्ञान में उलझी पड़ी थीं, उन्हें वहाँ से समेटकर स्वसन्मुख करने को कहा है।[२]

जिससमय आत्मा अनेक विकल्पों द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लेकर श्रुतज्ञानतत्त्व को आत्मसन्मुख करता है; उसी समय आत्मा भलीभाँति दिखाई देने लगता है। विकल्प बहिर्मुखभाव हैं, जो विकल्पों में ही अटका रहता है, वह बहिरात्मा है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३६१-३६२
२. वही, पृष्ठ ३६२
३. वही, पृष्ठ ३६३

पहले कहा था कि मतिज्ञानतत्त्व को आत्मसन्मुख करना और यहाँ कहते हैं कि श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसन्मुख ढालना। अहाहा ··· ! इसमें कितना पुरुषार्थ है। सम्पूर्ण दिशा (पर से स्वद्रव्य की ओर) पलटने की बात है।

अब कहते हैं कि मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के आत्मसन्मुख होने पर जो आत्मा का अनुभव होता है, उसमें विकल्पों का अत्यन्त अभाव है। 'मैं ऐसा हूँ, ऐसा नहीं हूँ' - ऐसे विकल्पों को भी जहाँ अवकाश नहीं रहता, तो फिर पर के कर्तृत्व की तो बात ही कहाँ रही ? अत्यन्त विकल्परहित होने पर आत्मा तत्काल निजरस से ही प्रगट होता है। अन्तर में दृष्टि पड़ी, ज्ञान की दशा ज्यों ही ज्ञाता की ओर ढली, उसी क्षण भगवान आत्मा निजरस से प्रगट हो जाता है। निजरस अर्थात् ज्ञानरस, आनन्दरस, शान्तरस, समरस, वीतरागरस - ऐसे निजरस से भगवान आत्मा तत्काल प्रसिद्ध हो जाता है।

पर के या विकल्पों के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, किन्तु अन्तर में स्वभावसन्मुख होने पर आत्मा तत्काल निजरस से ही प्रगट होता है।[१]

त्रिकाली ध्रुव-ऐसे द्रव्य के सन्मुख होने पर निजरस से ही आत्मा तत्काल प्रगट हो जाता है, आदि-मध्य-रहित, अनादि-अनन्त, परमात्मरूप समयसार उसी समय सम्यकतया श्रद्धा व ज्ञान का विषय बन जाता है, ज्ञात हो जाता है। आत्मा पहले नहीं था और अब हो गया हो - ऐसा नहीं है। अभी तो मात्र पर्याय में प्रगट-प्रसिद्धि हुई है। जो है, उसी की प्रगट-प्रसिद्धि होती है।[२]

दिगम्बर संत कहते हैं कि भगवान तेरी वर्तमान मतिज्ञान व श्रुतज्ञान की पर्याय पर की ओर झुकी है, इसकारण तुझे परपदार्थ की प्रसिद्धि होती है। अब तू स्व-पदार्थ की प्रसिद्धि के लिए मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के तत्त्व को अर्न्तस्वभाव की ओर झुकाकर स्वसन्मुख हो, जिससे तेरा आत्मा निजरस से ही पर्याय में प्रगट होगा। आत्मा निर्विकल्प वीतरागभाव से ही प्रगट होता है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३६३-३६४
२. वही, पृष्ठ ३६४
३. वही, पृष्ठ ३६५

भावार्थ यह है कि आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप आत्मा का निश्चय करके इन्द्रिय बुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानभाव में ही मिलाकर तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्प मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करने को ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान अनुभव से कोई जुदी वस्तु नहीं है।[१]''

इसप्रकार कर्त्ताकर्म-अधिकार की इस अन्तिम गाथा और उसकी टीका में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की विधि बताकर यह कहा गया है कि समयसाररूप भगवान आत्मा अथवा उसके अनुभव का नाम ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

अब यहाँ १४४ वीं गाथा की समाप्ति के साथ ही कर्त्ताकर्म-अधिकार भी समाप्त हो रहा है। इस अवसर पर आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका में ७ कलश लिखते हैं, जिनमें आरंभ के दो कलश तो पक्षातिक्रान्त समयसार का स्वरूप बतानेवाले प्रकरण से संबंधित हैं, शेष ५ कलश सम्पूर्ण कर्त्ताकर्म-अधिकार के समापन कलश हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना ।
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ॥
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान् ।
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥ ९३ ॥

(हरिगीत)

यह पुण्य पुरुष पुराण सब नयपक्ष बिन भगवान है ।
यह अचल है अविकल्प है बस यही दर्शन ज्ञान है ॥
निभृतजनों का स्वाद्य है अर जो समय का सार है ।
जो भी हो वह एक ही अनुभूति का आधार है ॥९३॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३६९

नयों के पक्षों से रहित, अचल, निर्विकल्पभाव को प्राप्त होता हुआ जो समय का सार प्रकाशित करता है, वह यह समयसार (शुद्धात्मा) है, जो कि निभृत (आत्मलीन-निश्चल) पुरुषों के द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, उनके अनुभव में आता है और विज्ञान ही जिसका एक रस है - ऐसा भगवान आत्मा पवित्र है, पुराणपुरुष है। उसे ज्ञान कहो या दर्शन, चाहे जो कुछ भी कहो, वह ही सारभूत है। अधिक क्या कहें - जो कुछ है, वह एक ही है।

इस कलश में यह कहा जा रहा है कि विगत गाथाओं में जिस नयपक्षातीत भगवान आत्मा की चर्चा की गई है, वह भगवान आत्मा पुण्यस्वरूप है अर्थात् पवित्र है; पुराण है अर्थात् अत्यन्त प्राचीन है, अनादि-अनन्त है; पुमान है अर्थात् पुरुष है, पौरुष से युक्त है, अनन्तगुणवाला है; अचल है अर्थात् अपने स्वरूप से कभी चलायमान नहीं होता; अविकल्पभावरूप है अर्थात् निर्विकल्प चैतन्यवस्तुरूप है, विकल्पजाल में उलझनेवाला नहीं है, विकल्पों से प्राप्त होनेवाला नहीं है। शुद्धभावरूप-निर्विकल्पभावरूप परिणमता हुआ, विज्ञान ही एक है रस जिसका और जो निभृत पुरुषों द्वारा, आत्मानुभवी ज्ञानियों द्वारा; आस्वाद्यमान है, अनुभव योग्य है; - ऐसा वह भगवान आत्मा ही दर्शन है, ज्ञान है; सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है। अधिक क्या कहें - जो कुछ भी है, वह एक आत्मा ही है।

इसप्रकार यह कलश दृष्टि के विषयभूत, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के एकमात्र मूलाधार भगवान आत्मा की महिमा बतानेवाला कलशकाव्य है।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए पाण्डे राजमलजी लिखते हैं -

"भावार्थ इसप्रकार है कि जितना नय है, उतना श्रुतज्ञान है; श्रुतज्ञान परोक्ष है, अनुभव प्रत्यक्ष है; इसलिए श्रुतज्ञान बिना जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष अनुभवता है। इसकारण प्रत्यक्षरूप से अनुभवता हुआ जो कोई शुद्धस्वरूप आत्मा है, वही ज्ञानपुंज वस्तु है, - ऐसा कहा जाता है।"

इसी का अनुकरण करते हुये बनारसीदास नाटक समयसार में इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

दरब की नय अर परजायनय दोऊ,
श्रुतग्यानरूप श्रुतग्यान तो परोख है ।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं,
अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है ॥
अनुभौ प्रवांन भगवान पुरुष पुरान,
ग्यान और विग्यानघन महासुखपोख है ।
परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके,
अनुभौ बिना न कहूँ और ठौर मोख है ॥

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों ही नय श्रुतज्ञान हैं और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है तथा शुद्ध आत्मा का अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह अनुभव निर्दोष है, सुशोभित है, प्रमाण है, भगवान है, पुरुष है, पुराण है, ज्ञान है, विज्ञानघन है, महान है और सुख का पोषण करनेवाला है। यह अनुभव परम पवित्र है, इसके अनन्त नाम हैं, यह मोक्ष स्वरूप है, मोक्ष का कारण है; इसके बिना अन्यत्र कहीं भी मोक्ष नहीं है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ बनारसीदासजी ने सभी विशेषण अनुभव के बना दिये हैं। भगवान, पुण्य, पुराण, पुमान, ज्ञान आदि सभी को अनुभव का नामान्तर बताया है। कलश टीका में भी इसीप्रकार की ध्वनि विद्यमान है और बनारसीदासजी ने इस भाव को वहीं से ग्रहण किया है।

दूसरे यहाँ भी मूल छन्द में नयों के नाम नहीं हैं; परन्तु बनारसीदासजी कलशटीका के अनुकरण पर यहाँ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय ही लेते हैं, पहले के समान निश्चय-व्यवहार नय नहीं लेते। इससे प्रतीत होता है कि बनारसीदासजी को दोनों प्रकार के नयों के लेने में कोई संकोच नहीं है; किन्तु कलशटीकाकार सर्वत्र ही द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों को ही लेते आ रहे हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत समीक्षा पहले की ही जा चुकी है। अत: यहाँ कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

१४४ वीं गाथा में समयसार (शुद्धात्मा) को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा ही है। अत: समयसार के नामान्तरों को अनुभव के नामान्तर कहना

अनुचित भी नहीं है। संक्षेप में यहाँ भी यही कहा जा रहा है कि नयपक्षातीत समयसार ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, अनुभव है और इसी अनुभव के गीत गाये गये हैं नाटक समयसार के इस छन्द में।

अब आगामी कलश में यह कहते हैं यह आत्मानुभव कैसे होता है ?

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरि विकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो ।
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ॥
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन् ।
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥ ९४॥

(हरिगीत)

निज औघ से च्युत जिसतरह जल ढालवाले मार्ग से ।
बलपूर्वक यदि मोड़ दें तो आ मिले निज औघ से ॥
उस ही तरह यदि मोड़ दें बलपूर्वक निजभाव को ।
निजभाव से च्युत आत्मा निजभाव में ही आ मिले ॥ ९४॥

जिसप्रकार पानी अपने समूह से च्युत होता हुआ दूर गहन वन में बह रहा हो, उसे दूर से ही ढालवाले मार्ग के द्वारा अपने समूह की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाय, तो वह पानी पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ, प्रवाहरूप होकर अपने समूह में आ मिलता है; उसीप्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर प्रचुर विकल्पजालों के गहन वन में दूर-दूर तक परिभ्रमण कर रहा था, उसे दूर से विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया। इसलिए विज्ञानघन आत्मा का रसिक आत्मा आत्मा को आत्मा की ओर खींचता हुआ, ज्ञान को ज्ञानी की ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर सदा विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।

इस कलश के भाव को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"जैसे पानी, अपने पानी के निवासस्थल से किसी मार्ग से वाहर निकलकर वन में अनेक स्थानों पर वह निकले और फिर किसी ढलानवाले मार्ग द्वारा ज्यों का त्यों अपने निवास स्थान में आ मिले; इसीप्रकार आत्मा भी मिथ्यात्व के मार्ग से स्वभाव से वाहर निकलकर विकल्पों के वन में भ्रमण करता हुआ, किसी भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्गद्वारा स्वयं ही अपने को खींचता हुआ, अपने विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।"

पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है; अत: अपने समूह से विलग होकर गहन वन में नीचे की ओर बहनेवाले पानी का दुबारा उसी जलसमूह में आ मिलना आसान नहीं है; तथापि यदि उसे बलपूर्वक ढालवाले मार्ग से उसी ओर मोड़ दिया जाय, जहाँ से वह जलसमूह से विलग हुआ था, तो वह उसी जलसमूह में आ मिलता है। यद्यपि यह काम आसान नहीं है; तथापि सम्भव है, असम्भव नहीं।

इसीप्रकार अपने विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट विकल्पजाल के गहन वन में भ्रमित आत्मा का आत्मसम्मुख होना आसान नहीं है; तथापि यदि उसको भी विवेकरूपी ढालवाले मार्ग से निज विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाय तो वह भी आत्मानुभव करने में समर्थ हो सकता है। तात्पर्य यह है कि आत्मानुभव की विधि ही यह है कि हम अपने उपयोग को पुरुषार्थपूर्वक स्वस्वभाव की ओर मोड़ें आत्मसन्मुख करें।

१४४ वीं गाथा की टीका में भी यही कहा था कि पाँच इन्द्रियों और मन के माध्यम से विषय-कषाय में उलझे मतिज्ञान को उनसे हटाकर बलपूर्वक आत्मसन्मुख करे और नाना नयों के विकल्पों में उलझे श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करे, तब ही आत्मानुभव होता है। उसी बात को इस कलश में कह रहे हैं कि अपने उपयोग को बलपूर्वक आत्मसन्मुख करो; क्योंकि आत्मानुभव करने की यही रीति है, यही विधान है, यही उपाय है।

यह पुरुषार्थ की प्रेरणा देने वाला कलश काव्य है। यह पुरुषार्थ भी अन्य कुछ भी नहीं; मात्र परसन्मुख अपने उपयोग को बलपूर्वक आत्मसन्मुख करना ही है।

इस कलश के भाव को नाटक समयसार में इसप्रकार व्यक्त किया गया है।

(सवैया इकतीसा)

जैसै एक जल नानारूप-दरबानुजोग,
भयौ बहु भाँति पहिचान्यौं न परतु है ।
फिरि काल पाइ दरबानुजोग दूरि होत,
अपनै सहज नीचे मारग ढरतु है ।
तैसै यह चेतन पदारथ विभाव तासौं,
गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है ।
सम्यक् सुभाई पाइ अनुभौ के पंथ धाइ,
बंधकी जुगति भानि मुकति करतु है ॥

जिसप्रकार पानी अनेक वस्तुओं के संयोग से अनेकरूप हो जाता है और पहिचानने में नहीं आता, फिर समय आने पर जब संयोग दूर हो जाते हैं, तब अपने स्वभाव में आकर नीचे की ओर बहने लगता है; उसीप्रकार यह चेतन आत्मा विभाव अवस्था में गति, योनि, भेषरूप संसार के भंवरों में भ्रमता रहता है, फिर अवसर आने पर निज सम्यक्स्वभाव को प्राप्त कर, अनुभव के पथ पर लगकर, बंध को नष्ट कर मुक्ति को प्राप्त करता है।

प्रश्न - संस्कृत छन्द का जो भाव ऊपर बताया गया है, उसमें और नाटक समयसार के छन्द के भाव में एकरूपता दिखाई नहीं देती; क्योंकि संस्कृत के छन्द में तो यह कहा है कि पानी अपने समूह से च्युत होकर नीचे की ओर वहता है, किन्तु जब उसे बलपूर्वक ढालवाले मार्ग से मोड़ दिया जाता है, तब वह उसी में आ मिलता है; और यहाँ यह कहा जा रहा है कि वस्तुओं के संयोग से पानी अनेकरूप हो जाता है और संयोग दूर होने पर स्वभाव में आकर नीचे की ओर बहने लगता है।

पानी के दृष्टान्त में जो अन्तर है, वैसा ही अन्तर सिद्धान्त में भी दिखाई देता है। इसका कारण क्या है ?

उत्तर - यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि बनारसीदासजी नाटक समयसार में सर्वत्र कलश टीका का अनुसरण करते हैं। लगता है यहाँ

भी ऐसा ही हुआ है; क्योंकि कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी इस छन्द (कलश) का भाव इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"जिसप्रकार पानी का शीत, स्वच्छ और द्रवत्व स्वभाव है; उस स्वभाव से वह कभी च्युत होता है, अपने स्वभाव को छोड़ता है; उसीप्रकार जीवद्रव्य का स्वभाव केवलज्ञान, केवलदर्शन, अतीन्द्रिय सुख इत्यादि अनन्त गुणस्वरूप है और वह उससे अनादिकाल से भ्रष्ट हुआ है, विभावरूप परिणमा है।

जिसप्रकार पानी अपने स्वाद से भ्रष्ट हुआ नाना वृक्षरूप परिणमता है; उसीप्रकार जीवद्रव्य अपने शुद्धस्वरूप से भ्रष्ट हुआ नानाप्रकार चतुर्गति पर्यायरूप अपने को आस्वादता है।

जिसप्रकार पानी अपने स्वरूप से भ्रष्ट होता है और काल का निमित्त पाकर पुनः जलरूप होता है, नीचे के मार्ग से ढलकता हुआ पुंजरूप भी होता है; उसीप्रकार जीवद्रव्य अनादि से स्वरूप से भ्रष्ट है। शुद्धस्वरूप लक्षण सम्यक्त्व गुण के प्रगट होने पर मुक्त होता है। – ऐसा द्रव्य का परिणाम है।"

नाटक समयसार का छन्द उक्त भाव का ही अनुसरण कर रहा है।

निजौघ से च्युत पानी का ढालवाले मार्ग से दुबारा उसी समूह में आ मिलना सहजभाव से सबको स्वीकृत नहीं होता। लोगों को ऐसा लगता है कि ऐसा कैसे हो सकता है; क्योंकि पानी का स्वभाव तो नीचे को बहना ही है। तथा पानी का स्वभाव ही जब नीचे बहना है तो फिर पानी का निजौघ से च्युत होकर नीचे बहना विभाव कैसे माना जा सकता है? इसप्रकार के चिन्तन से संगति बिठाने के लिए यह कहा गया है कि जब जल निजौघ से च्युत होता है तो वह ऐड़े-तेड़े, ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भटक जाता है, नानाप्रकार की पृथ्वी और नानाप्रकार की वनस्पतियों में विलीन-सा ही हो जाता है; किन्तु उसी जल को जब ढालवाला नीचा मार्ग मिल जाता है तो वह स्वाभाविकरूप से शान्त होकर सहजभाव से बहने लगता है। इसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अन्तर्मुख सहज स्वाभाविक परिणाम से च्युत होकर भटक जाता है, नानाप्रकार के ज्ञेयों में उलझकर रह जाता है, विभावभावरूप

भी तो सहजभाव से नीचे की ओर ही बह रहा है। जिसस्थान पर पानी अपने समूह से च्युत हुआ है, भले ही उसे उसी स्थान पर न मिलाया जा सके; परन्तु उसी जलधारा में आगे अवश्य मिलाया जा सकता है।

हरिद्वार में गंगानदी की एक जलधारा को नहर का रूप देकर गंगा से पृथक् किया गया और उसी जलधारा (नहर) को लगभग पाँच सौ किलोमीटर अलग चलाकर कानपुर के आस-पास उसी गंगा नदी में ही मिला दिया गया।

अत: स्वामीजी ने जो जलसमूह का अर्थ नदी किया है; वह तर्कसंगत है एवं उनके लौकिक अनुभव को भी सिद्ध करता है।

अरे भाई! नदी का जो पानी अपनी मूलधारा से अलग हो जायगा, बिछुड़ जायगा; उसकी दुर्दशा ही होनेवाली है, उसका विनाश सुनिश्चित ही है; वह पानी अब पानी के रूप में नहीं रह पावेगा; या तो मिट्टी में मिलकर कीचड़ हो जावेगा या फिर किसी वृक्ष द्वारा सोख लिया जायगा। यदि वह जल अपनी सुरक्षा चाहता है तो अब उसे जैसे भी बने नदी की मूलधारा की ओर ही लौटना होगा; उसकी सुरक्षा का अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसीप्रकार जिस आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र त्रिकालीध्रुव निज शुद्धात्मा से च्युत होकर परपदार्थों में समर्पित हैं; उनकी दुर्दशा सुनिश्चित ही है। ऐसे जीव ही चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटक रहे हैं और तबतक भटकते रहेंगे, जबतक कि वे पर से परान्मुख होकर निज भगवान आत्मा के प्रति समर्पित नहीं होते।

तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा के श्रद्धागुण ने अपने त्रिकालीध्रुव आत्मा में अपनापन न रखकर अपने आत्मा से भिन्न परपदार्थों और अपने ही आत्मा में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादिभावों में अपनापन रखा; तथा जिस आत्मा के ज्ञानगुण ने अपने आत्मा को निजरूप न जानकर परपदार्थों और रागादि को निजरूप जाना; इसीप्रकार जिस आत्मा के चारित्रगुण ने निज आत्मा में लीनता न करके, स्थिरता न रखकर; परपदार्थों और रागादिभावों में लीनता की, स्थिरता की; वह आत्मा चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटक-भटक कर अनन्त दु:ख उठाता है।

जो आत्मा आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा अपने श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रगुण को आत्मसम्मुख करते हैं अर्थात् ऐसा श्रद्धान करते हैं कि मैं तो त्रिकालीध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ; ऐसा ही जानते हैं और इसी आत्मा में उपयोग स्थिर कर लीन हो जाते हैं; वे सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को प्राप्तकर अनन्त सुखी हो जाते हैं।

अतः प्रत्येक आत्मार्थी भाई-बहिन का कर्त्तव्य है कि वे अपने श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र को पुरुषार्थपूर्वक निज आत्मा की ओर मोड़ें; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

इसप्रकार इस कलश में इन्द्रियों के माध्यम से विषय-विकार में फंसे और नयों के विकल्पजाल में उलझे आत्मा को निजस्वभाव से भ्रष्ट बताकर, अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा निज शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है।

इसप्रकार ९३ एवं ९४ इन दो कलशों में नयपक्षातीत भगवान आत्मा के प्रकरण का समापन करके अब आगामी ५ कलशों में सम्पूर्ण कर्त्ताकर्म अधिकार का समापन करते हैं।

(अनुष्टुप्).

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥ ९५॥

(रोला)

है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे ।
जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे ॥
नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे ।
इस विधि कर्ताकर्मभाव का नाश न होवे ॥ ९५॥

विकल्प करनेवाला कर्त्ता है और वह विकल्प ही उसका कर्म है। इसप्रकार सविकल्पपुरुषों की कर्त्ताकर्मप्रवृत्ति कभी नष्ट नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जबतक विकल्पभाव हैं, तबतक कर्त्ताकर्मभाव है और जब विकल्पों का अभाव हो जाता है, तब कर्त्ताकर्मभाव का भी अभाव हो जाता है।

यहाँ मोह-राग-द्वेषमय विकल्पों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्थापित करनेवाले अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को सविकल्प कहा गया है। ऐसे सविकल्प अज्ञानी के कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का नाश कभी नहीं होता। यही बताया गया है इस छन्द में।

कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी की दृष्टि में भी कर्मजनित रागादिभावों में अपनापन मानने वाला मिथ्यादृष्टि ही सविकल्प है और इसप्रकार के सविकल्प (मिथ्यादृष्टि) के कर्त्ताकर्मभाव कभी भी नष्ट नहीं होता। इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं –

"कोई ऐसा मानेगा कि जीवद्रव्य सदा ही अकर्त्ता है, तो उसके प्रति ऐसा समाधान है कि जितने काल तक जीव का सम्यक्त्व गुण प्रगट नहीं होता, उतने काल तक जीव मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि हो तो अशुद्ध परिणाम का कर्त्ता होता है। सो जब सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है, तब अशुद्ध परिणाम मिटता है और तब अशुद्ध परिणाम का कर्त्ता नहीं होता है।"

कलशटीकाकार के उक्त कथन में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि परद्रव्य और रागादिभावों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व भावों को ही यहाँ अशुद्धभाव कहा गया है। ये अशुद्धभाव मिथ्यादृष्टि के हैं; अत: वह इनका कर्त्ता है और सम्यग्दृष्टि के ये भाव नहीं हैं; अत: वह इनका कर्त्ता नहीं है।

जब कर्तृत्वादि के भाव सम्यग्दृष्टि के हैं ही नहीं, तो वह उनका कर्त्ता किसप्रकार हो सकता है? तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व संबंधी रागादि हैं और वह उनका कर्त्ता है और सम्यग्दृष्टि के वे मिथ्यात्व संबंधी रागादि हैं ही नहीं; अत: वह उनका कर्त्ता भी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि के जो चारित्रमोह संबंधी रागादिभाव अभी विद्यमान हैं; उनकी बात यहाँ नहीं की जा रही है। यहाँ तो रागादिभावों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वभावरूप रागादिभावों की बात है।

इसी स्पष्टीकरण को ध्यान में रखते हुए कविवर पंडित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(दोहा)

निसि दिन मिथ्याभाव बहु, धरै मिथ्याती जीव ।
तातैं भावित करमकौ, करता कह्यो सदीव ॥

मिथ्यादृष्टि (सविकल्प) जीव दिन-रात मिथ्याभावों को धारण किए रहता है, किया करता है, इस कारण भावकर्मों का कर्त्ता कहा गया है।

यहाँ बनारसीदासजी ने सविकल्प का अर्थ सीधा मिथ्यादृष्टि ही ले लिया है। तात्पर्य यह है कि यहाँ चारित्रमोह संबंधी विकल्पों को विकल्प की श्रेणी में नहीं रखा है।

'सविकल्प' शब्द का अर्थ स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"जो जीव विकल्प सहित है, उसका कर्ता-कर्मपना कभी नष्ट नहीं होता। अर्थात् जो ऐसे विकल्प सहित है कि – 'विकल्प मेरा है, मैं विकल्प का कर्ता हूँ और विकल्प मेरा कर्म है' – उसकी कर्ता-कर्मपने की वृत्ति चलती ही रहती है, उसको कभी भी निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।[१]"

स्वामीजी के उक्त कथन से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ विकल्प का अर्थ मात्र विकल्प का उठना ही नहीं है, अपितु विकल्प में ममत्वबुद्धि एवं कर्तृत्वबुद्धि का नाम विकल्प है, मिथ्यात्व संबंधी विकल्प का नाम विकल्प है। चारित्रमोह संबंधी विकल्प यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ पर में और विकल्पों में एकत्व-ममत्व करनेवाले एवं विकल्पों का कर्त्ता स्वयं को माननेवाले को ही सविकल्पक कहा गया है।

अब आगामी कलश में भी इसी बात को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं हो सकता और जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं हो सकता।

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥ ९६ ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३८१

(रोला)

जो करता है वह केवल कर्ता ही होवे ।
जो जाने बस वह केवल ज्ञाता ही होवे ॥
जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई ।
जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई ॥ ९६॥

जो करता है, वह मात्र करता ही है और जो जानता है, वह मात्र जानता ही है। जो करता है, वह कभी जानता नहीं और जो जानता है, वह कभी करता नहीं। तात्पर्य यह है कि जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं है।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी लिखते हैं -

"भावार्थ इसप्रकार है कि सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणाम परस्पर विरुद्ध हैं। जिसप्रकार सूर्य का प्रकाश होने पर अन्धकार नहीं होता और अंधकार होने पर प्रकाश नहीं होता; उसीप्रकार सम्यक्त्व के परिणाम होने पर मिथ्यात्व परिणमन नहीं होता है। इसकारण एक काल में एक परिणामस्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है; अत: उस परिणाम का कर्त्ता होता है। इसकारण मिथ्यादृष्टि जीव कर्म का कर्त्ता और सम्यग्दृष्टि जीव कर्म का अकर्त्ता - ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ।"

कलशटीका के इस कथन में ज्ञातृत्वभाव को सम्यक्त्व और कर्तृत्वभाव को मिथ्यात्व शब्द से अभिहित किया है; तथा उन दोनों को परस्पर विरोधी परिणाम बताया है।

इसी भाव को बनारसीदासजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

(चौपाई)

करै करम सोई करतारा, जो जाने सौ जाननहारा ।
जो करता नहिं जाने सोई, जाने सो करता नहीं होई ॥

जो कर्म करे, वह कर्त्ता है और जो जाने सो ज्ञाता है। जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं होता और जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी आत्मा परपदार्थों और पर्याय में विद्यमान रागादिभावों का सहज ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है, कर्त्ता-भोक्ता नहीं बनता। इसीकारण उसे मिथ्यात्वादि संबंधी बंध नहीं होता।

इस संबंध में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"अज्ञानी अपनी मिथ्या मान्यता से ऐसा मानता है कि राग मेरा कार्य है; अतः वह राग का कर्त्ता ही है तथा ज्ञानी अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति द्वारा राग को व स्वयं को मात्र जानता ही है, अतः ज्ञाता ही है। कथंचित् जानता है और कथंचित् करता है - ऐसा नहीं है; क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व ये दो एक साथ नहीं रह सकते।[१]"

इसी बात का स्पष्टीकरण आगामी कलश में भी करते हैं, जो इसप्रकार है -

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः,
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने,
ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ९७॥

(रोला)

करने रूप क्रिया में जानना भासित न हो ।
जानन रूप क्रिया में करना भासित न हो ॥
इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न हैं ।
इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं ॥ ९७॥

करने रूप क्रिया के भीतर जानने रूप क्रिया भासित नहीं होती और जानने रूप क्रिया के भीतर करने रूप क्रिया भासित नहीं होती। इसलिए ज्ञप्ति क्रिया और करोति क्रिया दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं।

पाण्डे राजमलजी ज्ञप्ति क्रिया का अर्थ ज्ञानगुण और करोति क्रिया का अर्थ मिथ्यात्व रागादिरूप चिक्कणता करते हैं। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३८३

लिखते हैं कि **ज्ञप्ति** माने ज्ञानगुण और **करोतौ** माने मिथ्यात्व रागादिरूप चिक्कणता; इनमें **न हि भासते** माने एकपना नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव के ज्ञानगुण भी है और रागादि चिक्कणता भी है। कर्मबंध रागादि चिक्कणता से होता है, ज्ञानगुण के परिणमन से नहीं - ऐसा वस्तुस्वरूप है। ज्ञानगुण और अशुद्धपना मिले हुए दिखते हैं, पर हैं भिन्न-भिन्न। इसकारण से ऐसा सिद्धान्त निष्पन्न हुआ कि सम्यग्दृष्टि पुरुष रागादि अशुद्ध परिणाम का कर्त्ता नहीं होता। भावार्थ इसप्रकार है कि द्रव्य के स्वभाव से ज्ञानगुण कर्त्ता नहीं है, अशुद्धपना कर्त्ता है। सो सम्यग्दृष्टि के अशुद्धपना नहीं है; इसलिए कर्त्ता नहीं है।"

उक्त टीका को आधार बनाकर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं -

(सोरठा)

ग्यान मिथ्यात न एक, नहिं रागादिक ग्यान महि ।
ग्यान करम अतिरेक, ग्याता सो करता नहीं ॥

ज्ञान और मिथ्यात्व एक नहीं हैं, ज्ञान में रागादिक नहीं होते तथा ज्ञान और कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं, इसकारण ज्ञाता कर्त्ता नहीं है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति स्वयं में ही उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्त्ता बनता है, उन्हें अपना जानता-मानता है, उसके कर्त्तृत्वबुद्धिरूप और स्वामित्वबुद्धि (ममत्वबुद्धि) रूप मिथ्यात्व होता है, अनन्तानुबंधी संबंधी राग-द्वेष होते हैं और वह उनका कर्त्ता होता है तथा वे उसके कर्म होते हैं। इसप्रकार अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) रागादिभावों का कर्त्ता होता है और वे रागादिभाव उसके कर्म होते हैं। पर का कर्त्ता-भोक्ता तो ज्ञानी-अज्ञानी कोई भी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के जो रागादिभाव (अप्रत्याख्यानादि संबंधी) पाये जाते हैं, वह उनका कर्त्ता नहीं बनता, उन्हें अपना नहीं मानता; इसकारण उसे उनमें कर्त्तृत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि रूप अज्ञान नहीं है, मिथ्यात्व नहीं है, अनन्तानुबंधी राग नहीं है; इसकारण वह उनका कर्त्ता भी नहीं है और

इसीकारण उसे तत्संबंधी बंध भी नहीं होता। उसके जो अप्रत्याख्यानादि संबंधी रागादि विद्यमान हैं और तत्संबंधी जो बंध होता है, वे रागादिभाव व वह बंध अनंतसंसार का कारण न होने से यहाँ उन्हें बंध ही नहीं माना गया है। जहाँ चारित्रमोह संबंधी बंध की चर्चा होती है, वहाँ उन्हें भी बंध का कारण कहा जाता है और कर्त्तानय से आत्मा को उनका कर्त्ता भी कहा जाता है। वह ज्ञानी-अज्ञानी दोनों पर ही समानरूप से घटित होता है।

इसकी चर्चा भावार्थ में पं. जयचंदजी छाबड़ा ने की है; जो इसप्रकार हैं -

"जब आत्मा इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को करता हूँ' तब तो वह कर्त्ताभावरूप परिणमनक्रिया के करने से अर्थात् 'करोति' क्रिया के करने से कर्त्ता ही है और जब वह इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' तब ज्ञाताभावरूप परिणमन करने से अर्थात् 'ज्ञप्ति' क्रिया के करने से ज्ञाता ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि अविरत-सम्यग्दृष्टि आदि को जबतक चारित्रमोह का उदय रहता है, तबतक वह कषायरूप परिणमन करता है; इसलिये वह उसका कर्त्ता कहलाता है या नहीं ?

उसका समाधान - अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के श्रद्धा व ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है। जो कषायरूप परिणमन है, वह उदय की बलवत्ता के कारण है; वह उसका ज्ञाता है; इसलिए उसके अज्ञान संबंधी कर्तृत्व नहीं है। निमित्त की बलवत्ता से होनेवाले परिणमन का फल किंचित् होता है, वह संसार का कारण नहीं है। जैसे वृक्ष की जड़ काट देने के बाद वह वृक्ष कुछ समय तक रहे अथवा न रहे - प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है, इसीप्रकार यहाँ भी समझना।"

उक्त संदर्भ में स्वामीजी ने बहुत विस्तार से स्पष्टीकरण किया, जो अत्यन्त उपयोगी है। उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है -

"जो जीव राग के परिणामरूप क्रिया को करता है अर्थात् 'यह शुभराग की क्रिया मेरी है, मैं शुभराग की क्रिया करता हूँ' - ऐसा जो मानता है, उसे

अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव भासित नहीं होता, अर्थात् वह ज्ञाता-दृष्टाभाव से रहनेरूप क्रिया को नहीं कर सकता, ज्ञाता-दृष्टा नहीं रह सकता।

देखो, यहाँ जड़ की क्रिया करने की बात नहीं है। आत्मा पुद्गल का कर्त्ता नहीं है - यह बात बाद में करेंगे। यहाँ तो अभी आत्मा और आत्मा की अशुद्धता के बीच की बात है। आचार्य कहते हैं कि जिसे ऐसा भासित होता है कि मैं राग की क्रिया करता हूँ, उसे अपनी जाननक्रिया भासित नहीं होती।

जगत के लौकिक जन दया-दान-व्रत आदि बाह्य क्रियायें करके उन्हें धर्म का साधन मानते हैं; परन्तु भाई ! यह मान्यता यथार्थ नहीं है। राग की क्रिया के कर्त्तृत्व में आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप परिणमन नहीं होता। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का संवेदन होकर जो जाननेरूप क्रिया होती है, उसे ज्ञान की क्रिया कहते हैं। ज्ञानरूप, श्रद्धानरूप, वीतरागी शान्तिरूप तथा आनन्दरूप से जो आत्मा का परिणमन होता है, वह ज्ञान की क्रिया है। ऐसी ज्ञान की क्रिया के काल में ज्ञानी को राग के कर्त्तृत्वरूप अज्ञान की क्रिया नहीं होती और होती नहीं है, इसलिए भासती नहीं है।

प्रश्न - तो क्या ज्ञानी को राग होता ही नहीं है ?

उत्तर - नहीं, भाई ! ऐसी बात नहीं है। ज्ञानी को राग तो होता है; परन्तु 'राग की क्रिया मेरी है' - ऐसा उसे भासित नहीं होता, अर्थात् उसे राग की क्रिया का स्वामित्व नहीं है, वह उस क्रिया को अपनी क्रिया नहीं मानता। यह चौथे गुणस्थान की बात है। पुरुषार्थ की हीनता के कारण अल्पराग की रचना होती है; परन्तु 'वह क्रिया मेरी, मैं उसका कर्त्ता हूँ' - ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानता है। ज्ञानी के ज्ञान की रचना होती है - उस ज्ञान की रचना में उसे राग की रचना भासित नहीं होती। तात्पर्य यह है कि धर्मी को राग तो होता है; परन्तु वह उस राग का स्वामी नहीं बनता।

आत्मा में एक स्व-स्वामित्व नामक शक्ति है। ज्ञानी के द्रव्य, गुण एवं शुद्ध पर्याय 'स्व' हैं तथा ज्ञानी उनका स्वामी है, ज्ञानी अशुद्धता का स्वामी नहीं है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३८६-३८७

धर्मी को जब जो राग की क्रिया होती है, उसकाल में उसे उसका ज्ञान भी होता है; क्योंकि ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है कि जैसा वहाँ पर्याय में राग-द्वेष, विषय-वासना आदि भाव उत्पन्न होता है, उसका ज्ञान भी यहाँ स्वत: उत्पन्न होता है। राग के कारण राग का ज्ञान हुआ हो – ऐसा नहीं है, बल्कि ज्ञान के स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण ही ज्ञानी को स्व-परप्रकाशक परिणति प्रगट होती है; इसीलिए कहा है कि ज्ञानी की क्रिया में अशुद्धता की क्रिया भासित नहीं होती, अर्थात् ज्ञप्ति क्रिया में करोति क्रिया नहीं होती।

'करोति' क्रिया अर्थात् आत्मा का अशुद्धपना, मिथ्यात्व रागादिरूप क्रिया और 'ज्ञप्ति' क्रिया अर्थात् ज्ञानी की ज्ञाताभाव से रहनेरूप क्रिया – दोनों क्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। अज्ञानी के रागादिरूप अशुद्ध क्रिया है, उसके केवल ज्ञाता-दृष्टा रहनेरूप ज्ञान की क्रिया नहीं है और ज्ञानी के ज्ञातारूप ज्ञान क्रिया है, रागादिरूप अशुद्ध क्रिया नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं है; जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं है। सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव अपने शाश्वत ध्रुव ज्ञातास्वभाव का ज्ञायक है। शुद्ध चैतन्य की दृष्टि में वह वर्तमान अशुद्ध कृत्रिम रागरूप अशुद्ध क्रिया का स्वामी नहीं है, इसकारण वे दोनों क्रियायें एक साथ नहीं होतीं; दोनों क्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं।

चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञानी के अशुद्ध रागादि क्रिया होते हुए भी ज्ञानी उसका स्वामी नहीं है; अत: वह केवल ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं। ११०वें कलश में आया है कि ज्ञानधारा ज्ञानभाव से प्रवाहित होती है और रागधारा (कर्मधारा) रागरूप प्रवाहित होती है। दोनों साथ हैं; परन्तु दोनों एकमेक नहीं हैं – ऐसा वहाँ सिद्ध किया है। ज्ञानधारा धर्म है, संवर-निर्जरा का कारण है और रागधारा कर्मधारा है और वह बंध का कारण है।

परन्तु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि ज्ञानी के अकेली ज्ञानधारा है; क्योंकि राग होते हुए भी वह उसका कर्त्ता नहीं है। जिससमय रागादिभाव होता है, उसीसमय तत्संबंधी स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से उत्पन्न हो जाता है। काल एक है; तथापि दोनों का भाव भिन्न-भिन्न है। राग का ज्ञान राग की उपस्थिति

के कारण नहीं हुआ है, बल्कि राग के काल में ही स्व-पर को जानने की ज्ञानक्रिया स्वतः अपने निजरस से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान में राग निमित्त है – यह तो कहा; परन्तु राग में ज्ञान का निमित्तपना नहीं कहा।[१]

ज्ञाता के ज्ञानरूप परिणमन के समय रागादिभाव भी होते हैं। चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषायजन्य राग होता है, पाँचवें गुणस्थान में भी प्रत्याख्यान कषायजन्य एवं छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषायजन्य राग होता है; परन्तु ज्ञानी के ज्ञानरूप परिणमन में वह कषायजन्य राग जब ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है, तब उस राग को निमित्त कहा जाता है। ज्ञानी राग में तन्मय नहीं होता और राग ज्ञान में तन्मय नहीं है। ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं है और राग ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय का कर्त्ता नहीं है। ऐसा ही वस्तु का सहज स्वरूप है।

सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार में भी आया है कि केवलज्ञान पर्याय में लोकालोक ज्ञेयरूप निमित्त है और लोकालोक को ज्ञेय बनने में केवलज्ञान ज्ञातारूप निमित्त है। यहाँ निमित्त का क्या अर्थ है? क्या लोकालोक के अस्तित्व से लोकालोक का ज्ञान हुआ है?

नहीं, ऐसा नहीं होता। लोकालोक का ज्ञान अपनी (ज्ञाता की) ज्ञान पर्याय के स्वकाल में अपनी उपादान की योग्यता से स्वतः होता है और उसमें लोकालोक केवल निमित्त होता है।

तथा 'लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है' – ऐसा जो कहा, उसका भी यही अभिप्राय है कि केवलज्ञान में लोकालोक झलका; इसलिए लोकालोक का अस्तित्व नहीं है; क्योंकि लोकालोक तो अनादि से है और केवलज्ञान तो नया उत्पन्न हुआ है; अतः केवलज्ञान लोकालोक के अस्तित्व का निमित्त कैसे हो सकता है ? भाई ! यहाँ निमित्त का अर्थ यह है कि केवलज्ञान व लोकालोक परस्पर एक-दूसरे का कुछ भी किये बिना मात्र ज्ञाता-ज्ञेय रूप से हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३८७-३८८

दूसरी वस्तु निमित्त होती है; परन्तु वह कुछ करती नहीं है, होने और करने में बहुत बड़ा अन्तर है।[1]

प्रश्न – चौथे, पाँचवें व छट्ठे गुणस्थानवालों के चारित्रमोह के उदय से राग-द्वेष हैं; फिर भी आप उन्हें ज्ञाता कहते हो ? वे घमासान युद्ध लड़ते हैं, धंधा -व्यापार करते हैं, शादी-ब्याह करते-कराते हैं, तो उनके राग-द्वेष तो हैं ही ? भरत और बाहुबली, दोनों क्षायिक सम्यग्दृष्टि और तद्भव मोक्षगामी थे, उन दोनों के बीच युद्ध हुआ, भरत ने ९६ हजार शादियाँ भी कीं, तो वे इन राग-द्वेष के परिणामों के कर्त्ता थे या नहीं? क्या उन्हें राग-द्वेष का कर्त्ता नहीं कहा जायेगा ?

उत्तर – नहीं कहा जायेगा; क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले जीवों के श्रद्धा-ज्ञान में परद्रव्य का स्वामित्वरूप से कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है। यद्यपि कषाय का परिणमन है; परन्तु वह उदय की बलजोरी से है, वे उसके ज्ञाता ही हैं, इसकारण अज्ञान सम्बन्धी कर्त्तापना उनको नहीं है।

प्रवचनसार में ४७ नयों के प्रकरण में कहा है कि ज्ञानी को जितना राग का परिणमन है, उसका वह स्वयं कर्त्ता है – ऐसा कर्तृनयसे जानता है; परन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो दृष्टिप्रधान बात है। दृष्टि की प्रधानता में निश्चय से ज्ञानी को राग का कर्त्तापना नहीं है। जिस अपेक्षा जो बात है, उसी अपेक्षा से उसे यथार्थ समझना चाहिए।[2]

प्रश्न – आपने कहा कि ज्ञानी का कषायरूप परिणमन उदय की बलजोरी से है, तो क्या ज्ञानी की रागरूप परिणति कर्म के कारण है ?

उत्तर – नहीं, भाई ! ऐसा नहीं है। बात यह है कि ज्ञानी को राग की रुचि नहीं है, उसका राग करने का अभिप्राय नहीं है। राग में उसका स्वामित्व नहीं है, तथापि राग होता है; क्योंकि वह भी समय-समय की पर्याय का स्व-कालरूप पर्यायधर्म है.तथा वह ज्ञानी जीव के पुरुषार्थ की हीनता का सूचक

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३८९
२. वही, पृष्ठ ३९०-३९१

है; परन्तु पर के कारण या कर्म की बलजोरी के कारण नहीं हुआ है। दृष्टि की प्रधानता से राग को पुद्गल का परिणाम कहते हैं और उसी को यहाँ उदय की बलजोरी से होता है - ऐसा कहा है।

ज्ञानी को भी अस्थिरता का परिणमन है। परिणमन की अपेक्षा से उसको इतना कर्त्तापना भी है। प्रवचनसार में ४७ नयों के अधिकार में यह बात कही भी है। अस्थिरता के परिणाम का ज्ञानी कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है; परन्तु दृष्टि की अपेक्षा से उसको शुद्धतारूप ही परिणमन है - ऐसा कहा जाता है; क्योंकि अशुद्धता के परिणाम की उसको रुचि नहीं है। ज्ञानी जानता है कि अपनी कमजोरी से राग परिणाम होता है और राग को भोगता भी है, पर वह उस राग परिणाम को करने लायक (कर्तव्य) और भोगने योग्य नहीं मानता, उनमें उपादेय बुद्धि नहीं होती।

ज्ञानी को निमित्त की बलजोरी अर्थात् पुरुषार्थ की कमी के कारण रागरूप परिणमन होने पर भी किंचित् फल होता है, कर्म की तीव्र स्थिति व अनुभाग नहीं पड़ता, अल्पस्थिति व अनुभाग पड़ता है और वह अल्पबन्ध संसार का कारण नहीं होता।

यदि कोई ऐसा मानता हो कि ज्ञानी के राग या दुःख है ही नहीं, तो यह मान्यता सही नहीं है। द्रव्यदृष्टिप्रकाश में निहालभाई ने जो यह कहा है कि ज्ञानी को शुभराग धधकती भट्टी जैसा लगता है, वह बात बिल्कुल सही है। चौथे, पाँचवें व छट्ठे गुणस्थान में ज्ञानी को जितना राग है, वह दुःखरूपभाव है, दुःख के वेदनरूप है। यद्यपि अन्तर आत्मा में अकषायरूप आनन्द का प्रचुर वेदन है; परन्तु साथ में जितना राग है, उतना दुःख का वेदन भी है - ऐसा ज्ञान यथार्थ जानता है।

केवली भगवान को केवल परिपूर्ण ज्ञान का ही वेदन है और मिथ्यादृष्टि को केवल दुःख का ही वेदन है तथा समकिती को प्रचुर आनन्द एवं साथ में किञ्चित् दुःख का भी वेदन है; तथापि दृष्टि व दृष्टि के विषय की अपेक्षा

से ज्ञानी को राग नहीं है – ऐसा कहा जाता है। अत: जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे वैसा ही समझना चाहिए।[१]"

इसप्रकार ९५, ९६ एवं ९७ – इन तीन कलशों में यही कहा गया है कि रागादि विकारीभावों में कर्तृत्वबुद्धि होने के कारण मिथ्यादृष्टि जीवों को उनका कर्त्ता कहा गया है; किन्तु रागादिभावों में कर्तृत्वबुद्धि नहीं होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव उन रागादिभावों के कर्त्ता नहीं बनते, सहज ज्ञाता-दृष्टाभाव से परिणमित होते हैं। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव तो रागादिभावों के कर्त्ता-धर्त्ता होते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव सहज ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं। यही कारण है कि मिथ्यादृष्टियों को अनंत संसार के कारणभूत मिथ्यात्वादि कर्मों का बंध होता है और सम्यग्दृष्टियों को उन कर्मों का बंध नहीं होता।

अब आगामी कलश में आचार्यदेव आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जब वस्तुस्थिति इतनी स्पष्ट है; फिर भी न जाने यह मोह क्यों नाचता है?

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि ।
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति -
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथात्येष किम् ॥ ९८॥

(हरिगीत)

कर्म में कर्ता नहीं अर कर्म कर्ता में नहीं ।
इसलिए कर्ताकर्म की थिति भी कभी बनती नहीं ॥
कर्म में है कर्म ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा ।
साफ है यह बात फिर भी मोह है क्यों नाचता ? ॥ ९८॥

निश्चयनय से न तो कर्त्ता कर्म में है और न कर्म कर्त्ता में ही है। यदि इसप्रकार परस्पर दोनों का निषेध किया जाय तो फिर कर्त्ताकर्म की क्या स्थिति होगी ? अर्थात् जीव और पुद्गल के कर्त्ताकर्मपना कदापि नहीं हो सकेगा।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-४, पृष्ठ ३९१-३९२

इसप्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है। यद्यपि वस्तु की ऐसी स्थिति एकदम प्रगट है; तथापि अरे! यह मोह नेपथ्य में अत्यन्त वेगपूर्वक क्यों नाच रहा है ? – यह आश्चर्य और खेद की बात है।

पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में यहाँ 'कर्त्ता' शब्द का अर्थ रागादि अशुद्धपरिणाम परिणत अज्ञानी जीव लिया है और 'कर्म' का अर्थ ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत पुद्गलपिण्ड लिया है। इसप्रकार उन्होंने 'कर्त्ता कर्म में नहीं है और कर्म कर्त्ता में नहीं है' का अर्थ यह किया है कि इन दोनों में एकपना नहीं है। इसी के आधार पर वे यह निष्कर्ष निकालते है कि जब अज्ञानी जीव और ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल कर्म - दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं तो फिर उनमें परस्पर कर्त्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? इसलिए यह वस्तुस्थिति अत्यन्त स्पष्ट ही है कि ज्ञाता ज्ञाता में है और ज्ञानावरणादि कर्म कर्म में है, फिर न जाने अज्ञानी जीवों की मान्यता में यह मोह क्यों नाचता है ? यह बड़े अचम्भे की बात है, इसपर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए।

कविवर पंडित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(छप्पय)

करम पिंड अरु रागभाव मिलि एक हौंहि नहि ।
दोऊ भिन्नसरूप बसहिं दोऊ न जीव महि ।।
करमपिंड पुग्गल विभाव रागादि मूढ़ भ्रम ।
अलख एक पुग्गल अनंत किमि धरहि प्रकृति सम ।।

निज निज विलास जुत जगत महि जथा सहज परिणमहि तिम ।
करतार जीव जड़ करमकौ मोह विकल जन कहहि इम ।।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का पिण्ड और रागादिभावकर्म – ये दो मिलकर एक नहीं होते, भिन्न-भिन्न ही हैं और भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। ये दोनों ही जीव में नहीं हैं, जीव से भिन्न हैं। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म पुद्गलपिंड है और रागादिभावकर्म जीव के विभाव हैं। आत्मा एक है और पुद्गल अनंत है – दोनों की प्रकृति एक सी कैसे हो सकती है ?

इस जगत में सभी पदार्थ अपने-अपने में विलसित हो रहे हैं,यथायोग्य सहजभाव से परिणमित हो रहे हैं, फिर भी मोह की मार से विकल लोग ऐसा कहते हैं कि जीव जड़कर्मों का कर्त्ता है। तात्पर्य यह है कि जीव को जड़कर्मों का कर्त्ता कहना मोह में नाचना है।

यद्यपि कलशटीका और नाटक समयसार के कथनों में थोड़ा-बहुत अन्तर दिखाई देता है; तथापि दोनों का निष्कर्ष एक ही है और वह यह कि ज्ञानावरणादि जड़कर्मों का कर्त्ता तो अज्ञानी जीव भी नहीं है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इस छन्द का निष्कर्ष इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

"कर्म तो पुद्गल है, जीव को उसका कर्त्ता कहना असत्य है। उन दोनों में अत्यन्त भेद है, न तो जीव पुद्गल में है और न पुद्गल जीव में; तब फिर उनमें कर्त्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? इसलिये जीव तो ज्ञाता है, सो ज्ञाता ही है, वह पुद्गलकर्मों का कर्त्ता नहीं है और पुद्गलकर्म हैं, वे पुद्गल ही हैं; ज्ञाता का कर्म नहीं है। आचार्यदेव ने खेदपूर्वक कहा है कि इसप्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य हैं तथापि 'मैं कर्त्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' इसप्रकार अज्ञानी का यह मोह (अज्ञान) क्यों नाच रहा है ?"

इस कलश में भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जो रागादि विकल्प स्वत: स्व-समय में अपनी पर्यायगत योग्यता से होते हैं, उन्हें मैं करता हूँ - ऐसे कर्तृत्वरूप मिथ्यात्व भाव से परिणत हुआ जीव कर्त्ता कहा जाता है। वह कर्त्ता जीव भी जड़ कर्मों को नहीं करता तथा वे जड़-कर्म भी उस कर्त्ता के कर्म (कार्य) नहीं हो सकते; क्योंकि जड़कर्मों का कर्त्ता चेतन नहीं होता।

आत्मा अपने अशुद्ध परिणमन का कर्त्ता तो है; परन्तु जड़कर्मों का कर्त्ता नहीं है तथा जड़कर्म भी अपनी पर्याय के कर्त्ता हैं; परन्तु वे चेतन की पर्याय को नहीं करते - ऐसी स्थिति में दोनों के बीच कर्त्ता-कर्मपना कहाँ रहा ?

भाई ! शरीर, मन, वाणी की क्रिया का कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं है; क्योंकि परस्पर द्वन्द है, भिन्नता है। जहाँ भिन्नता है, वहाँ कर्त्ता-कर्म का क्या सम्बन्ध ?

आत्मा अज्ञानभाव से मिथ्यात्व के परिणामों को भी करे और जड़कर्म की पर्याय को भी करे - ऐसी वस्तुस्वरूप की मर्यादा ही नहीं है। इसीप्रकार जड़कर्म अपने जड़कर्म की पर्याय को भी करे और जीव के मिथ्यात्व को भी करे - ऐसी सामर्थ्य भी वस्तु में नहीं है। एक द्रव्य से दूसरा द्रव्य अत्यन्त भिन्न है और भिन्न-भिन्न दो द्रव्यों में कर्त्ता-कर्मपना नहीं होता।

लौकिकजन ऐसा मानते हैं कि जड़ का कार्य जीव कर सकता है, परन्तु उनका ऐसा मानना भ्रम है। तन-मन-वचन, धन-दौलत आदि सब पुद्गल हैं। आत्मा इन सबसे अत्यन्त भिन्न है, इसकारण जड़-पुद्गल की अवस्था का आत्मा कर्त्ता नहीं है। धन-दौलत कमाना, मकान बनाना आदि कार्य आत्मा के नहीं हैं। हाँ, अज्ञानी द्वारा राग-द्वेष व मिथ्यात्व आदि के जो अज्ञानभाव होते हैं, उन्हें अज्ञानी ने किये - ऐसा कहा जाता है।[१]

अब आचार्य कहते हैं कि ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है। जब पर के कर्तृत्व की बुद्धि छूट जाती है, तब मैं ज्ञायक हूँ - ऐसे ज्ञातापने की दृष्टि खिल जाती है।[२]

पहले यह सिद्ध किया कि जड़कर्म में आत्मा नहीं है और आत्मा के अशुद्ध परिणाम में जड़कर्म नहीं है। फिर बात बदलकर यह कहा कि भगवान आत्मा चिद्रूप है, ज्ञायकरूप है, आनन्दस्वरूप है, ईश्वर है, अपरिमित स्वभावरूप है। उसके स्वभाव की शक्ति बेहद अपरिमित है - ऐसा ज्ञाता सदा ज्ञातास्वभाव में ही रहता है। उसी में अन्तर्दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है, धर्म है।[३]

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में पर की किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं है, व्यवहार की भी अपेक्षा नहीं है। ऐसी वस्तु की मर्यादा प्रगट है; तथापि जीवन के नेपथ्य में यह मोह इतने वेग से क्यों नाच रहा है। आचार्यदेव को स्वयं इसका आश्चर्य है।[४]"

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३९३
२. वही, पृष्ठ ३९४
३. वही, पृष्ठ ३९५
४. वही, पृष्ठ ३९५-३९६

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि सम्पूर्ण कर्ताकर्माधिकार के मंथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि यद्यपि राग-द्वेष-मोहरूप भावकर्मों का कर्त्ता अज्ञानी आत्मा होता है; तथापि ज्ञानावरणादि जड़कर्मों और शरीरादि नोकर्मों का कर्त्ता तो ज्ञानी व अज्ञानी कोई भी जीव नहीं है। आगम में जहाँ भी आत्मा को जड़कर्मों और नोकर्मों का कर्त्ता कहा गया हो, वह सब असद्भूतव्यवहारनय का उपचरित कथन ही समझना चाहिए।

'वस्तु की स्थिति उक्त कथनानुसार अत्यन्त स्पष्ट होने पर भी अज्ञानियों के परकर्तृत्वसंबंधी मोह न जाने क्यों नाचता है?' – इसप्रकार का आश्चर्य इस ९८ में कलश व्यक्त किया गया है।

इसके बाद आचार्य अमृतचन्द्र इस कलश के उपसंहार और आगामी कलश की उत्थानिका के रूप में एक वाक्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

"अथवा नानट्यतां तथापि – अथवा मोह नाचता है तो नाचे, तो भी"

इसका भाव यह है कि मोह नाचता है तो भले ही नाचे; पर उससे वस्तु की स्थिति में तो कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं है; क्योंकि वस्तु स्थिति तो जो है सो है। ज्ञानज्योति के जलने पर सबकुछ सहज हो जाता है। 'ज्ञानज्योति के जलने पर क्या होता है' – इसका स्पष्टीकरण आगामी कलश में है।

इसप्रकार आगामी कलश में आचार्यदेव ज्ञानज्योति का स्मरण करते हुए कर्त्ताकर्म अधिकार का समापन करते हैं –

(मन्दाक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव ।
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै -
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥ ९९॥

(सवैया इकतीसा)

जगमग जगमग जली ज्ञानज्योति जब,
अति गंभीर चित् शक्तियों के भार से ।
अद्भुत अनूपम अचल अभेद ज्योति,
व्यक्त धीर-वीर निर्मल आर-पार से ॥

तब कर्म कर्म नहीं कर्ता कर्ता न रहा,
ज्ञान ज्ञानरूप हुआ आनन्द अपार से ।
और पुद्गलमयी कर्म कर्मरूप हुआ,
ज्ञानी पार हुए भवसागर अपार से ॥ ९९॥

अचल, व्यक्त और चित्शक्तियों के समूह के भार से अत्यन्त गंभीर यह ज्ञानज्योति अंतरंग में उग्रता से इसप्रकार जाज्वल्यमान हुई कि जो आत्मा अज्ञान अवस्था में कर्त्ता होता था, वह अब कर्त्ता नहीं होता और अज्ञान के निमित्त से जो कार्माणवर्गणारूप पुद्गल कर्मरूप होता था, अब वह कर्मरूप नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा पुद्गल पुद्गलद्रव्य ही रहता है।

'अचल, व्यक्त और चैतन्यशक्तियों के भार से अत्यन्त गंभीर अनन्तगुणात्मक चिन्मात्रज्योति जाज्वल्यमान हुई' – ऐसा कहकर यहाँ चिन्मात्रज्योति में द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों को शामिल कर लिया गया है।

इसप्रकार यहाँ द्रव्य-गुण-पर्यायमय ज्ञानज्योति का स्मरण किया गया है और यह कहा गया है कि जब यह ज्ञानज्योति उच्चता से, उग्रता से जाज्वल्यमान होती है, तब ज्ञान ज्ञानरूप हो जाता है, वह कर्त्ता नहीं बनता और पुद्गल पुद्गल रूप रह जाता है, वह कर्म नहीं बनता। इसप्रकार कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है।

इस कलश के भाव को भावार्थ में पंडित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जब आत्मा ज्ञानी होता है, तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है, पुद्गलकर्म का कर्त्ता नहीं होता और पुद्गल पुद्गल ही रहता है, कर्मरूप परिणमित नहीं होता। इसप्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर दोनों द्रव्यों के परिणमन में निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं होता। ऐसा ज्ञान सम्यक्दृष्टि के होता है।"

इसप्रकार इस कलश में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सम्यग्ज्ञानज्योति के उदय होने पर आत्मानुभूति होने पर, सम्यग्दर्शन हो जाने पर; परपदार्थ और

रागादिभावों में अपनापन नहीं रहता, स्वामित्व नहीं रहता; कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी नहीं रहता; सहज ज्ञाता-दृष्टाभाव प्रगट हो जाता है।

यह कर्त्ताकर्म-अधिकार का अन्तिम कलश है। अत: इसमें उस ज्ञानज्योति को पुन: स्मरण किया गया है, जिसका स्मरण प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में किया जाता रहा है। यह अधिकार के अंत का मंगलाचरण है। मंगलाचरण के बारे में कहा गया है कि - **'आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भासितं बुधै:**[१] - विद्वान लोगों ने कहा है कि मंगलाचरण कार्य या ग्रन्थ की आदि, मध्य और अन्त में किया जाना अभीष्ट है।' इसी कथन के अनुसार यह एक प्रकार से कर्त्ताकर्म अधिकार के समापन का मंगलाचरण है।

इस कलश में अचल, व्यक्त और चित्शक्तियों के भार अत्यन्त गंभीर ज्ञानज्योति के स्मरण के साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस ज्ञानज्योति के प्रकाश में अज्ञानजन्य कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो गया है, इसकारण अभी तक जो आत्मा रागादि भावों का कर्त्ता बनता था, अब वह कर्त्ता नहीं रहा और अब उसके तत्संबंधी कर्म का बंध भी नहीं होता; अत: कर्म कर्म नहीं रहा, ज्ञान ज्ञानरूप हो गया और पुद्गल कर्म पुद्गल रूप ही रहा। इसप्रकार अज्ञान के नाश होते ही अज्ञानजन्य कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का भी अभाव हो गया।

कर्त्ताकर्म अधिकार के आरंभ में ही कहा था कि जबतक अज्ञानजन्य कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति है, तबतक ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है और जब यह अज्ञानजन्य कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है तो तत्संबंधी बंध का अभाव भी नियम से हो जाता है। इसी बात को अनेक युक्तियों, आगमप्रमाणों एवं अनुभव के आधार पर सिद्ध कर अब अधिकार के अन्त में उसी का उपसंहार कर रहे हैं।

इस छन्द का भाव पंडित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

---

१. धवला, १-१-१

(छप्पय)

जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरममल ।
ग्यान ग्यानरस रमै, होई करमादिक पुदगल ॥
असंख्यात परदेस सकति, जगमगै प्रगट अति ।
चिदविलास गंभीर धीर, थिर रहै विमलमति ॥
जब लगि प्रबोध घटमहि उदित, तब लगि अनय न पेखिये ।
जिमि धरमराज बरतंत पुर, जहं तहं नीति परेखिये ॥

जीव मिथ्यात्वरूप द्रव्यकर्मों को नहीं करता और मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि भ्रमभावों को भी धारण नहीं करता। ज्ञान ज्ञानरस में ही रमता है और ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलरूप ही रहते हैं। तथा धीर-गंभीर स्थिर चैतन्य में विलास करनेवाली निर्मल ज्ञानज्योति पूर्ण शक्ति से आत्मा के असंख्य प्रदेशों में प्रगट रूप से प्रकाशित होती है, अत्यन्त जगमगाती है।

जिसप्रकार जहाँ-जहाँ धर्म का सामाज्य रहता है, वहाँ-वहाँ नीति-न्याय भी दिखाई देता है; उसीप्रकार जबतक हृदय में सम्यग्ज्ञानज्योति उदित है, तबतक अनय (अन्याय-मिथ्यात्व) देखने में नहीं आता।

इस कलश के भाव को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"भगवान आत्मा अनन्त चित्शक्तियों के समूह का भण्डार, ज्ञान का गोला, अचल और नित्य चैतन्यधातुमय सदा प्रगट ही है। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा इसे अव्यक्त कहा है, परन्तु स्वभाव के सन्मुख जाकर देखने पर तो यह सदा व्यक्त ही है, प्रगट ही है।[१]

भगवान आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की गंभीरता की क्या बात कहें ? वह अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनंद, अनन्तशान्ति, अनन्तस्वच्छता, अनन्तवीर्य, अनन्तप्रभुता आदि अनन्त चित्शक्तियों के समूह से भरा अत्यन्त गंभीर है। भगवान आत्मा संख्या से तो अनन्त शक्तियों का भंडार है ही, उसकी एक-एक शक्ति का स्वभाव भी अनन्त है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३९८
२. वही, पृष्ठ ३९९

आत्मा चित्शक्तियों से भरा अर्थात् ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों के समूह से भरा, गम्भीर ज्ञानज्योतिस्वरूप वस्तु है। जिनके दो विभाग नहीं हो सकते - ऐसे सूक्ष्म अंश को अविभागी-प्रतिच्छेद कहते हैं। ज्ञानस्वभावी आत्मज्योति ऐसे ही अनन्त अविभागी अंशों का पिण्ड है। जब वह ज्ञानज्योति अंतरंग में उग्रपने जाज्वल्यमान होती है, तो तुरंत ही अज्ञान के कारण अबतक हुए कर्तृत्वभाव का अभाव हो जाता है और फिर वह ज्ञानस्वभाव ज्ञानरूप ही रहता है व पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है जो पहले अज्ञान अवस्था में अपनी मिथ्या मान्यता के कारण स्वयं को राग का व पर का कर्त्ता मानते थे, वे ही बाद में जब अपने ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को पहचान लेते हैं, तो पर का व राग का कर्तृत्व छोड़कर केवल ज्ञाता-दृष्टा हो जाते हैं तथा राग के निमित्त से जो पुद्गल कर्मरूप होते थे, वे कर्मरूप नहीं होते। ज्ञान ज्ञानरूप रहता है, पुद्गल पुद्गलरूप एवं भगवान चिद्घन चिद्घन ही रहता है। दोनों को भिन्न-भिन्न जानने का नाम ही भेदज्ञान है, उसका फल केवलज्ञान है, सिद्धपद है।[१]''

जिसप्रकार प्रकाश के होने से सभी पदार्थ पृथक्-पृथक् भासित होने लगते हैं; उसीप्रकार ज्ञानज्योति के प्रकाशित होने से ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा ज्ञातारूप भासित होने लगा और जड़ पुद्गल पुद्गलरूप भासित होने लगा; सहज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव प्रस्फुटित हो गया। - यही कहा गया है इस ९९ कलश में।

इसप्रकार यहाँ कर्त्ता-कर्म-अधिकार समाप्त होता है। इसका समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में जो अन्तिम वाक्य लिखते हैं, वह इसप्रकार हैं -

''**इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्तौ** - इसप्रकार जीव और अजीव कर्त्ता-कर्म का वेष त्यागकर बाहर निकल गये।''

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि आत्मख्याति में समयसार को नाटक के रूप प्रस्तुत किया गया है। अत: यहाँ इस संबंध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ४, पृष्ठ ३९९

इस वाक्य का स्पष्टीकरण पंडित जयचंदजी छाबड़ा इसप्रकार करते हैं –

"जीव और अजीव दोनों कर्त्ता-कर्म का वेष धारण करके एक होकर रंगभूमि में प्रविष्ट हुए थे। जब सम्यक् दृष्टि ने अपने यथार्थ दर्शन-ज्ञान से उनके भिन्न-भिन्न लक्षण से यह जान लिया कि वे एक नहीं, किन्तु दो अलग-अलग हैं; तब वे वेष का त्याग करके रंगभूमि से बाहर निकल गये।

बहुरूपिया की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जबतक देखने वाले उसे पहिचान नहीं लेते, तबतक वह अपनी चेष्टाएँ किया करता है, किन्तु जब कोई यथार्थ रूप से पहचान लेता है, तब वह निज रूप को प्रगट करके चेष्टा करना छोड़ देता है। इसीप्रकार यहाँ भी समझना।"

यहाँ छाबड़ाजी ने बहुरूपिया का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि कर्त्ता-कर्म के वेष में समागत जीव और अजीव ज्ञानज्योति द्वारा पहिचान लिए जाने से वेष त्यागकर रंगभूमि से बाहर हो गये।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा अपनी भाषा टीका के अन्त में सम्पूर्ण अधिकार की विषयवस्तु को समेटते हुए एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(सवैया तेइसा)

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वने करता सो,
ताकरि बन्धन आन तणूं फल ले सुख-दुःख भवाश्रमवासो;
ज्ञान भये करता न बनै तब बन्ध न होय खुलै परपासो,
आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो ।

यह जीव अनादि अज्ञान के वश होकर विकार उत्पन्न करता हुआ पर का करता बनता है, इसकारण इसे बंध होता है और उसके फलस्वरूप संसार में रहता हुआ सुख-दुःख भोगता है। जब इसे सम्यग्ज्ञान होता है, तब यह पर का कर्त्ता नहीं बनता, विकार का कर्त्ता नहीं बनता और इसीकारण बंध भी नहीं होता, यह परपास (पर के बंधन) से मुक्त हो जाता है, मुक्ति को प्राप्त कर लेता है; फिर सदा मुक्ति में ही निवास करता हुआ सदा आत्मा में ही सुविलास करता है, आत्मीक आनन्द को भोगता है।

इसप्रकार इस छन्द में कर्त्ताकर्म-अधिकार की सम्पूर्ण विषयवस्तु को समेटकर अति संक्षेप में प्रभावक ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है।

इसप्रकार कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व संबंधी अज्ञान को मेटता हुआ, कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव करता हुआ, सम्यग्ज्ञानज्योति को प्रज्वलित करता हुआ यह कर्त्ताकर्म-अधिकार समाप्त होता है। •

अनादिकाल से ही इस आत्मा ने अज्ञानवश इन देहादि संयोगी पदार्थों में एकत्व और ममत्व स्थापित कर रखा है, इनमें ही सुख-दु:ख की कल्पना कर रखी है। इस एकत्व, ममत्व और अज्ञान के कारण इन शरीरादि संयोगी पदार्थों के प्रति इसे अनन्त अनुराग बना रहता है। उसी अनुरागवश यह निरन्तर इन्हीं की साज-सँभाल में लगा रहता है।

यद्यपि यह सत्य है कि इसके सँभालने के विकल्पों से देहादि संयोगों के परिणमन में कोई अन्तर नहीं पड़ता है, तथापि यह उनकी सँभाल के विकल्पों में स्वयं उलझा ही रहता है, उनके सहज ही अनुकूल परिणमन में प्रसन्न एवं प्रतिकूल परिणमन में खेदखिन्न तो हुआ ही करता है।

समय आने पर जब यह आत्मा जिनागम के अभ्यास एवं सद्गुरुओं के सत्समागम से उपलब्ध तत्त्वज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसकर देखता है तो बुद्धि के स्तर पर यह बात समझ में भली-भाँति आने लगती है कि ये देहादि संयोगी पदार्थ अनित्य हैं, अशरण हैं, असार हैं, अत्यन्त अशुचि हैं, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, सुख-दु:ख के साथी नहीं हैं - अपने सुख-दु:ख स्वयं मुझे अकेले ही भोगने पड़ते हैं।

मैं तो इन शरीरादि संयोगों और इनके निमित्त से होनेवाले संयोगी भावों तथा निज निर्मल पर्यायों एवं गुणभेद से भी भिन्न स्वयं भगवान आत्मा हूँ, अनन्त गुणों का धाम हूँ, अनन्तानन्त शक्तियों का संग्रहालय हूँ, ज्ञान का घनपिण्ड एवं आनन्द का कन्द परमप्रभु परमेश्वर हूँ।

इस विकल्पात्मक सच्ची समझ की अविरल चिन्तनधारा के प्रबल प्रवाह से देहादि संयोगों के प्रति विद्यमान एकत्व, ममत्व एवं अनुराग की पकड़ कुछ ढीली पड़ने लगती है; काल पक जाने पर अन्त में एकसमय ऐसा आता है कि जब यह आत्मा इस चिन्तन-धारा को भी पारकर इन देहादि संयोगों से भिन्न निज भगवान आत्मा का अनुभव करने लगता है, तब अनादिकालीन मिथ्यात्वग्रन्थि को भेदकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है।

- बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ९२

पुण्यपापाधिकार

जीवाजीवाधिकार में वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भावों से भगवान आत्मा का एकत्व और ममत्व तथा कर्ताकर्माधिकार में उन्हीं भावों से कर्तृत्व और भोक्तृत्व छुड़ाया है।

इसप्रकार अबतक भगवान आत्मा को परपदार्थ और उनके आश्रय से अपने ही आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेषादि भावों से एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व छुड़ाकर आत्मसम्मुख करने का प्रयास किया गया है।

अब इस पुण्यपापाधिकार में यह बताते हैं कि मुक्ति के मार्ग में पाप के समान ही पुण्य भी हेय है।

यद्यपि पापभाव के समान पुण्यभाव भी आत्मा की विकारी पर्याय होने से आत्मा नहीं है, आत्मा से भिन्न है, आस्रवभाव है, बंधभाव है और आत्मा को संसारसागर में डुबाने वाला है; तथापि अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के कारण अज्ञानी जीवों की इसमें उपादेयबुद्धि बनी रहती है, वे इसे सुख का कारण मानते रहते हैं और पुण्यभाव का कर्त्ता बनकर अपने आप को भाग्यवान समझते रहते हैं।

किसी व्यक्ति ने एक मन्दिर बनवाया, एक धर्मशाला बनवाई। वह अपने इस कार्य से अपने को बहुत ही गौरवान्वित अनुभव करता है, स्वयं को उनका कर्त्ता-धर्त्ता मानता है, स्वामी मानता है।

जब उसे यह समझाया जाता है कि यह मन्दिर, यह धर्मशाला न तो आप हैं, न ये आपके हैं और न आप इनके कर्त्ता-धर्त्ता ही हैं; क्योंकि ये तो जड़ हैं, जड़ के परिणमन हैं और आप तो चेतन पदार्थ हो। चेतन जड़ का कर्त्ता-धर्त्ता कैसे हो सकता है? इनका कर्त्ता-धर्त्ता बनने के लिए तो आपको जड़ होना होगा। क्या आप चेतन से जड़ बनना पसन्द करेंगे? यदि नहीं, तो फिर आप इनके कर्त्ता-धर्त्ता कैसे हो सकते हैं ?

आगम के आधार और युक्तियों के प्रबल प्रहार से यह बात उसकी बुद्धि को स्वीकृत हो जाने पर भी, उसका हृदय इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। इसकारण वह किसी न किसी रूप में उनसे चिपटा रहना चाहता है। अत: कहता है कि न सही मैं इनका कर्त्ता-धर्त्ता, पर आप तो यह बताइये न कि यह काम तो अच्छा है न ?

जब आप मन्दिर या धर्मशाला की प्रशंसा करते हैं तो वह मन ही मन सन्तुष्ट होता है और कहने लगता है आपके कहे अनुसार मैं न सही इनका कर्त्ता-धर्त्ता; पर कार्य तो अच्छा ही हुआ है न? इसमें कोई कमी तो नहीं रही मेरी। इसप्रकार प्रकारान्तर से वह स्वयं को इनका कर्त्ता-धर्त्ता मानता रहता है और अच्छे कार्य के बहाने वह अपने परकर्त्तृत्व को ही पुष्ट करता रहता है।

इसीप्रकार अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के जोर से अज्ञानी जीव आत्मा को बंधन में डालने वाले कर्मों में भी शुभ और अशुभ का भेद करके शुभ को उपादेय मान लेता है, करने योग्य मान लेता है। इसप्रकार शुभ कार्य के बहाने पर का और रागादि का कर्त्ता-भोक्ता स्वयं को मानता रहता है।

कहता है कि मैं न सही परपदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता, न सही रागादि का कर्त्ता-भोक्ता; परन्तु पुण्यकार्य और शुभभाव हैं तो अच्छे ही, भले ही न?

इसप्रकार यह अच्छे और भले के बहाने उनमें अपनापन स्थापित करता है तथा न सही मैं इनका कर्त्ता, पर निमित्त तो मैं हूँ ही; इसप्रकार प्रकारान्तर से उनमें कर्त्तापन भी स्थापित कर लेता है।

अज्ञानी जीवों की इसी मान्यता के निराकरण के लिए पुण्य और पाप की समानता बताने वाले इस पुण्यपापाधिकार का जन्म हुआ है। इसप्रकार यह अधिकार भी जीवजीवाधिकार और कर्ताकर्माधिकार का पूरक अधिकार ही है; क्योंकि इसमें भी पुण्य-पापकर्मों और पुण्य-पापभावों से आत्मा को भिन्न बताकर उनके कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध करना ही इष्ट है। इसकारण यह एक प्रकार से कर्ताकर्म अधिकार का पूरक ही है, परिशिष्ट ही है।

इस अधिकार में 'मुक्ति के मार्ग में पुण्यभाव भी पापभाव के समान हेय ही है' – यह बताया गया है; क्योंकि पुण्यभाव और पापभाव हैं तो आखिर

रागभाव ही और रागभाव होने से दोनों एक ही हैं। यही कारण है कि कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस अधिकार का नाम **'पुण्यपापएकत्वद्वार'** ही रखते हैं तथा इस अधिकार की विषयवस्तु को स्पष्ट करने वाला प्रतिज्ञावाक्य रूप छन्द भी इसप्रकार लिखते हैं –

(दोहा)

करता किरिया करमकौ, प्रगट वखान्यौ मूल ।
अब वरनौं अधिकार यह पाप पुन्न समतूल ॥

कर्त्ता, कर्म और क्रिया का मूल स्वरूप स्पष्ट करके अब पुण्य और पाप को समान बताने वाले इस अधिकार का वर्णन करते हैं।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इस अधिकार की टीका आरंभ करते समय मंगलाचरण के रूप में जो छन्द लिखते हैं, वह इसप्रकार है –

(दोहा)

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर् मानि ।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि ॥

जिन जीवों ने पुण्य और पाप – दोनों कर्मों को बन्धरूप और दुष्ट जानकर निज शुद्ध आत्मा को प्राप्त किया है; हित रूप जानकर मैं उनके चरणों की वन्दना करता हूँ।

इस अधिकार को आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में जो वाक्य लिखते हैं, वह इसप्रकार है –

"**अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रवशति** – अब एक ही कर्म पुण्य और पाप – इन दो पात्रों के रूप में रंगमंच पर प्रवेश करता है।"

ध्यान रहे यहाँ पात्र (अभिनेता) एक है और उसने रूप दो धारण कर रखे हैं। जिसप्रकार एकपात्रीय नाटकों में एक ही पात्र अनेक रूपों में बात करता है; उसीप्रकार यहाँ एक ही कर्म पुण्य और पाप – इन दो रूपों में प्रस्तुत हो रहा है।

जीवाजीवाधिकार और कर्ताकर्माधिकार में पात्र दो-दो थे और उन्होंने मिलकर एक रूप धारण किया था; पर यहाँ उससे विपरीत पात्र (अभिनेता) एक कर्म है और उसने पुण्य और पाप – ये रूप धारण कर रखे हैं, वह यहाँ डबलरोल में है।

इस अधिकार के मंगलाचरण के रूप में जो छन्द आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में लिखा है, उसकी उत्थानिका लिखते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं –

"जिसप्रकार नृत्यमंच पर एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो तो उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है; उसीप्रकार यहाँ यद्यपि कर्म एक ही है, तथापि वह पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार के रूप धारण करके नाचता है, उसे सम्यग्दृष्टि का यथार्थ ज्ञान एकरूप जान लेता है। उस ज्ञान की महिमा का काव्य इस अधिकार के आरंभ में टीकाकार आचार्य कहते हैं।"

(द्रुतविलम्बित)

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १०० ॥

(हरिगीत)

शुभ अर अशुभ के भेद से जो दोपने को प्राप्त हो ।
वह कर्म भी जिसके उदय से एकता को प्राप्त हो ॥
जब मोहरज का नाश कर सम्यक् सहित वह स्वयं ही ।
जग में उदय को प्राप्त हो वह सुधानिर्झर ज्ञान ही ॥ १०० ॥

अब शुभ और अशुभ के भेद से दोपने को प्राप्त उस कर्म को एकरूप करते हुए जिसने मोहरज को अत्यन्त ही दूर कर दिया है; ऐसा यह ज्ञानरूपी सुधाकर स्वयं ही उदय को प्राप्त होता है।

यह पुण्यपापाधिकार के मंगलाचरण का कलश है। इसमें उस सम्यग्ज्ञानज्योति को, ज्ञानसुधाकर को स्मरण किया गया है; जिसने पुण्य-पाप संबंधी अज्ञान का नाश किया है। अज्ञान के कारण पुण्य को भला और पाप को बुरा जाना जाता था, पर इस ज्ञानज्योति के उदय से, इस ज्ञानसुधाकर के

उदय से वह अज्ञान नष्ट हो गया और यह सद्ज्ञान प्रगट हो गया कि पाप के समान ही पुण्य भी मुक्तिमार्ग में हेय ही है।

इस छन्द का भावानुवाद कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(कवित्त मात्रिक)

जाके उदै होत घट-अंतर, बिनसै मोह महातम रोक।
सुभ अरु असुभ करम की दुविधा मिटै सहज दीसै इक थोक॥
जाकी कला होत संपूरन, प्रतिभासै सब लोक अलोक।
सो प्रबोधससि निरखि बनारसि सीस नवाइ देत पग धोक॥

हृदय में जिसके उदय होने पर मोहरूपी महाअंधकार नष्ट हो जाता है, शुभ कर्म अच्छा और अशुभ कर्म बुरा – यह दुविधा मिट जाती है और शुभ और अशुभ – दोनों ही कर्म एक से ही दिखाई देने लगते हैं; उस ज्ञानरूपी चन्द्रमा को देखकर बनारसीदासजी मस्तक नवाकर नमस्कार करते हैं।

इस कलश का भावार्थ स्पष्ट करते हुए पाण्डे राजमलजी कलश टीका में लिखते हैं –

"किसी मिथ्यादृष्टि जीव का अभिप्राय ऐसा है – जो दया, व्रत, तप, शील, संयम आदि से देहरूप लेकर जितनी है शुभ क्रिया और शुभ क्रिया के अनुसार है उस रूप जो शुभोपयोग परिणाम तथा उन परिणामों को निमित्त कर बाँधता है जो सातकर्म आदि से लेकर पुण्यरूप पुद्गलपिण्ड, वे भले हैं, जीव को सुखकारी है। हिंसा विषय-कषायरूप जितनी है क्रिया, उस क्रिया के अनुसार अशुभोपयोगरूप संक्लेश परिणाम, उस परिणाम के निमित्त कर होता है जो असातकर्म आदि से लेकर पापबन्धरूप पुद्गलपण्ड; वे बुरे हैं, जीव को दुःखकर्ता हैं। ऐसा कोई जीव मानता है। उसके प्रति समाधान ऐसा कि जैसे अशुभ कर्म जीव को दुःख करता है; उसीप्रकार शुभकर्म भी जीव को दुःख करता है। कर्म में तो भला कोई नहीं है। अपने मोह को लिये हुए मिथ्यादृष्टि जीव कर्म को भला करके मानता है। ऐसी भेद प्रतीति शुद्धस्वरूप का अनुभव हुआ तब से पायी जाती है।"

कलश टीका के उक्त कथन में यह स्पष्ट किया गया है कि दया, दान, व्रत, तप, शील, संयम आदि शुभक्रिया व तत्संबंधी शुभभाव और उनके कारण बंधने वाले पुण्य कर्म भले हैं, जीव को सुखकारी हैं – यह मान्यता मिथ्यादृष्टियों की है। सम्यग्ज्ञान होने पर यह मान्यता समाप्त हो जाती है।

इसी बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"चाहे तीर्थंकर नामक कर्मप्रकृति को बांधने वाला शुभभाव हो या नरकगति कर्म प्रकृति को बाँधनेवाला अशुभ भाव हो – दोनों ही प्रकार के भाव बन्धरूप हैं; अतः दुखरूप ही हैं – ऐसा जानता हुआ सम्यग्ज्ञानी सभी शुभाशुभभावों को एक कर्मरूप ही मानता है, उनमें उसे द्वैत भासित नहीं होता।[१]

भाई! तू पाप-पुण्य में हेयापादेयपना मानकर अर्थात् पुण्य को भला व पाप को बुरा मानकर दुःख के पहाड़ के तले दब गया है। प्रभु ! पुण्य-पाप के दोनों ही भाव स्वयं दुःखरूप हैं तथा दुःख के कारण हैं, आकुलतामय हैं; क्योंकि दोनों ही भाव स्वभाव से विरुद्धभाव हैं। ऐसे स्वभावविरुद्धभावों में जो न भेद देखकर एक कर्मरूप ही मानता है, उसे पर की अपेक्षा बिना स्वतः सम्यग्ज्ञानरूप चन्द्रमा उदित होता है।[२]

देखो, पुण्य-पाप के दोनों ही भाव अशान्त हैं। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग अशान्त है, आकुलतामय है। लोगों को यह बात कड़क लगती है; परन्तु इससे क्या हो? पुण्य-पाप से रहित शुद्धज्ञानघन-स्वरूप भगवान आत्मा को निर्मल चैतन्य की परिणति द्वारा ग्रहण करके उस एक का ही अनुभव करना धर्म है, वही वीतरागी शान्ति है।[३]"

इसप्रकार यहाँ पुण्य और पाप में एकत्व स्थापित करने वाले ज्ञानरूपी चन्द्रमा का स्मरण किया गया है, उसे नमस्कार किया गया है।

प्रश्न – यहाँ जिस ज्ञानरूपी चन्द्रमा को नमस्कार किया गया है, उस ज्ञान को केवलज्ञानरूप में लेना या सम्यग्ज्ञानरूप में ?

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ २
२. वही, पृष्ठ ४
३. वही, पृष्ठ ७

उत्तर – इस सन्दर्भ में कलश ४६ की व्याख्या में विस्तार से प्रकाश डाला गया है, तदनुसार ही यहाँ भी समझना चाहिए। जिन बातों पर वहाँ विचार किया है, वे सब यहाँ भी घटित हो सकती है। अत: अच्छा है कि आप उस प्रकरण को एकबार फिर गहराई से देख लें।

मंगलाचरण के उक्त छन्द में यह स्पष्ट किया गया है कि अज्ञान के कारण कर्म में जो शुभ और अशुभ के भेद किये जाते रहे हैं, वे वास्तविक नहीं हैं; इसकारण इन दोनों भेदों में एकता स्थापित करती हुई सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट हुई है।

अब आगामी कलश में उसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं।

(मन्दाक्रान्ता)

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना –
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥ १०१ ॥

(रोला)

दोनों जन्मे एक साथ शूद्रा के घर में ।
एक पला बामन के घर दूजा निज घर में ॥
एक छुए न मद्य ब्राह्मणत्वाभिमान से ।
दूजा डूबा रहे उसी में शूद्रभाव से ॥
जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया ।
इस कारण अज्ञानी ने पहिचान न पाया ॥
पुण्य-पाप भी कर्म जाति के जुड़वा भाई ।
दोनों ही हैं हेय मुक्ति मारग में भाई ॥ १०१ ॥

एक तो ब्राह्मणत्व के अभिमान से दूर से ही मदिरा का त्याग करता है, उसे छूता तक नहीं और दूसरा 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' – ऐसा मानकर नित्य मदिरा से स्नान करता है, उसी में डूबा रहता है, उसे पवित्र मानता है। यद्यपि वे दोनों ही शूद्रा के पेट से एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दोनों ही साक्षात् शूद्र हैं; तथापि वे जातिभेद के भ्रम से ऐसा आचरण करते हैं।

उक्त छन्द में शूद्र के जुड़वा बेटों के उदाहरण के माध्यम से पुण्य और पाप की एकता को समझाया गया है।

एक शूद्र महिला के पेट से दो बालक एक साथ (जुड़वां) पैदा हुए। उसने अपने एक बालक को ब्राह्मणी को दे दिया। ब्राह्मणी ने उसे अपने पुत्र के समान ही पाला-पोसा। ब्राह्मणी के यहाँ पलने वाले बालक को यह पता ही न था कि वह शूद्र का बेटा है। वह तो स्वयं को ब्राह्मणपुत्र मानकर ब्राह्मण जैसा पवित्र आचरण पालता था, शराब को हाथ भी नहीं लगाता था।

दूसरा बालक शूद्रा के यहाँ ही बड़ा हुआ। चूँकि शूद्रों के यहाँ शराब सहजभाव से पी जाती है। इसकारण वह प्रतिदिन शराब पीता था।

आचार्यदेव कहते हैं कि यद्यपि वे दोनों सगे जुड़वां भाई हैं; तथापि जातिभेद के भ्रम से उनके आचरण में यह भेद दिखाई देता है।

इसीप्रकार ये पुण्य-पाप भाव भी एक ही जाति के हैं, सगे जुड़वां भाई ही हैं, कर्म के ही भेद हैं, रागभाव के ही भेद हैं, तथापि अज्ञानी भ्रम से पुण्य को भला और पाप को बुरा समझते हैं। उनके इस भ्रम के निवारण के लिए ही यह पुण्य-पाप अधिकार लिखा जा रहा है।

पाण्डे राजमलजी कलश टीका में इस उदाहरण का भावार्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इसीप्रकार कोई जीव शुभोपयोगी होता हुआ, यतिक्रिया में मग्न होता हुआ, शुद्धोपयोग को नहीं जानता और 'हम तो मुनीश्वर हैं, हमें तो विषय-कषाय निषिद्ध हैं' – ऐसा मानकर विषय-कषाय सामग्री को छोड़कर अपने को धन्य मानता है, मोक्षमार्गी मानता है; किन्तु वह मिथ्यादृष्टि ही है और कर्मबन्ध को करता है। कोई अशुभोपयोगी है, गृहस्थक्रिया में रत है; 'हम तो गृहस्थ हैं, हमें तो विषय-कषाय सेवन योग्य है' – ऐसा जानकर विषय-कषाय सेवन करता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है, कर्मबन्ध को करता है; क्योंकि कर्मजनित पर्याय मात्र को आपरूप जानता है, जीव के शुद्धस्वरूप का अनुभव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग और आत्मानुभव से रहित मुनिजन मुनित्वाभिमान से शुभाचरण पालते हैं और आत्मानुभूति रहित गृहस्थ गृहस्थ

का कर्तव्य समझकर अशुभ आचरण में रत हैं; परन्तु दोनों का आचरण पर्याय (पद) के लक्ष्य से होने से, आत्मा के लक्ष्य से न होने से मात्र बंध का ही कारण है, मुक्ति का कारण नहीं।

उक्त कथन का भाव स्पष्ट करते हुये स्वामीजी कहते हैं –

"देखो, कोई एक व्यक्ति तो गृहस्थाश्रम में स्त्री, कुटुम्ब परिवार के साथ रहता हुआ विषय-कषाय का सेवन करता हो और दूसरे ने राजपाट त्यागकर नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण की हो, तो इसप्रकार बाहर से दोनों की प्रवृत्ति स्पष्टतया भिन्न-भिन्न भासित होने से अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि अवश्य ही इन दोनों के अंतरंग में अन्तर होना चाहिए। वह एक को पापी और दूसरे को धर्मात्मा माने बिना नहीं रहेगा।

बापू! जबतक अन्तर्दृष्टि नहीं हुई, दृष्टि में चैतन्य का निधान नहीं आया, आनन्द का नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वज्ञस्वभावी प्रभु दृष्टि में नहीं आया; तबतक वस्तुत: कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा, शुभाशुभ दोनों ही भाव मात्र बंध के ही कारणरूप हैं। यद्यपि भले-बुरे दिखाई देते हैं, परन्तु यह तो कोरा भ्रम है। शुभाशुभ प्रवृत्ति के भेद से वे अच्छे या बुरे लगते हैं, परन्तु वास्तव में दोनों ही बंधरूप हैं, दोनों ही संसार हैं, उतमें एक भी मुक्ति का कारण नहीं है।[१]"

उक्त छन्द का भावानुवाद नाटक समयसार में पंडित बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

जैसे काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एक दीयौ बांभनकै एक घर राख्यौ है ।
बांभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है ॥
तैसे एक वेदनी करम के जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है ।
दुहूँ मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है ॥

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १३

जिसप्रकार किसी चांडालनी ने जुड़वा पुत्र पैदा किये। उनमें से एक पुत्र किसी ब्राह्मणी को गोद दे दिया और एक अपने ही घर पर रखा। ब्राह्मणी के घर पलने से जो पुत्र ब्राह्मण कहलाया, उसने मद्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग कर दिया और जो घर पर रहा, वह चांडाल कहलाया और उसने मद्य-मांसादि पदार्थों का सेवन किया।

इसीप्रकार एक वेदनीय कर्म के दो जुड़वा पुत्र हैं, जिनमें एक का नाम पाप है और दूसरे का नाम पुण्य है। दोनों में ही दौड़-धूप है, दोनों ही कर्मबंध रूप हैं; इसकारण ज्ञानी जीव दोनों में से किसी को भी नहीं चाहते।

देखो, यहाँ पुण्य और पाप – दोनों को ही चांडालनी का पुत्र बताया है और यह भी कहा है कि ब्राह्मणत्व के अभिमान से शुभाचरण करने पर भी जैसे वह चांडालनी का पुत्र ब्राह्मण नहीं हो जाता, चंडाल ही रहता है; उसीप्रकार शुभभाव रूप होने से पुण्य धर्म नहीं हो जाता, कर्म ही रहता है; क्योंकि पुण्य और पाप कर्म के ही भेद हैं, धर्म के नहीं।

पुण्य और पाप की जाति एक है, तथापि आचरण के भेद से अज्ञानियों को जाति भेद का भ्रम हो जाता है और वे उन्हें भिन्न-भिन्न जाति का समझने लगते हैं। भ्रम के नाश होने पर ज्ञानज्योति प्रगट होती है और यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाप के समान ही पुण्य भी मुक्ति मार्ग में हेय ही है। •

यद्यपि खोज की प्रक्रिया व खोज को भी व्यवहार से भेद-विज्ञान कहा जाता है, तथापि जिसे खोजना है, उसी में खो जाना ही वास्तविक भेद-विज्ञान है अर्थात् निज-अभेद में खो जाना, समा जाना ही भेद-विज्ञान है।

भेद-विज्ञानी जीव की दृष्टि अविकृत होती है। वह आत्मा को रागी-द्वेषी अनुभव नहीं करता और न ही वह आत्मा को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आदि भेदों में अनुभव करता है। अनुभव में अशुद्धता और भेद नजर नहीं आता।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १२९

समयसार गाथा १४५

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १४५॥
सुशील हैं शुभ कर्म और अशुभ करम कुशील हैं ।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं? ॥ १४५॥

अशुभ कर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है – ऐसा तुम जानते हो, किन्तु जो जीवों को संसार में प्रवेश कराये, वह सुशील कैसे हो सकता है?

गाथा में यह कहा गया है कि लौकिकजन ऐसा मानते हैं कि शुभकर्म सुशील है, अच्छा है, करने योग्य है और अशुभकर्म कुशील है, बुरा है, त्यागने योग्य है; किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि जब शुभ और अशुभ – दोनों ही कर्म होने से संसार के हेतु हैं, संसार-सागर में डुबोने वाले हैं तो फिर उनमें से एक को, शुभ को सुशील कैसे माना जा सकता है? जो संसार में प्रवेश कराये, वह सुशील कैसे हो सकता है?

इस गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव पहले व्यवहारनय का पक्ष प्रस्तुत करते हुए पुण्य और पाप में चार प्रकार से अन्तर बताते हैं और अन्त में निश्चयनय का पक्ष प्रस्तुत करते हुए उसका सयुक्ति निराकरण करते हैं, जो इसप्रकार है –

"किसी कर्म (पुण्य) में जीव के शुभ परिणाम निमित्त होते हैं और किसी कर्म (पाप) में जीव के अशुभ परिणाम निमित्त होते हैं; इसकारण पुण्य और पाप कर्म के कारणों में भेद है।

कोई कर्म (पुण्य) शुभ पुद्गल परिणाममय होता है और कोई कर्म (पाप) अशुभ पुद्गल परिणाममय होता है; इसकारण पुण्य और पाप कर्म के स्वभाव में भेद होता है।

किसी कर्म (पुण्य) का शुभफलरूप विपाक होता है और किसी कर्म (पाप) का अशुभफलरूप विपाक होता है; इसकारण कर्म के अनुभव (स्वाद) में भेद होता है।

कोई कर्म (पुण्य) शुभ मोक्षमार्ग के आश्रित है और कोई कर्म (पाप) अशुभ बंधमार्ग के आश्रित है; इसकारण कर्म के आश्रय में भी भेद है।

इसप्रकार यद्यपि कर्म एक ही है, तथापि कई लोगों का ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म (पुण्य) शुभ है और कोई कर्म (पाप) अशुभ है, किन्तु उन लोगों का यह पक्ष प्रतिपक्ष सहित है, जिसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

जीवों के शुभ और अशुभ दोनों ही परिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक ही हैं और उनके एक होने से कर्म के कारणों में भेद नहीं रहा; इसकारण कर्म एक ही है।

शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक है और उसके एक होने से कर्म के स्वभाव में भेद नहीं रहा; इसकारण कर्म एक ही है।

शुभ या अशुभ फलरूप होने वाला विपाक केवल पुद्गलमय होने से एक है और उसके एक होने से कर्म के अनुभव (स्वाद) में भेद नहीं रहा; इसकारण कर्म एक ही है।

शुभ मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ बंधमार्ग केवल पुद्गलमय है; इसकारण वे अनेक (भिन्न-भिन्न) हैं और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय बंधमार्ग के ही आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद नहीं है; इसकारण कर्म एक ही है।''

इसप्रकार यहाँ पुण्य और पाप में अन्तर है – व्यवहारनय के इस पक्ष को प्रस्तुत कर निश्चयनय द्वारा उसका सयुक्ति खण्डन किया गया है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि आश्रय के प्रकरण शुभ शब्द प्रयोग शुद्ध के अर्थ में किया गया है।

उक्त टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"कोई कर्म तो अरहन्तादि में भक्ति-अनुराग, जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम और मन्द कषाय से चित्त की उज्ज्वलता इत्यादि शुभपरिणामों के निमित्त से होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादिक अशुभ लेश्या, निर्दयता, विषयासक्ति, और देव, गुरु आदि पूज्य पुरुषों के प्रति विनयभाव से नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभ परिणामों के निमित्त से होते हैं; इसप्रकार हेतु भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं।

सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र – इन कर्मों के परिणामों (प्रकृति इत्यादि) में तथा चार घातीकर्म, असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र – इन कर्मों के परिणामों (प्रकृति इत्यादि) में भेद है; इसप्रकार स्वभावभेद होने से कर्मों के शुभ और अशुभ दो भेद हैं।

किसी कर्म के फल का अनुभव सुखरूप और किसी का दु:खरूप है; इसप्रकार अनुभव का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं।

कोई कर्म मोक्षमार्ग के आश्रित है और कोई कर्म बन्धमार्ग के आश्रित है; इसप्रकार आश्रय का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं।

इसप्रकार हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय – ऐसे चार प्रकार से कर्म में भेद होने से कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है – ऐसा कुछ लोगों का पक्ष है।

अब इस भेदपक्ष का निषेध किया जाता है – जीव के शुभ और अशुभ परिणाम दोनों अज्ञानमय हैं, इसलिये कर्म का हेतु एक अज्ञान ही है; अत: कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम दोनों पुद्गलमय ही हैं; इसलिये कर्म का स्वभाव एक पुद्गलपरिणामरूप ही है; अत: कर्म एक ही है। सुख-दु:खरूप दोनों अनुभव पुद्गलमय ही हैं, इसलिये कर्म का अनुभव एक पुद्गलमय ही है; अत: कर्म एक ही है। मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग में, मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही है और बन्धमार्ग केवल पुद्गल के परिणाममय ही है, इसलिये कर्म का आश्रय मात्र बन्धमार्ग ही है (अर्थात् – कर्म एक बन्धमार्ग के आश्रय ही होता है – मोक्षमार्ग में नहीं होता); अत: कर्म एक ही है।

इसप्रकार कर्म के शुभाशुभ भेद के पक्ष को गौण करके उसका निषेध किया है; क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है और यदि अभेदपक्ष से देखा जाये तो कर्म एक ही है – दो नहीं।''

प्रश्न – यहाँ बंधमार्ग को केवल पुद्गलपरिणाममय कहा गया है; तो क्या आत्मा में उत्पन्न होनेवाले शुभाशुभभाव भी पुद्गलपरिणाममय हैं?

उत्तर – इस समस्या का समाधान स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''यहाँ कहते हैं कि मोक्ष का मार्ग केवल जीव के परिणाममय ही है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभभाव जीव के परिणाम नहीं, अर्थात् वे पुद्गल के परिणाम हैं, इसलिये कर्म का आश्रय केवल बंधमार्ग ही है।

जिस निर्मल रत्नत्रय को यहाँ समयसार में जीव का परिणाम कहा, उसे ही नियमसार में परद्रव्य कहा, सो वहाँ वह दूसरी अपेक्षा से कहा है। जैसे परद्रव्य में से जीव की नवीन पर्याय नहीं आती, उसीतरह मोक्षमार्ग की पर्याय में से नवीन पर्याय नहीं आती। नवीन पर्याय उत्पन्न होने का भंडार तो त्रिकाली द्रव्य है। वहाँ द्रव्य का आश्रय करवाने के प्रयोजन से त्रिकाल द्रव्य को स्वद्रव्य कहा और निश्चय मोक्षमार्ग के परिणाम को परद्रव्य कहा है।

यहाँ इस मोक्षमार्ग के परिणाम को जीव का कहा है और शुभाशुभ भावों को पुद्गल में डाला है तथा तत्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथमसूत्र में शुभाशुभ भावों को जीव के स्व-तत्त्व कहे हैं – पांचों ही भावों को जीवतत्त्व कहा है। वहाँ यह अपेक्षा है कि शुभाशुभभाव जीव की पर्याय में ही होते हैं, इसलिये उन्हें जीवतत्त्व कहा है। वह व्यवहारनय, पर्यायनय का ग्रन्थ है न ? अत: उसमें व्यवहारनय से शुभाशुभ भावों को जीव का कहा है। जबकि यहाँ राग-द्वेषरूप शुभाशुभ परिणामों को अज्ञानमय होने से जीव के न कहकर पुद्गलमय परिणाम कहा है।

देखो आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव आचार्य श्री उमास्वामी के गुरु थे। गुरु शुभाशुभ भावों को पुद्गल का कहते हैं और शिष्य उन्हें जीवतत्त्व कहते हैं; तो क्या उनमें परस्पर मतभेद था?

नहीं भाई! उनमें कहीं कोई विरोध नहीं है। गुरु का कथन निश्चयनय के आश्रय से है और शिष्य का कथन व्यवहारनय के आश्रय से है। दोनों की अपेक्षायें भिन्न-भिन्न हैं। जिनवाणी में जहाँ जो नय-विवक्षा हो, उसे उसी विवक्षा से समझना चाहिये। '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' – यह जो सूत्र है, यह पर्यायार्थिकनय का कथन है, निश्चयनय का नहीं। निश्चयनय से तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के आश्रयरूप एक ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम जिन्हें यहाँ जीव के परिणाम कहें वे भेदरूप पर्यायार्थिकनय के कथन हैं। प्रवचनसार गाथा २४२ में आता है कि 'वे भेदात्मक होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं – ऐसा पर्यायप्रधान व्यवहारनय से उसका प्रज्ञापन है, वह मोक्षमार्ग अभेदात्मक होने से एकाग्रता मोक्षमार्ग है' – ऐसा द्रव्यप्रधान निश्चयनय से उसका प्रज्ञापन है।'

समयसार कलश टीका कलश १६ में कहा है कि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के जो निर्मल परिणाम हैं; वे भेद हैं, पर्याय हैं; अतः मेचक हैं, मलिन है और इसकारण व्यवहार हैं तथा अभेद से जो आत्मा एकस्वरूप है, वह अमेचक है, निर्मल है। भाई, शैली तो देखो! कहाँ क्या कहा है – इसकी खबर बिना एकान्त से खेंचातानी करे तो नहीं चलेगी। कलश टीकाकार ने मोक्षमार्ग के परिणाम को भेदरूप होने से मेचक कहा और सम्यग्ज्ञानदीपिका में श्री धर्मदासजी क्षुल्लक ने इसी को अशुद्ध कहा है। मोक्ष के परिणाम भेदरूप हैं, मेचक हैं; अतः अशुद्ध हैं।

यहाँ कहते हैं कि मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही हैं। यह अभेद से बात कही है तथा बंधमार्ग केवल पुद्गल के ही परिणाममय हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म एक बंधमार्ग के आश्रय से ही होता है, मोक्षमार्ग में नहीं होता; अतः कर्म एक ही है। इसप्रकार कर्म के शुभाशुभ भेदरूप पक्ष को गौण करके उसका निषेध किया है।

गजब की भाषा है 'गौण करके' कहा, तात्पर्य यह है कि भेद है तो अवश्य, परन्तु केवल अभेद की दृष्टि कराने के लिये भेद को गौण किया है। भेद का

ज्ञान कराने के लिये तो भेद है ही, परन्तु फिर भी उसका निषेध जो किया, उसका हेतु अभेद पक्ष को प्रधान करना ही है। दृष्टि के विषय में पुण्य-पाप का पक्ष नहीं है, इसकारण अभेद पक्ष से देखने पर तो कर्म एक ही है, दो नहीं। इस तरह भेद का निषेध करके स्वभाव का आश्रय कराया है।[१]''

जो बात टीका में कही गई है, अब उसी बात को कलश के माध्यम से कहते हैं –

(उपजाति)

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥१०२॥

(रोला)

अरे पुण्य अर पाप कर्म का हेतु एक है ।
आश्रय अनुभव अर स्वभाव भी सदा एक है ॥
अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है ।
भले-बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है ॥१०२॥

हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय – इन चारों का सदा ही अभेद होने से कर्म (पुण्य-पाप) में निश्चय से भेद नहीं है। इसलिए निश्चय से समस्त कर्म (पुण्य-पाप) बंधमार्ग के आश्रित हैं और बंध के कारण हैं; इसकारण कर्म एक ही माना गया है, मानना योग्य है।

इस कलश का अर्थ कलशटीका में विस्तार से किया गया है। आत्मख्याति टीका, कलश और कलश टीका – इन तीनों को आधार बनाकर कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में तीन छन्दों की रचना की है, जिनमें एक चौपाई और दो इकतीसा सवैया हैं। आरंभिक दो छन्दों में शिष्य की ओर से सतर्क प्रश्न उपस्थित किया गया है और अन्तिम छन्द में उत्तर दिया गया है, समाधान किया गया है; जिसके पढ़ने से सम्पूर्ण विषयवस्तु सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ३२-३३

(चौपाई)

कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं, पाप पुन्न दोऊ सम नाहीं ।
कारण रस सुभाव फल न्यारे, एक अनिष्ट लगै इक प्यारे ॥

(सवैया इकतीसा)

संकलेस परिनामनिसौं पाप बंध होइ,
विसुद्धसौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानियै ।
पाप के उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट रसभेद जानियै ॥
पाप संकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप,
दुहूँकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै ।
पापसौं कुगति होई पुन्नसौं सुगति होई,
एसौ फलभेद परतच्छि परमानियै ॥

पाप बंध पुन्न बंध दुहूँमैं मुकति नाहिं,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिए ।
संकलेश विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजाल मैं विसेखिए ॥
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसौ द्वैतभाव ग्यानदृष्टिमैं न लेखिए ।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप,
दुहूंकौ विनास मोख मारग मैं देखिए ॥

गुरुजी के चरणों के समीप जाकर कोई शिष्य कहता है कि पाप और पुण्य – दोनों समान नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों के कारण, रस, स्वभाव और फल जुदे-जुदे हैं। एक का कारण, रस, स्वभाव और फल अनिष्ट लगता है और दूसरे का अच्छा लगता है। संक्लेश परिणामों से पाप बंध होता है और विशुद्ध परिणामों से पुण्य बंध होता है। इसप्रकार दोनों में हेतुभेद माना गया है। पाप के उदय में असाता की प्राप्ति होती है और उसका स्वाद कड़वा होता है तथा पुण्य के उदय में साता की प्राप्ति होती है और उसका स्वाद (रस) मीठा होता है। इसप्रकार दोनों रसभेद जानना चाहिए। पाप संक्लेश रूप है और

पुण्य विशुद्धरूप है। इसप्रकार दोनों स्वभावभेद भी कहा गया। पाप से कुगति की प्राप्ति होती है और पुण्य से सुगति की प्राप्ति होती है। इसप्रकार फलभेद भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

इसका समाधान करते हुए कवि कहते हैं कि पापबंध और पुण्यबंध दोनों में मुक्ति नहीं है। कड़वा और मीठा स्वाद भी पुद्गल में देखा जाता है। परिणामों का संक्लेशरूप होना और विशुद्ध होना – यह तो कर्म की सहज चाल है तथा कुगति और सुगति दोनों संसार में ही तो हैं, जगत के जाल ही में तो हैं। हे अज्ञानी जीव! तुझे पुण्य-पाप में जो कारणादि भेद दिखाई देते हैं, वह सब मिथ्यात्व का ही प्रभाव है; क्योंकि इसप्रकार का द्वैतभाव ज्ञानियों की दृष्टि में तो दिखाई ही नहीं देता। पुण्य व पाप दोनों बड़े अंधे कुआ हैं, दोनों ही कर्मबंधरूप हैं; मुक्ति के मार्ग में तो दोनों का ही नाश देखने में आता है।

इस कलश पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

''देखो, वर्तमान में कुछ विद्वानों द्वारा ऐसा कहा जाता है कि ये बाह्य व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि जो व्यवहाररूप शुभ आचरण है, उससे शुद्धता प्रगट होती है। उनके उक्त कथन का इस कलश में स्पष्ट खुलासा है।

'अशुभभाव से शुद्धता नहीं होती' – यह तो यथार्थ और सर्वमान्य तथ्य है ही, परन्तु जो शुभभाव के काल में शुभभावों से शुद्धता होना मानते हैं, उनका मानना भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि शुभभाव भी अशुभ की तरह ही अशुद्ध हैं।

इस कथन के संदर्भ में व्यवहारी जनों का एक प्रश्न यह भी है कि सम्यग्दर्शनरूप निर्विकल्प अनुभव के पहले जो अन्तिम शुभभाव होता है, वह शुभभाव शुद्धभाव का कारण है कि नहीं?

इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि भाई, उस अन्तिम शुभभाव का भी अभाव होकर सम्यग्दर्शन की निर्विकल्प अनुभूति होती है, शुभभाव से नहीं। शुभभाव तो विभाव स्वभाव है, जड़स्वभाव है; चैतन्यस्वभाव नहीं है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ३४

यहाँ कहते हैं कि शुभ व अशुभ – दोनों ही भाव बन्धन के कारणरूप अशुद्ध भाव हैं, स्वभाव से विपरीत विभाव भाव हैं। भाई! स्वभाव के सन्मुखता का भाव तो शुद्ध चैतन्यमय होता है और ये दोनों भाव चैतन्यरहित अज्ञानमय भाव हैं, इसलिये दोनों ही भेदरहित एक ही जाति के हैं।

प्रश्न : क्या मुक्तिमार्ग में व्यवहार का कोई स्थान ही नहीं है?

उत्तर : मुक्तिमार्ग में भूमिकानुसार व्यवहार होता तो अवश्य है; व्यवहार होता ही न हो, ऐसा नहीं है; परन्तु व्यवहार से – शुभराग से सम्यग्दर्शन या निश्चय मोक्षमार्ग मानना यथार्थ नहीं है।[१]" •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ३५

उन रत्नत्रय के धनी परम वीतरागी नग्न-दिगम्बर भावलिंगी सन्तों के प्रति यदि हमारे हृदय में रंचमात्र भी अवज्ञा का भाव रहा तो हम मुक्तिमार्ग से बहुत दूर रहेंगे तथा साथ ही जिनागम में वर्णित गुरु के स्वरूप के अनुरूप जो श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के धारक नहीं हैं, यदि हमने उन्हें भय, आशा, स्नेह और लोभादिक के कारण गुरु के समान पूजा, पूज्य माना, तब भी हम मुक्तिमार्ग के समीप नहीं आ सकेंगे।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १२६

समयसार गाथा १४६ से १४९

अब इसी बात को आगामी गाथाओं में उदाहरण से समझाते हैं –

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥
तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥
जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णादुं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा ॥१४९॥

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती ।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ॥१४६॥
दुःशील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो ।
दुःशील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो ॥१४७॥
जगतजन जिसतरह कुत्सितशील जन को जानकर ।
उस पुरुष से संसर्ग एवं राग करना त्यागते ॥१४८॥
बस उसतरह ही कर्म कुत्सित शील है – यह जानकर ।
निजभावरत जन कर्म से संसर्ग को हैं त्यागते ॥१४९॥

जिसप्रकार लोहे की बेड़ी के समान ही सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है; उसीप्रकार अशुभ कर्म के समान ही शुभकर्म भी जीव को बाँधता है।

इसलिए इन दोनों कुशीलों के साथ राग और संसर्ग मत करो; क्योंकि कुशील के साथ राग और संसर्ग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

जिसप्रकार कोई पुरुष कुशील पुरुष को जानकर उसके साथ राग करना और संसर्ग करना छोड़ देता है; उसीप्रकार स्वभाव में रत पुरुष कर्मप्रकृति के कुत्सितशील (कुशील) को जानकर संसर्ग करना छोड़ देते हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसप्रकार सोने और लोहे की बेड़ी बिना किसी अन्तर के पुरुष को बाँधती हैं; क्योंकि बन्धन की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है। उसीप्रकार शुभ और अशुभ कर्म बिना किसी अन्तर के जीव को बाँधते हैं; क्योंकि बंधभाव की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है।

जिसप्रकार मनोरम हो या अमनोरम, पर कुशील हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ राग और संसर्ग करना हाथी के लिए बन्धन का कारण होता है; उसीप्रकार शुभ हों या अशुभ, पर कुशील कर्मों के साथ राग और संसर्ग करना जीव के लिए बंधन का कारण होता है। इसकारण यहाँ शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग करने का निषेध किया गया है।

जिसप्रकार कोई जंगल का कुशल हाथी अपने बंधन के लिए निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी को परमार्थत: बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता; उसीप्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बंध के लिए समीप आती हुई (उदय में आती हुई) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) सभी कर्मप्रकृतियों को परमार्थत: बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।"

उक्त कथन के भाव को सरल भाषा में प्रस्तुत करते हुए पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"हाथी को पकड़ने के लिए हथिनी रखी जाती है। हाथी कामान्ध होता हुआ उस हथिनी रूपी कुट्टनी के साथ राग तथा संसर्ग करता है; इसलिए वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुख भोगता है। जो हाथी चतुर होता है, वह उस हथिनी के साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।

इसीप्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति को अच्छा समझ कर, उसके साथ राग तथा संसर्ग करते हैं; इसलिए वे बंध में पड़कर पराधीन बनकर संसार के दु:ख भोगते हैं और जो ज्ञानी होता है, वह उसके साथ कभी राग व संसर्ग नहीं करता।"

जंगली हाथियों को पकड़ने के लिए जंगल में एक बहुत बड़ा गहरा गढ्ढा खोदा जाता है। उसे ढककर ऊपर मिट्टी डालकर दूब-घास और झाड़ियाँ डाल दी जाती हैं, जिससे ठोस जमीन ही प्रतीत हो। जंगली हाथियों को फँसाने के लिए एक चतुर हथिनी को प्रशिक्षित (ट्रेन्ड) करते हैं। वह हथिनी अपनी कामुक चेष्टाओं से जंगली हाथियों को आकर्षित करती हैं, मोहित करती है और अपने पीछे-पीछे आने के लिए प्रेरित करती है। उनसे नाना प्रकार की क्रीड़ायें करती हुई वह हथिनी उन्हें उस गढ्ढे के समीप लाती है। तेजी से भागती हुई वह कुट्टनी हथिनी तो जानकार होने से उस गढ्ढे से बचकर निकल जाती है, पर तेजी से पीछा करने वाला कामुक हाथी भागता हुआ उस गढ्ढे में गिर जाता है। इसप्रकार अपनी स्वाधीनता खो देता है, बंधन में पड़ जाता है। वह कुट्टनी हथिनी चाहे सुन्दर हो, चाहे कुरूप हो; पर उसके मोह में पड़ने वाला हाथी बंधन को प्राप्त होता ही है।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ यह समझाया जा रहा है कि कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, पुण्यरूप हों या पापरूप; उनसे राग करने वाले, उन्हें करने योग्य मानने वाले, उन्हें उपादेय मानने वाले संसाररूपी गढ्ढे में गिरते हैं, फंसते हैं, बंधन को प्राप्त होते हैं। अत: कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, पुण्यरूप हो या पापरूप – दोनों से ही राग व संसर्ग नहीं करना चाहिए, उन्हें उपादेय नहीं मानना चाहिए।

मोही हाथी के कुरुप हथिनी की अपेक्षा सुरुप (सुन्दर) हथिनी पर मोहित होने के अवसर अधिक हैं; इसकारण उक्त कुट्टनी हथिनी का कुरुप होने की अपेक्षा सुरुप होना अधिक खतरनाक है। उसीप्रकार मोही जीव के पापकर्मों की अपेक्षा पुण्यकर्मों पर मोहित होने के अवसर अधिक हैं; इसकारण पुण्य के सन्दर्भ में अधिक सावधानी अपेक्षित है।

उक्त गाथाओं का मर्म खोलते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"देखो, यहाँ स्पष्ट कहा है कि शुभ व अशुभ – दोनों ही कर्म कुशील हैं और निज चैतन्य स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान व रमणता सुशील है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि निज ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान व

रमणतारूप निर्मल शान्त वीतरागी परिणति को छोड़कर जो दया, दानादिक के शुभभाव होते हैं, उन्हें भी यहाँ कुशील कहा है। बात थोड़ी कड़क है, किन्तु सत्य है; क्योंकि यह जीव की स्वभावमय शुद्ध परिणति नहीं है।[१]

इन व्रत, नियम, शील, तप आदि में जो तप कहा गया है, उसमें ध्यान नामक अंतरंग तप भी आ गया। विकल्परूप ध्यान भी शुभकर्म होने से कुशील है – ऐसा यहाँ कहा जा रहा है। वास्तविक ध्यान तो शुद्धस्वरूप में एकाग्र होकर ठहरना है, परन्तु जिसे आत्मा की प्रतीति ही नहीं हुई हो, वह कहाँ/किसमें ठहरेगा? अपना आत्मा जो ध्रुव नित्यानन्द चिदानन्दस्वरूप है, जब वह अभी अनुभव में, वेदन में या दृष्टि में ही नहीं आया; तो उसमें मग्न होकर ठहरने रूप ध्यान कहाँ से होगा? बापू! ध्यान के ये बाह्य विकल्प हैं, ये तो राग है; अतः कुशील हैं, बंधन के कारण हैं।[२]

'उदय में आती हुई – समीप में आती हुई कर्मप्रकृति' का आशय यह है कि शुभकर्म के उदय में शुभभाव होता है और अशुभकर्म के उदय में अशुभभाव होता है – इसे ही कर्मप्रकृति का समीप आना कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ प्रकृति के उदय के काल में जो शुभाशुभभाव होते हैं, उन्हें ज्ञानी जीव बुरा जानते हैं तथा उन्हें बुरा जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करते।

यहाँ कोई कह सकता है कि यह तो जड़ कर्म की बात है, शुभाशुभ भाव की नहीं; परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। १५३वीं गाथा की टीका में बताया है कि व्रत, तप, नियम, शीलादि सब शुभकर्म हैं। रागरूपी कार्य को वहाँ शुभकर्म कहा है, जड़कर्म तो इनसे भिन्न ही है। भावकर्म का निमित्त जो कर्मप्रकृति, उनके उदय में आने पर जो शुभाशुभभाव होते हैं, उन्हें ज्ञानी बुरा जानते हैं, जड़ कर्मप्रकृतियों को नहीं। १४५वीं गाथा में भी कर्म शब्द है। उसके टीका में जो चार अर्थ किये हैं, उनमें एक अर्थ जड़कर्म का हेतु जो शुभाशुभभाव उसे ही कर्मरूप से ग्रहण किया है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ४९
२. वही, पृष्ठ ५१-५२
३. वही, पृष्ठ ५८

शुभाशुभभाव को बुरा जानकर यह कहने का भाव ही यह है कि ये भाव होते तो अवश्य है, यदि होते ही नहीं, तब तो वर्तमान में ही वीतरागी ठहरे, किन्तु ऐसा तो है नहीं। ज्ञानी विद्यमान शुभाशुभभावों को बुरा (अहितरूप) जानकर, उनसे एकत्व नहीं करता।

'परमार्थ से बुरा जानकर' इस कथन का यदि कोई यह अर्थ करे कि 'व्यवहार से ठीक मानकर' तो यह अर्थ भी ठीक नहीं है। शुभ को तो व्यवहार से ठीक कहा जाता है, परन्तु अशुभ को व्यवहार से भी ठीक नहीं कहा जा सकता? बन्धन की अपेक्षा तो दोनों एक समान ही बुरे हैं। व्यवहार से ठीक कहने का अर्थ ही यह है कि परमार्थ से ठीक नहीं है। इसकारण यहाँ कहते है कि ज्ञानी शुभाशुभभाव के साथ राग अर्थात् अन्दर ही अन्दर चित्त में प्रीति नहीं करते तथा संसर्ग अर्थात् वाणी द्वारा प्रशंसा व काया द्वारा संकेतों से या हाथ वगैरह की चेष्टा से 'ये भाव ठीक है' – ऐसा व्यक्त नहीं करते।[१]

इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शुभभाव को छोड़कर अशुभभाव करना चाहिए। भाई! तुझे जो अनादि की शुभ की रुचि है, उसका त्याग कर दें; क्योंकि शुभभाव से धर्म होता है व शुभभाव धर्म है – यह मान्यता विपरीत है, मिथ्यात्व की शल्य है।[२]''

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का अर्थ लिखते हुए लिखते हैं –

''रूपलावण्य, सौभाग्य; कामदेव, इन्द्र, अहमिन्द्र; ख्याति, लाभ और पूजादि की भावना से, भोगों की आकांक्षा एवं निदान से जो व्यक्ति व्रत, तपश्चरण, दान, पूजादि करता है; वह पुरुष व्रतादिक को उसीप्रकार व्यर्थ खोता है, जिसप्रकार कोई व्यक्ति छाछ के लिए रत्न बेचता है, राख (भस्म) के लिए रत्नराशि को जलाता है, डोरे के लिए मोतियों के हार को पीस देता है, कोदों (कोद्रव) नाम के अति तुच्छ अनाज के उत्पादन के लिए अगर चन्दन के वन को काटता है; किन्तु शुद्धात्मानुभूति की साधना के लिए जो बाह्य व्रत,

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ५९
२. वही, पृष्ठ ६१

तप, दान और पूजादिक करता है, वह परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करता है - ऐसा भावार्थ है।

इसलिए कुशीलवाले शुभाशुभकर्मों के साथ मानसिक राग मत करो और बहिरंग वचन-कायगत संसर्ग भी मत करो; क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से अपनी स्वतंत्रता का, निर्विकल्प समाधि का, प्रयोजनभूत कार्य का और स्वाधीन आत्मसुख का नाश नियम से होता है।''

आचार्यदेव के उक्त आदेश के बाद ऐसा कौन है जो शुभाशुभभावों को और पुण्य-पापकर्मों को उपादेय मानेगा, मुक्ति का मार्ग मानेगा? •

स्वभाव के सामर्थ्य को देख !

देह में विराजमान, पर देह से भिन्न एक चेतनतत्त्व है। यद्यपि उस चेतनतत्त्व में मोह-राग-द्वेष की विकारी तरंगें उठती रहती हैं; तथापि वह ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व उनसे भिन्न परमपदार्थ है, जिसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। उस प्रगट होनेवाले धर्म को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा अन्तर में प्रगट हो, इसके लिए परमपदार्थ ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व की अनुभूति अत्यन्त आवश्यक है। उस अनुभूति को ही आत्मानुभूति कहते हैं। वह आत्मानुभूति जिसे प्रगट हो गई, 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान जिसे हो गया, वह शीघ्र ही भव-भ्रमण से छूट जायेगा। 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान ही भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान और आत्मानुभूति सिंह जैसी पर्याय में भी उत्पन्न हो सकती है और उत्पन्न होती भी है। अतः हे मृगराज ! तुझे इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

हे मृगराज ! तू पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य की ओर देख !

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ४७

समयसार गाथा – १५०

'सभीप्रकार का रागभाव बंध का कारण है' इस बात को युक्ति से सिद्ध करने के उपरान्त अब इसी बात की पुष्टि आगम से करते हैं। इस १५०वीं गाथा की उत्थानिका आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार लिखते हैं –

"**अथोभयं कर्म बन्धहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति** – अब यह बात आगम से सिद्ध करते हैं कि दोनों ही प्रकार के कर्म बंध के कारण हैं; इसकारण निषेध्य हैं।"

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

विरक्त शिवरमणी वरें अनुरक्त बाँधे कर्म को ।
जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो ॥१५०॥

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है; – यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है, इसलिए कर्मों (शुभाशुभ कर्मों) से राग मत करो।

इस महत्वपूर्ण गाथा की टीका आचार्य अमृतचन्द्र अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार लिखते हैं –

"रागी जीव कर्म बाँधता है वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है – यह आगमवचन सामान्यपने रागीपन की निमित्तता से शुभाशुभ दोनों कर्मों को अविशेषतया बंध का कारणरूप सिद्ध करता है और इसी कारण दोनों कर्मों का निषेध करता है।"

आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को विशेष खुलासा करते हुए तात्पर्यवृत्ति में कहते हैं कि शुभ और अशुभ – दोनों ही भाव न केवल बंध के ही हेतु हैं; अपितु हेय हैं, त्याज्य हैं, निषेध करने योग्य है।

इसके बाद वे पुण्य-पापाधिकार की अबतक की छह गाथाओं का उपसंहार करते हुए नयविभाग को स्पष्ट कर देते हैं, जो इसप्रकार है –

"यद्यपि अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यपुण्यपापों में भेद है और अशुद्धनिश्चयनय से उन दोनों से उत्पन्न इन्द्रियजन्य सुख-दुःख में भी भेद हैं; तथापि शुद्धनिश्चयनय से पुण्य-पाप में और उनसे उत्पन्न होने वाले इन्द्रियजन्य सुख-दुःख में कोई भेद नहीं है।"

प्रश्न : उत्थानिका में कहा गया था कि शुभ और अशुभ दोनों ही भाव कर्म बंध के कारण हैं – इस बात को अब आगम से सिद्ध करते हैं; किन्तु गाथा में किसी आगम वाक्य को प्रस्तुत न करके मात्र इतना ही कहा है कि 'रागी जीव बँधता है और विरागी मुक्त होता है – ऐसा जिनोपदेश है।' इसका क्या कारण है?

उत्तर : अरे भाई! जिनोपदेश ही तो आगम है। अतः इतना कहना ही पर्याप्त है।

प्रश्न : आगम का प्रमाण भी तो देना चाहिए था।

उत्तर : एक बात तो यह है कि आगम का उक्त कथन तत्कालीन समाज में सर्वजनप्रसिद्ध होने से किसी ग्रन्थ विशेष के उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं थी; और दूसरी बात यह भी तो है कि तत्कालीन युग में आगम को लिखित रूप दिया जाना आरंभ ही हुआ था, अधिकांश आगम मौखिक ही चल रहा था। अतः 'ऐसा जिनोपदेश है' – इतना लिखना ही पर्याप्त था।

'रागी जीव कर्म बाँधता है' इस वाक्य में समागत 'रागी' शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"यहाँ अस्थिरता जनित राग की बात नहीं है, यहाँ तो जिसको राग में एकत्वबुद्धि है, अहंबुद्धि है; उस मिथ्यादृष्टि को रागी कहा है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को भी अस्थिरता के कारण राग होता है; परन्तु वह राग में अनुरक्त नहीं होता, रुचिवन्त नहीं होता; इसकारण वह विरागी है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ६३

सामान्यरूप से दशवें गुणस्थान तक राग रहता है, इस अपेक्षा से वहाँ तक भी जीव रागी कहलाता है; परन्तु यहाँ वह अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो जिसको राग से प्रेम है, राग में स्वामीपना है व शुभराग में धर्मबुद्धि है, उसे राग-रक्त अर्थात् रागी कहा है।[1]

स्त्री-पुत्र, दुकान-धन्धा आदि वाह्य सामग्री छोड़ देने मात्र से कोई वैरागी नहीं कहा जा सकता। यहाँ तो यह कहा है कि जिसके अन्तर में से राग की, पर की रुचि छूट गई है और जिसको आनन्द के साथ वीतराग-स्वभावी शुद्ध चैतन्यमय आत्मा की दृष्टि, रुचि, ज्ञान व अनुभव हुआ है – वही विरक्त अर्थात् विरागी है, वही कर्म से छूटता है, – ऐसा आगम वचन है।[2]

कुछ लोग कहते हैं कि जो केवल अशुभ राग में रचे-पचे रहते हैं, उनको शुभराग करने को कहें तो क्या वाधा है?

भाई! शुभराग कोई नवीन वस्तु नहीं है। अनादि से यह शुभाशुभ भाव तो करता ही आया है। जब निगोद में था, तब भी शुभाशुभ भाव के परिणाम होते थे। करणानुयोग के कथनानुसार सभी जीवों को क्षण-क्षण शुभाशुभ भाव झूले के झूलने की तरह होते ही रहते हैं। आज भी निगोद में ऐसे अनन्त जीव हैं, जिन्होंने आज तक कभी भी त्रस पर्याय नहीं पाई, उन्हें भी क्रमशः शुभाशुभभाव होते ही रहते हैं। सभी जीवों को शुभाशुभ भावों की धारा निरन्तर चालू रहती है। वहाँ यद्यपि दया, दान, पूजा-भक्ति आदि क्रियायें नहीं हैं, परन्तु शुभ व अशुभ भाव तो वहाँ भी हुआ ही करते हैं।

इस तरह आचार्य कहते हैं कि भाई! शुभाशुभ भाव कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। आत्मभान बिना अज्ञानी ने नववें ग्रैवेयक तक जाने योग्य शुक्ललेश्या के शुभभाव भी अनंत वार किये हैं, परन्तु उनसे क्या लाभ हुआ? रंचमात्र भी दुःख कम नहीं हुआ।

शुभभाव से पुण्य बंधा, मनुष्य पर्याय मिली, मनुष्य पर्याय में धर्म सुनने-समझने का अवसर मिला – यह लाभ तो शुभभाव से ही हुआ न ?

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ६३
२. वही, पृष्ठ ६३-६४

बापू! ऐसा अवसर तो अनंतबार मिला, परन्तु राग का प्रेम छूटे बिना सब सुना-सुनाया, करा-कराया निरर्थक ही रहा; क्योंकि चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों का तात्पर्य तो एक वीतरागता ही है। शास्त्र सुनकर भी यदि राग की रुचि नहीं छूटी और स्वभाव की दृष्टि नहीं हुई तो शास्त्र का मूल तात्पर्य नहीं जाना।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यहाँ रागी शब्द का अर्थ सामान्य राग नहीं लेना, अपितु शुभाशुभराग में एकत्व-ममत्व बुद्धिरूप राग लेना चाहिए, रागभावों का स्वयं को कर्ता-भोक्ता माननेरूप राग लेना चाहिए तथा शुभभावों में धर्म माननेरूप राग लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व संबंधी राग लेना चाहिए। शुभराग को धर्म मानना ही मिथ्यात्व है और उसी को यहाँ राग कहा गया है। ऐसे राग से संयुक्त जीव रागी है तथा वही कर्मों को बाँधता है और कर्मों से बंधता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि अशुभभावों के समान शुभभाव भी बंध के कारण होने से मोक्ष के हेतु नहीं हैं; मोक्ष का हेतु तो एकमात्र वीतरागभाव ही है, ज्ञानभाव ही है।

अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव इसी भाव के पोषक दो कलश लिखते हैं, जो इसप्रकार है :-

(स्वागता)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

(दोहा)

जिनवाणी का मर्म यह बंध करे सब कर्म ।
मुक्तिहेतु बस एक ही आत्मज्ञानमय धर्म ॥१०३॥

सर्वज्ञदेव समस्त शुभाशुभ कर्मों को समान रूप से ही बंध का कारण कहते हैं; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने समस्त शुभाशुभकर्मों का ही निषेध किया है और ज्ञान को मुक्ति का हेतु कहा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ६४-६५

कविवर पंडित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस छोटे से छन्द का इकतीसा सवैया जैसे बड़े छन्द में भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(इकतीसा सवैया)

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषै-भोग है ।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल,
वस्तु के विचारत दुविध कर्मरोग है ॥
ऐसी बंध पद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरम मैं करम त्याग-जोग है ।
भौ-जल-तरैया राग-द्वेष कौ हरैया महा,
मोख को करैया एक सुद्ध उपयोग है ॥

शील, तप, संयम, व्रत, दान और पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय और विषय-भोग; यद्यपि इनमें से कोई तो शुभभावरूप हैं और कोई अशुभभाव रूप हैं; तथापि मूलवस्तु के विचार करने पर, वस्तु के मूल स्वरूप का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं। वीतरागी अरहंत भगवान ने बंधपद्धति का ऐसा स्वरूप बताया है और कहा है कि आत्मधर्म में, आत्मा के धर्म में तो सभी कर्म त्याग करने योग्य ही हैं। संसाररूपी समुद्र से पार उतारने वाला, राग-द्वेष का हरण करने वाला – नाश करने वाला, महान मोक्ष का करने वाला तो एक शुद्धोपयोग ही है।

देखो, इस छन्द में शील, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा रूप शुभभावों और विषय-भोग, कषाय और असंयम को एक ही पंक्ति में रखा है, एक समान ही हेय बताया है। संस्कृत के मूल छन्द में तो 'सभी कर्म' मात्र इतना ही संकेत किया था; किन्तु इस भावानुवाद में उन सभी शुभाशुभकर्मों के नाम गिना दिये हैं। मूल छन्द में ज्ञान को शिवहेतु कहा था और यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ शुद्धोपयोग किया है। 'एक शुद्धोपयोग ही मोक्ष का करने वाला है' – इसका भाव ही यह है कि अशुभोपयोग के समान शुभोपयोग भी बंध का ही कारण है, मुक्ति का कारण नहीं।

बनारसीदासजी इस छन्द में कहते हैं कि भले ही लौकिक दृष्टि से अथवा जिनागम में भी व्यवहारनय से शुभभाव को अच्छा कहा जाता हो; परन्तु आत्मधर्म में, आत्मसाधना के मार्ग में तो सभी शुभाशुभकर्म त्यागने योग्य ही हैं।

देखो, यहाँ शुभ और अशुभ दोनों ही भावों को कर्मरूपी रोग कहा है। इसी ग्रन्थ के आरंभ में इस ग्रन्थ में समागत मूल शब्दों के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं, नाममाला दी गई है; उसमें पुण्य के नामों में **अकररोग** और पाप के नामों में **कंपरोग** दिये गये हैं, जो इसप्रकार है –

(दोहा)

पुन्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म।
सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म॥
पाप अधोमुख एन अघ, कंपरोग दुखधाम।
कलिल कलुस किल्विस दुरित, असुभकरम के नाम॥

पुण्य, सुकृत, उर्ध्ववदन, **अकररोग**, शुभकर्म, सुखदायक, भाग्य, संसारफल, वर्हिमुख और धर्म – ये सभी पुण्य के नाम हैं।

पाप, अधोमुख, एन, अध, **कंपरोग**, दुखधाम, कलिल, कलुष, किल्विष, दुरित और अशुभकर्म – ये सभी पाप के नाम हैं।

अकर माने अकड़! पुण्य के उदय में लोग अभिमानी होकर अकड़ने लगते हैं, इसकारण पुण्य को अकररोग अर्थात् अकड़रोग कहा जाता है और पाप के उदय में डर के मारे लोग कांपने लगते हैं, इसकारण पाप को कंपरोग कहा जाता है।

उक्त कलश पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"यह बात सामान्यजनों को सहज भाव से स्वीकृत नहीं होती, इसलिये आचार्यदेव ने सर्वज्ञ के आधार से यह बात कहीं है। वर्तमान में बहुत गड़बड़ी चल रही है। अधिकांश जन व्रत, तप, भक्ति आदि बाह्यक्रियाओं में ही धर्म मानकर अटके हैं। कहते हैं कि यही सब करते-करते मोक्षमार्ग व मोक्ष हो

जायेगा; परन्तु भाई! ये सब तो शुभभाव हैं, इन्हें सर्वज्ञ भगवान ने बंध का कारण कहा है।[१]

चारों अनुयोगों में एक ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा गया है। शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा में ही एकाग्र होकर श्रद्धान-ज्ञान व रमणता प्रगट करना ही मोक्षमार्ग है। स्वभाव से तो आत्मा स्वयं त्रिकाल ज्ञानस्वरूप ही है, किन्तु वर्तमान में उस त्रिकाली ज्ञानस्वरूप आत्मा में एकाग्रता करना ही 'ज्ञानमेव' का अर्थ है।

'ज्ञानमेव' कहकर आचार्यदेव ने यहाँ वर्तमान पर्याय में शुद्धरत्नत्रयरूप होने की बात की है। भगवान आत्मा जो त्रिकाली ध्रुव ज्ञानस्वभावी वस्तु है, उनमें एकाग्रता करना मोक्ष का कारण है। अशुभ की भांति शुभ भी बंध का कारण होने से धर्म का कारण नहीं हो सकता; अतः मोक्षमार्ग में उसका निषेध किया गया है।[२]''

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि मुक्ति के मार्ग में सभी कर्म त्याग करने योग्य हैं तो फिर मुक्तिमार्ग के पथिक मुनिराज क्या करेंगे; क्योंकि उन्हें तो करने को कुछ रहा ही नहीं?

इसी प्रश्न के उत्तर में आगामी कलश में दिया गया है, जो इसप्रकार है –

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरताः ॥ १०४॥

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से ।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव से ॥
अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते ।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥ १०४॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ६९
२. वही, पृष्ठ ७०

सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) – सभी प्रकार के कर्मों का निषेध किये जाने पर निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तमान निवृत्तिमय जीवन जीने वाले मुनिजन कहीं अशरण नहीं हो जाते; क्योंकि निष्कर्म अवस्था में ज्ञान में आचरण करता हुआ, रमण करता हुआ, परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनिराजों की परम शरण है। वे मुनिराज स्वयं ही उस ज्ञानस्वभाव में लीन रहते हुए परमामृत का पान करते हैं, अतीन्द्रियानन्द का अनुभव करते हैं, स्वाद लेते हैं।

उक्त छन्द में आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि कोई व्यक्ति यह कहे कि यदि हम शुभ और अशुभ दोनों ही भावों का निषेध कर देंगे तो फिर सर्व कार्यों से निवृत्ति ले लेने वाले मुनिराज क्या करेंगे? उन्हें तो कोई काम ही नहीं रहेगा।

आचार्यदेव का यह सोचना गलत भी नहीं है; क्योंकि हम आज भी लोगों को इसप्रकार की चर्चा करते देखते हैं। स्वयं को मुनि मानने वाले अनेक लोग आज भी शुभकार्यों में संलग्न देखे जाते हैं। वे शुभभावों और शुभप्रवृत्ति को ही धर्म मानते हैं, जानते हैं और उसमें ही धर्म मानकर नित्य प्रवृत्त रहते हैं।

ऐसे लोगों को समझाने की भावना से उक्त छन्द की रचना हुई है, जिसमें आचार्यदेव कहते हैं कि उनके लिए तो रमण करने के लिए उनका ज्ञानस्वभावी आत्मा सदा उनके पास ही विद्यमान है, वे तो निरन्तर अपने आत्मा में ही रमण करते हैं, वे निठल्ले नहीं हैं। वे सदा ही अपने आत्मा की आराधना में लीन रहते हैं, उन्हें शुभाशुभभाव करने की, शुभाशुभ प्रवृत्ति करने की फुर्सत ही कहाँ हैं ?

अरे भाई! शुभभाव मुनियों की शरण नहीं है, उनका शरण तो उनका ही भगवान आत्मा है। आत्मा का ज्ञान, आत्मा का श्रद्धान और आत्मा का ध्यान – ये ऐसे महान कार्य हैं, जिनमें मुनिराज निरन्तर व्यस्त रहते हैं। शुभभावों में शरण खोजने की उन्हें रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

उक्त कलश का भाव स्पष्ट करते हुए पंडितजी जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"किसी को यह शंका हो सकती है कि जब सुकृत और दुष्कृत – दोनों का ही निषेध कर दिया गया है, तब फिर मुनियों को कुछ भी करना शेष नहीं रहता; इसलिये वे किसके आश्रय से या किस आलम्बन के द्वारा मुनित्व का पालन कर सकेंगे?

आचार्यदेव ने उसके समाधानार्थ कहा है कि समस्त कर्मों का त्याग हो जाने पर ज्ञान ही महाशरण है। उस ज्ञान में लीन होने पर सर्व आकुलता से रहित परमानन्द का भोग होता है, जिसके स्वाद को ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी कषायी जीव कर्मों को ही सर्वस्व जानकर उन्हीं में लीन हो रहे हैं, वे ज्ञानानन्द के स्वाद को नहीं जानते।"

शुभभाव को ही धर्म मानने वालों को यह चिन्ता सताती है कि यदि शुभभाव का भी निषेध करेंगे तो मुनिराज अशरण हो जावेंगे, उन्हें करने के लिए कोई काम नहीं रहेगा। आत्मा के ज्ञान, ध्यान और श्रद्धानमय वीतरागभाव की खबर न होने से ही अज्ञानियों को ऐसे विकल्प उठते हैं; किन्तु शुभभाव होना कोई अपूर्व उपलब्धि नहीं हैं; क्योंकि शुभभाव तो इस जीव को अनेक बार हुए हैं, पर उनसे भव का अन्त नहीं आया। यदि शुभभाव नहीं हुए होते तो यह मनुष्य भव ही नहीं मिलता। यह मनुष्य भव और ये अनुकूल संयोग ही यह बात बताते हैं कि हमने पूर्व में अनेक प्रकार के शुभभाव किये हैं; पर दु:खों का अन्त नहीं आया है। अत: अब एक बार गंभीरता से विचार करके यह निर्णय करें कि शुभभाव में धर्म नहीं है, शुभभाव कर्तव्य नहीं है; धर्म तो वीतरागभावरूप ही है और एकमात्र कर्त्तव्य भी वही है। वे वीतरागभाव आत्मा के आश्रय से होते हैं; अत: अपना आत्मा ही परमशरण है। जिन मुनिराजों को निज भगवान आत्मा का परमशरण प्राप्त है, उन्हें अशरण समझना हमारे अज्ञान को ही प्रदर्शित करता है।

इस कलश पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"यह बात लौकिक जनों की समझ में नहीं आती, उनके चित्त में आसानी से नहीं बैठती; इसकारण बेचारे वे अनंतकाल से शुभाशुभ कर्म में ही अटके

हैं; परन्तु भाई। शुभाशुभभाव कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। ये भाव तो निगोद के जीवों को भी नित्य हुआ करते हैं।

कन्द-मूल की एक राई बराबर टुकड़े में भी असंख्य औदारिक शरीर होते हैं और प्रत्येक शरीर में शक्ति अपेक्षा भगवानस्वरूप चैतन्यस्वभावमय अनंत निगोदिया जीव रहते हैं। यद्यपि वहाँ उन्हें देव-शास्त्र-गुरु का योग नहीं है तथा दानादि शुभ व्यवहार भी सम्भव नहीं है; तथापि प्रत्येक जीव को क्षण-क्षण में अशुभ-शुभभाव हुआ करते हैं। ऐसी शुभाशुभभावरूप कर्मधारा उनके निरन्तर चलती रहती है; अतः शुभाशुभभाव किसी को कोई नवीन वस्तु नहीं है।[१]

अट्ठाइस मूलगुणरूप शुभाचरण पुण्यबंध का कारण है, धर्म तो इससे भिन्न चैतन्यमूर्ति, सहजानन्दस्वभावी परमपदार्थ आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है; अतः वही एकमात्र परमशरणभूत है। मुनिवर जिस निर्मल परिणति द्वारा स्वभाव की दृष्टि व लीनता करते हैं, उस वीतराग परिणति को एकमात्र शरण त्रिकाल शुद्ध आत्मद्रव्य ही है। त्रिकाली ध्रुव आत्मवस्तु, जो सच्चिदानन्द, पूर्णानन्द, सहजानन्द, अकृत्रिम, सहजात्मस्वरूप, अविनाशी, अनंत गुणधाम सदा ही अपने अन्दर विद्यमान है, उसका आश्रय करके उसी में लीन होना ही सच्ची शरण है।[२]

धर्म तो उसे ही कहते हैं, जिसमें आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द रस का वेदन होता है। शुभाशुभभाव तो कर्मरस है, उसका स्वाद जहर का स्वाद है। शुद्ध की अपेक्षा से दोनों जहर हैं। अशुभ तीव्र जहर है व शुभ मंद जहर है; किन्तु हैं दोनों ही जहर; इसलिये दोनों का ही निषेध किया गया है। एक शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप आत्मा में लीनता करना ही अमृतस्वरूप का स्वाद है और यही धर्म है।[३]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ७३-७४
२. वही, पृष्ठ ७९
३. वही, पृष्ठ ७९

आचार्य अमृतचन्द्र के मूल कलश में 'मुनयः' शब्द ही है, किन्तु बनारसीदासजी उनमें सम्यग्दृष्टि एवं व्रती ग्रहस्थों को भी ले लेते हैं, जो कि उनके निम्नांकित छन्द से स्पष्ट ही है –

(सवैया इकतीसा)

सिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी है निषेध मेरे संसै मन मांही है ।
मोखके सधैया ग्याता देसविरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही है ॥
कहै गुरु करम कौ नास अनुभौ अभ्यास,
ऐसौ अवलंब उनही कौ उन पांही है ।
निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप,
और दौर धूप पुद्गल परछांही है ॥८॥

शिष्य कहता है कि हे स्वामी! आपने शुभ और अशुभ – दोनों ही कार्यों का निषेध कर दिया है; इससे मेरे मन में यह संशय उत्पन्न हो गया है कि मोक्ष की साधना करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती श्रावकों तथा मुनिराजों की अवस्था तो अवम्बन रहित नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी श्रावकों और मुनिराजों का अवलम्बन तो शुभभाव ही हैं, फिर आप उनका निषेध क्यों करते हो ?

शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में गुरुदेव कहते हैं कि कर्मों का नाश करने वाला तो अपने आत्मा का अनुभव है और ज्ञानी श्रावक व मुनिराज उसका अभ्यास निरन्तर करते ही हैं; इसप्रकार यह वास्तविक अवलम्बन उनका उनके पास है ही। आधि, व्याधि और उपाधि से रहित, निर्विकल्प आत्मसमाधि ही शिवरूप है, कल्याणस्वरूप है, कल्याण करने वाली है; इसके अतिरिक्त सभी प्रकार की दौड़धूप (क्रियाकाण्ड) पुदगल की परिछाई है, पुद्गल का परिणमन है, उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता।

प्रश्न : जब मूल कलश में मात्र मुनियों का ही उल्लेख है तो फिर बनारसीदासजी ने श्रावकों को भी क्यों शामिल कर लिया है?

उत्तर : उक्त बात सभी सम्यग्दृष्टि श्रावकों और मुनिराजों पर समान रूप से घटित होती है; किन्तु आचार्य अमृतचन्द स्वयं मुनिराज होने से उन्होंने अकेले मुनियों का ही उल्लेख किया है और बनारसीदासजी स्वयं ग्रहस्थ थे; अत: उन्होंने ग्रहस्थों का भी उल्लेख कर दिया। अत: इसमें कोई दोष नहीं है।

इसप्रकार इन १०३ व १०४ कलश में यह सिद्ध किया गया है कि मुक्ति का हेतु एकमात्र ज्ञान ही है। •

परमात्मा आत्मज्ञ होने के साथ-साथ सर्वज्ञ भी होते हैं तथा प्रत्येक आत्मा भी परमात्मा के समान आत्मज्ञ व सर्वज्ञस्वभावी है। वीतरागी परमात्मा की निरक्षरी दिव्यध्वनि में आत्मा के समान सर्वलोक का प्रतिपादन भी सहज होता है। उस दिव्यध्वनि के आधार पर गणधरदेवादि आचार्य परम्परा द्वारा जिन शास्त्रों का निर्माण होता है, उनमें भी आत्मा के साथ-साथ सर्व लोक का भी प्रतिपादन होता है। उनमें से जिनमें आत्मा आदि प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों की चर्चा होती है, वे अध्यात्मशास्त्र कहे जाते हैं और जिनमें सर्व जगत की व सर्व प्रकार की चर्चाएं होती हैं, उन्हें आगम कहते हैं। आगम और अध्यात्म - दोनों को मिलाकर भी आगम कहा जाता है।

इसप्रकार आगम और अध्यात्म - दोनों ही भगवान की वाणी है। उनमें हीनाधिक का भेद करना उचित नहीं है; तथापि बुद्धि की अल्पता और समय की कमी आदि के अनुसार प्राथमिकता का निर्णय तो करना ही होगा। इस प्रक्रिया में प्रयोजनभूत पदार्थों को सहज प्राथमिकता प्राप्त होने से आत्मार्थी की दृष्टि में आगम की अपेक्षा अध्यात्म को सहज प्राथमिकता प्राप्त हो जाती है। बस बात इतनी ही है, परन्तु इसमें आगम के प्रतिपादन या अध्ययन की निरर्थकता खोजना बुद्धिमानी का काम नहीं है।

- परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ १८०

समयसार गाथा १५१

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ १५१ ॥

परमार्थ है है ज्ञानमय है समय शुध मुनि केवली ।
इसमें रहें थिर अचल जो निर्वाण पावें वे मुनी ॥ १५१ ॥

जो निश्चय से परमार्थ (परम पदार्थ) है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है; उस स्वभाव में स्थित मुनिजन निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

इस गाथा में एक त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को ही परमार्थ, समय, शुद्ध, केवली, मुनि और ज्ञानी शब्दों से अभिहित किया गया है और अन्त में कहा गया है कि इस ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा के स्वभाव में स्थित मुनिराज ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त भगवान आत्मा की अनुभूतिपूर्वक उसी में अपनापन स्थापित करने वाले, उसी को निजरूप जानने वाले और उसी के जमने-रमने वाले मुनिराज ही अनन्त-आनन्दमय मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''ज्ञान मोक्ष का कारण है; क्योंकि वह शुभाशुभ कर्मों के बंध का कारण नहीं है; इस कारण उसके मोक्ष का कारणपना बनता है। वह ज्ञान कर्म आदि अन्य समस्त जातियों से भिन्न चैतन्यजातिमात्र परमार्थ है, परमपदार्थ है, आत्मा है। वह ज्ञान अर्थात् आत्मा एक ही साथ एकरूप से प्रवर्त्तमान ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होने से समय है, समस्त नयपक्षों से अमिश्रित एक ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध है, केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होने से केवली है, केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र) भावस्वरूप होने से मुनि है, स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है, स्व का भवनमात्रस्वरूप होने से स्वभाव है अथवा स्वत: चैतन्य का भवनमात्र स्वरूप होने से सद्भाव है। इसप्रकार शब्द भेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है।''

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि गाथा की दूसरी पंक्ति में समागत 'सहाव' पद के आत्मख्याति में स्वभाव और सद्भाव – ऐसे दो अर्थ किये गये हैं और 'सहाव' पद को छोड़कर शेष पंक्ति का अर्थ ही नहीं किया है।

आचार्य जयसेन इस गाथा के स्पष्टीकरण में जो कुछ कहते हैं, उसका भावार्थ इसप्रकार है–

"परमार्थ माने उत्कृष्ट पदार्थ; अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थों में सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थरूप पदार्थ; अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान पर्यायों से रहित निश्चयनय का विषयभूत परमात्मा ही परमार्थ है। इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत आत्मा ही परमार्थ है।

वह ज्ञानस्वभावी आत्मा एक ही साथ अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होने से, गुण-पर्यायों में परिणमित होने से समय है; अथवा संशयादिरहित ज्ञानवाला होने से समय है अथवा परमसमरसीभाव से अपने शुद्धस्वरूप में जाने – गमन करने, परिणमन करने के कारण समय है।

वह आत्मा रागादिभावकर्मों से रहित होने से शुद्ध है, परद्रव्यों की सहायता से रहित होने के कारण केवली है, विशुद्धज्ञान वाला होने से ज्ञानी हैं।

इसप्रकार उक्त विशेषणों से कहे जाने वाले आत्मस्वभाव में स्थित, वीतराग स्वसंवेदनज्ञान में रत तपस्वी मुनिराज निर्वाण को प्राप्त करते हैं।"

आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति – दोनों ही टीकाओं में आत्मा के उक्त विशेषणों की जो व्याख्या की गई है, उसका सरलभाषा में सार इसप्रकार है –

अपना यह आत्मा परम पदार्थ होने से, सर्वोत्कृष्ट पदार्थ होने से परमार्थ है; अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होने से और एक ही साथ जानने और परिणमने वाला होने से समय है अथवा संशयादिरहित ज्ञानवाला होने से और परम समरसीभाव से अपने शुद्धस्वभाव में परिणमित होने से समय है; समस्त नयपक्षों से पार एक ज्ञानस्वरूप होने से और रागादिभावकर्मों से रहित होने से शुद्ध है; केवल चिन्मात्र वस्तु होने और परकी सहायता की अपेक्षा से रहित होने से केवली है; केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र) भावस्वरूप होने से मुनि है और स्वयं विशुद्ध ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है।

ऐसे स्वभाववाले अस्तित्वमय इस भगवान आत्मा का आश्रय करने वाले मुनिराज ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

उक्त गाथा में मुनि शब्द दो वार आया है। ऊपर पंक्ति में समागत मुनि शब्द आत्मा का विशेषण है और दूसरी पंक्ति में समागत मुनि शब्द सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विभूषित मुनिराजों के अर्थ में है। इसीप्रकार प्रथम पंक्ति में समागत केवली और ज्ञानी पद भी आत्मद्रव्य के वाचक हैं, केवलज्ञान और सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय के वाचक नहीं। ध्यान रहे यहाँ केवली और ज्ञानी शब्दों का प्रयोग केवलज्ञान या सम्यग्ज्ञान से सहित आत्मा के अर्थ में न होकर, केवलज्ञान और सम्यग्ज्ञान से भिन्न केवलज्ञानस्वभावी अर्थात् सर्वज्ञस्वभावी और ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा के अर्थ में हुआ है। तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा ज्ञान शक्ति और सर्वज्ञत्व शक्ति से सम्पन्न है।

प्रश्न : यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उत्थानिका में ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु कहा था और टीका में भी आरंभ में ही ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है तथा गाथा की प्रथम पंक्ति में समागत विशेषणों को ज्ञान के ही विशेषण बताकर दूसरी पंक्ति में उस ज्ञान का आश्रय करने वाले मुनिराजों को ही निर्वाण की प्राप्ति बताई गई है। इसप्रकार यहाँ ज्ञान को अर्थात् ज्ञानस्वभावी निजभगवान आत्मा को अथवा आत्मा को जानने वाले ज्ञान को ही मुक्ति का कारण बताया गया है तथा जिनागम में अन्यत्र लगभग सर्वत्र ही रत्नत्रय को ही मुक्ति का कारण बताया गया है। अत: प्रश्न यह है कि ज्ञानस्वभावी आत्मा मुक्ति का कारण है या उसे जानने वाली ज्ञानपर्याय या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म ?

उत्तर : ज्ञान शब्द का प्रयोग विशेषरूप से तीन अर्थों में होता है - (१) ज्ञानस्वभावी आत्मद्रव्य (२) ज्ञानगुण और (३) जाननेरूप ज्ञानपर्याय।

जब ज्ञानस्वभावी आत्मद्रव्य के अर्थ में ज्ञान शब्द का प्रयोग हो और उसे मुक्ति का कारण बताया जाय तो उसका आशय यह समझना चाहिए कि ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से मुक्ति मार्ग में गमन होता है। इसकारण उसे मुक्ति का हेतु कहा जा रहा है।

आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है - यह तो सर्वमान्य अकाट्य सिद्धान्त है। इसी की व्याख्या में तीनप्रकार से कथन किया

जाता है कि जब आश्रयभूत आत्मद्रव्य पर वजन दिया जाता है तब यह कहा जाता है एक ज्ञानस्वभावी आत्मा ही मुक्ति का हेतु हैं; किन्तु जब आत्मा के आश्रय से उत्पन्न पर्यायों पर वजन डाला जाता है तो कहा जाता है कि आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है।

जब अकेली ज्ञान पर्याय को मुक्ति का हेतु कहा जाय तो यह समझना चाहिए कि उसमें श्रद्धा और चारित्र गुण की निर्मल परिणति भी शामिल ही है; क्योंकि जब ज्ञानगुण आत्मसम्मुख होता है और त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को ज्ञेय बनाता है तो साथ में श्रद्धागुण भी आत्मसम्मुख होकर त्रिकाली ध्रुव आत्मा में अपनापन स्थापित कर लेता है और चारित्र गुण में आंशिक शुद्धता प्रगट हो जाती है। आत्मा ज्ञान का ज्ञेय बनते ही ध्यान का ध्येय भी बन जाता है। इसप्रकार इन तीन गुणों निर्मलता एक साथ ही प्रगट होती है। इसकारण एक के कहने में तीनों का समावेश भी सहज हो जाता है।

इस बात का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं -

"ज्ञान ही मोक्ष का कारण है; क्योंकि वह शुभाशुभकर्मों के बन्ध का कारण नहीं है। - यह कहकर आचार्यदेव यहाँ यह कहना चाहते हैं कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानादिरूप निर्मल परिणति ही मोक्ष का कारण है। अपने ही अन्तर में विराजमान चिदानन्दमय परमपवित्र भगवान आत्मा में दृष्टि व लीनता करने से अपनी पर्याय में जो निर्विकल्प ज्ञान व आनन्द का स्वाद आता है, वह मोक्ष का कारण है।

देखो, सम्यग्दर्शन होने के बाद भी धर्मीजीव को भक्ति, पूजा, यात्रा आदि के शुभभाव आते हैं, परन्तु ये सब शुभभाव ज्ञानी की दृष्टि में हेय हैं। जब वह अन्तर में लीन नहीं रह पाता, तब अशुभ से बचने के लिये शुभभाव भी आते हैं, परन्तु वह उनको आदरणीय व मोक्ष का कारण नहीं जानता।[१]

देखो, अस्ति-नास्ति से कहें तो ज्ञान मोक्ष का कारण है और शुभाशुभरूप कर्मों के बन्धन का कारण नहीं है। ज्ञान कर्मबन्ध का कारण नहीं है, इसीकारण उसे मोक्ष का कारणपना बनता है। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टास्वभाववाला है।

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ८३

ज्ञान-दर्शनरूप परिणमित होना ही इसका परिणमन है तथा यह परिणमन ही मोक्ष का कारण है बन्धभाव में अंशमात्र भी मोक्षमार्ग नहीं और मोक्षमार्ग में अंशमात्र बन्ध का अस्तित्व नहीं है। शुद्धचैतन्य स्वभाव में ज्ञान-श्रद्धान व रमणतारूप चैतन्य की परिणति मोक्ष का कारण है; क्योंकि बन्ध के कारणरूप शुभाशुभभाव का इसमें अभाव है। इसप्रकार भगवान आत्मा के ज्ञानानंद स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान व रमणता – यह एक ही मोक्ष का कारण है।[१]

तात्पर्य यह है कि मोक्ष का मूल उपादान, शुद्ध उपादान तो आत्मा ही है। तथा परमार्थ से आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। ज्ञान है, वह आत्मा है और आत्मा है, वह ज्ञान है। आत्मा के सब गुणों में ज्ञानगुण की यह विशेषता है कि ज्ञान स्वयं अपने को जानता है और पर को भी जानता है। विकल्प-राग बिना मात्र जाने – ऐसा इसका स्वभाव है, तथा विकल्पपूर्वक (भेद करके) जाने ऐसा भी इसका स्वभाव है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी होने से आत्मा ज्ञान है और ज्ञान आत्मा है।

इसलिए ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहना योग्य है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और उसका परिणमन ही मोक्ष का कारण है। जो मोक्ष का कारण है, वह ज्ञान का ही परिणमन है, राग का नहीं।[२]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ ज्ञान को मोक्ष का हेतु कहना उचित ही है। जिनवाणी में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं से विभिन्न कथन आते हैं। अत: बड़ी ही सावधानीपूर्वक जहाँ जो अपेक्षा हो, उसी को यथार्थ ग्रहण करना चाहिए।

ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु कहने को उचित ठहराते हुए पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

''मोक्ष का उपादान तो आत्मा ही है। परमार्थ से आत्मा का ज्ञान स्वभाव है; जो ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान है। इसलिए ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहना योग्य है।''

अब इसी बात को आगामी गाथाओं द्वारा पुष्ट करेंगे। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ८४
२. वही, पृष्ठ ९१

समयसार गाथा १५२-१५३

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू ॥ १५२॥
वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

परमार्थ से हों दूर पर तप करें व्रत धारण करें ।
सब बालतप हैं बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें ॥ १५२॥
व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें ।
पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ति करें ॥ १५३॥

परमार्थ में अस्थित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सभी तप और व्रतों को सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं।

जो परमार्थ से बाह्य हैं, वे व्रत और नियमों को धारण करते हुए भी शील और तप को करते हुए भी निर्वाण को प्राप्त नहीं करते।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं अथवा परमार्थ में अस्थित हैं; त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को नहीं जानते हैं; उनके व्रत, नियम, तप, शील - सभी व्यर्थ हैं; क्योंकि उन्हें आत्मज्ञान बिना मात्र इनसे ही मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जो जीव परमार्थभूत ज्ञान से रहित हैं, उनके द्वारा अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप आदि सभी कार्य कर्मबंध के कारण हैं, मुक्ति के कारण नहीं; इसलिए आगम में भी उनके इन कार्यों को बालसंज्ञा देकर उनका निषेध किया गया है और ज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहा गया है।

ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है; क्योंकि ज्ञान के अभाव में स्वयं ही अज्ञानरूप होने वाले अज्ञानियों के व्रत, तप, शील, संयम आदि शुभकर्मों का सद्भाव

होने पर भी मोक्ष का अभाव है। इसीप्रकार अज्ञान ही बंध का कारण है; क्योंकि उसके अभाव में स्वयं ही ज्ञानरूप होने वाले ज्ञानियों के वाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्मों का अभाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।''

तात्पर्य यह है कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से संयुक्त ज्ञानीजन व्रत, तप, शीलादि के बिना भी मुक्त होते देखे जाते हैं और आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से शून्य अज्ञानीजन व्रतनियमादि का पालन करते हुए भी मुक्त नहीं होते; इसकारण यह सहज ही सिद्ध है कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान रूप आत्मज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र हेतु है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान के सद्भाव में ज्ञानियों को व्रत, नियम, शील व तपादि के बिना भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है तो फिर तो ज्ञानियों का विषय-व्यापार में प्रवृत्त होना भी पाप नहीं होगा; क्योंकि व्रत-नियमादि में विषय-व्यापार का ही तो त्याग होता है। विषय-व्यापार के त्याग का नाम ही तो व्रत है, नियम है, शील है।

आचार्य जयसेन ने स्वयं इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित कर, इसका तर्कसंगत उत्तर दिया है; जो इसप्रकार है -

''**शंका** - व्रत, नियम, शील एवं बहिरंग तपश्चरणादिक के बिना भी यदि मोक्ष होता है तो फिर तो संकल्प-विकल्प रहित ज्ञानियों का विषय-व्यापार में रहना भी पाप नहीं होगा और यदि तपश्चरण के अभाव में भी मोक्ष होता है तो इससे तो सांख्य और शैवमत की ही सिद्धि होगी।

समाधान - यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यह तो हम अनेक वार कह चुके हैं कि निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षण भेदज्ञान सहित जीवों को मोक्ष होता है। इसप्रकार के भेदज्ञान के समय तो मन, वचन और काय का वह शुभरूप व्यापार भी नहीं रहता, जिसे परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है; तो फिर विषय-कषायरूप अशुभ व्यापार के होने का सवाल ही कहाँ रहता है ?

जिसप्रकार चावल के अंतरंग तुष (लालकण) के चले जाने पर बहिरंग तुष (छिलका) नहीं रह सकता; उसीप्रकार चित्त में स्थित रागभाव के नष्ट हो जाने पर बहिरंग विषय-व्यापार भी दिखाई नहीं देता।

जिसप्रकार परस्पर विरुद्धस्वभाववाले होने से जहाँ शीतलता होती है, वहाँ उष्णता नहीं होती और जहाँ उष्णता होती है, वहाँ शीतलता नहीं होती; उसीप्रकार परस्पर विरुद्धस्वभाववाले होने से जहाँ-जहाँ निर्विकल्पसमाधिलक्षण भेदविज्ञान होता है, वहाँ विषय-कषायरूप व्यापार नहीं होता और जहाँ विषय-कषायरूप व्यापार होता है, वहाँ निर्विकल्प समाधिलक्षण भेदविज्ञान नहीं होता।"

तात्पर्य यह है कि मुक्ति का साक्षात् कारण तो शुद्धोपयोगरूप दशा है और शुद्धोपयोगरूप दशा में जब वह शुभोपयोग भी नहीं रहता, जिसे परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है; तो फिर अशुभोपयोग के रहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। शुद्धोपयोग तो शुभोपयोग और अशुभोपयोग तथा शुभ प्रवृत्ति और अशुभ प्रवृत्ति - इन सभी के अभाव में उत्पन्न होने वाली स्थिति है।

इसप्रकार इन गाथाओं में भी यही कहा गया है कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। अब आगामी कलश में भी इसी बात को पुष्ट करते हैं -

(शिखरिणी)

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ॥
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत् ।
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥ १०५॥

(रोला)

ज्ञानरूप ध्रुव अचल आतमा का ही अनुभव ।
मोक्षरूप है स्वयं अतः वह मोक्षहेतु है ॥
शेष भाव सब बंधरूप हैं बंधहेतु हैं ।
इसीलिए तो अनुभव करने का विधान है ॥ १०५॥

जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप होता हुआ - परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्ष का हेतु है; क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी है, वह बंध का हेतु है; क्योंकि वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है। इसलिए आगम में ज्ञानस्वरूप होने

का, ज्ञानस्वरूप परिणमित होने का अर्थात् आत्मा की अनुभूति करने का ही विधान है।

इस कलश में यही कहा गया है कि ज्ञानानंदस्वभावी, त्रिकालीध्रुव, अचल, निजभगवान आत्मा का अनुभव ही मुक्तिरूप है, मुक्ति का मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी शुभाशुभ आचरण हैं; वे सभी बंधरूप हैं, बंध के कारण हैं। यही कारण है कि जिनागम में आत्मा के अनुभव की प्रेरणा दी गई है।

इस छन्द का भावानुवाद नाटक समयसार में बनारसीदासजी इसप्रकार करते हैं -

(सवैया तेईसा)

मोख सरूप सदा चिनमूरति, बंधमई करतूति कही है।
जावतकाल बसै जहाँ चेतन, तावत सो रस रीति गही है।
आतमकौ अनुभौ जबलौं, तबलौं सिवरूप दसा निबही है।
अंध भयौ करनी जब ठानत, बंध विथा तब फैल रही है॥

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा सदा मुक्तस्वरूप ही है और करतूति अर्थात् शुभाशुभभावरूप विभावपरिणति बंधस्वरूप है। यह चेतन जितने काल तक जहाँ रहता है, उतने काल तक उसी के रस की रीति ग्रहण करता है, उसी के रसरूप परिणमित होता है। जबतक आत्मा के अनुभव में रहता है, तबतक चेतन की मुक्तरूप दशा का निर्वाह होता है और अंधा होकर जब कर्तृत्व में आ जाता है, तब बंधन के चक्कर में पड़ जाता, बंध की व्यथा फैलने लगती है।

इसप्रकार इस कलश में दो टूक शब्दों में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि मुक्ति का मार्ग एकमात्र आत्मा का अनुभव है, आत्मानुभूति है; शेष सब शुभाशुभभाव पुण्य-पाप बंध के कारण हैं।

वस्तुस्थिति इतनी स्पष्ट होने पर भी अज्ञानीजन पुण्य की कामना करते हैं- इस बात को आगामी गाथा में कहते हैं।

समयसार गाथा १५४

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं पिं मोक्खहेदुं, अजाणंता ॥ १५४॥
परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते ।
अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य को हैं चाहते ॥ १५४॥

जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं, वे मोक्ष के वास्तविक हेतु को न जानते हुए अज्ञान से संसारगमन का हेतु होने पर भी मोक्ष का हेतु समझकर पुण्य को चाहते हैं।

इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं अर्थात् आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते हैं; वे जीव मुक्ति प्राप्त करने का वास्तविक उपाय तो जानते नहीं हैं और जो पुण्य संसार परिभ्रमण का कारण है, उसे ही मुक्ति का मार्ग समझकर चलने लगते हैं, उसे ही अपनाकर यह समझते हैं कि हम मुक्ति के मार्ग में चल रहे हैं – ऐसे जीवों को कभी भी मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''समस्त कर्मों के पक्ष के क्षय से प्राप्त होने वाले आत्मलाभरूप मोक्ष की अभिलाषा करके तथा मोक्ष की कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाली तथा परमार्थभूत ज्ञानभवनमात्र एकाग्रता लक्षणवाली समयसारभूत सामायिक की प्रतिज्ञा करके भी जो जीव दुरन्तकषायचक्र को पार करने की नपुंसकता के कारण परमार्थभूत ज्ञान के भवनमात्र सामायिकस्वरूप आत्मस्वभाव को प्राप्त न होते हुए, अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्मों से निवृत्त होने पर भी अत्यन्त स्थूल विशुद्धपरिणामरूप कर्मों में प्रवर्त रहे हैं; वे कर्म के अनुभव के गुरुत्व-लघुत्व की प्राप्ति मात्र से ही सन्तुष्ट चित्त होते

हुए भी स्वयं स्थूललक्षवाले होकर संक्लेश परिणामों को छोड़ते हुए भी समस्त कर्मकाण्ड को जड़मूल से नहीं उखाड़ते।

इसप्रकार वे स्वयं अपने अज्ञान से केवल अशुभकर्म को बंध का कारण मानकर; व्रत, नियम, शील, तपादि शुभकर्मों को; बंध का कारण होने पर भी, उन्हें बंध कारण न मानकर मोक्ष के कारणरूप से अंगीकार करते हैं अर्थात् मोक्ष के कारणरूप में उनका आश्रय करते हैं।''

टीका में आचार्यदेव उन मुनिराजों की चर्चा कर रहे हैं, जिन्हें मुक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा भी है और मुक्ति प्राप्त करने के लिए जिन्होंने दीक्षा लेते समय आत्मा में एकाग्रता लक्षण वाले शुद्धोपयोग (सामायिक) रूप मुनिधर्म को अंगीकार किया था; उसी की प्रतिज्ञा की थी; किन्तु अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण उसे प्राप्त नहीं कर सके हैं। यद्यपि वे मुनिराज अत्यन्त स्थूल संक्लेश परिणामों से निवृत्त हो गये हैं; तथापि अत्यन्त स्थूल विशुद्धपरिणामवाले कर्मों में रत हैं और उसी से सन्तुष्ट हैं; ऐसा मान रहे हैं कि हम धर्म कर रहे हैं, इसी से हमें मुक्ति की प्राप्ति होगी।

ऐसे वे स्थूललक्ष्यवाले मुनिराज अशुभभावों और अशुभकार्यों को छोड़कर भी समस्त कर्मकाण्ड को जड़मूल से नहीं उखाड़ते तथा शुभभावों को मुक्ति का कारण मानकर उन्हीं में मग्न रहते हैं।

टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

''कितने ही अज्ञानीजन दीक्षा लेते समय सामायिक की प्रतिज्ञा लेते हैं, परन्तु सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभाव की श्रद्धा, लक्ष्य तथा अनुभव न कर सकने से, स्थूललक्ष्यवाले वे जीव स्थूलसंक्लेशपरिणामों को छोड़कर ऐसे ही स्थूल विशुद्ध परिणामों में (शुभ परिणामों में) राचते हैं। (संक्लेशपरिणाम तथा विशुद्ध परिणाम दोनों अत्यन्त स्थूल हैं; आत्मस्वभाव ही सूक्ष्म है।) इसप्रकार वे - यद्यपि वास्तविकतया सर्व कर्मरहित आत्मस्वभाव का अनुभवन ही मोक्ष का कारण है; तथापि - कर्मानुभव के अल्प-बहुत्व को ही बन्ध-मोक्ष का

कारण मानकर व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का मोक्ष के रूप में आश्रय करते हैं।''

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है -

''देखो, आचार्य कहते हैं कि समस्त पाप-पुण्य के भावों के नाश करने से आत्मलाभ की प्राप्ति होती है। यह आत्मोपलब्धि ही मोक्ष है। जगत में कितने ही जीव इस मोक्ष को चाहते हुए भी मोक्ष का कारणभूत जो सामायिक है, उसे नहीं जानते। यह सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव वाले परमार्थभूत ज्ञान का भवनमात्र है। पूर्णानन्दमय आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान व रमणतारूप जो भवन-परिणमन है, वही सामायिक है। ऐसी सामायिक शुभराग के सूक्ष्म विकल्पों के भी अभावरूप है। शुभरागरूप विकल्प सामायिक नहीं हैं। विकल्पमात्र में सामायिक की नास्ति है और सामायिक में विकल्पों की नास्ति है। परमार्थभूत ज्ञान अर्थात् आत्मा का भवनमात्र ही सामायिक है।[१]

सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाले परमार्थभूतज्ञान का भवन मात्र है - एक बात तो यह हुई, दूसरी बात यह है कि वह सामायिक स्वरूप में एकाग्रतारूप है। अपने ध्रुव एक चैतन्यस्वरूप को अग्र (मुख्य) बनाने से आत्मा में जो वीतरागता एवं अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमन होता है, वह एकाग्रता लक्षणवाला परिणाम ही सामायिक है। जिसे उस सामायिक परिणाम की तो खबर नहीं है और आसन मारकर जमकर बैठ जाने से ऐसा मान ले कि मेरा सामायिक हो गई तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है।[२]

भाई ! सामायिक तो समयसार स्वरूप है। द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म से रहित समयसार स्वरूप आत्मा का अनुभव ही सामायिक है। एक सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से चैतन्य व आनन्दरूप भवन-परिणमन ही सामायिक है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १०५-१०६
२. वही, पृष्ठ १०६
३. वही, पृष्ठ १०६

ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्ध चैतन्य धातुमय भगवान आत्मा का अनुसरण करने से जो शुद्ध परिणमन होता है, उसे सामायिक कहते हैं। तथा राग का अनुसरण करने से जो परिणमन होता है, नपुंसकता है, वह पुरुषार्थ नहीं है। जैसा पाप को छोड़ा, उसीप्रकार पुण्य को भी छोड़कर शुद्धात्मा का अनुसरण करना ही पुरुषार्थ है और यही सामायिक है।[१]

देखो, यहाँ व्रत, तप, पूजा, भक्ति आदि शुभभावों को अत्यन्त स्थूल व जड़ कहा है। गाथा ७२ में भी इसे अशुचि, अचेतन व दु:ख का कारण कहा था। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि शुभराग मोक्ष का कारण नहीं है।

आचार्यदेव ने यहाँ शुभभाव को लघुकर्म एवं अशुभभाव को गुरुकर्म कहा है। अशुभ जो गुरुकर्म है, उसे अज्ञानी ने अनेक बार छोड़ा, किन्तु जो लघु-हलका स्थूल शुभभाव है, उसको संचित करता रहता है, जबकि दोनों ही कर्म हैं, विकार हैं, दोष हैं। अज्ञानी दोष को दोषरूप न देखकर शुभभावरूप कर्म को ठीक मानकर संतुष्ट चित्त होकर, उसमें मिठास का अनुभव करते हैं। अत: अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते। इसप्रकार वे स्थूल लक्ष्यवाले होकर समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते।[२]

यहाँ तो यह कहते हैं कि अज्ञानी शुभभाव में वर्तता है, इसकारण वह स्थूल लक्ष्यवाला है; क्योंकि सूक्ष्म चैतन्य के लक्ष्य का उसमें अभाव है। ऐसी स्थिति में उसको सामायिक कैसे हो सकती है ? भले ही वह सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर बैठ जावे और णमोकार मन्त्र या पंच परमेष्ठी की स्तुति आदि का पाठ करे, पर इनसे क्या? भगवान पंचपरमेष्ठी निज आत्मद्रव्य से भिन्न परद्रव्य है और परद्रव्य का स्मरण स्थूल शुभराग है। उस शुभराग से ज्ञान का भवनमात्र सामायिक कैसे हो सकती है ?[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १०७
२. वही, पृष्ठ १०८
३. वही, पृष्ठ १०८

देखो, शुभ व अशुभ दोनों परिणामों को स्थूल कहा और इनसे भिन्न आत्मस्वभाव को या ज्ञायकभाव को सूक्ष्म कहा है। अशुभभाव जैसा स्थूल है, वैसा ही स्थूल शुभभाव है। वन्ध की अपेक्षा दोनों एक ही हैं।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि कर्मक्षय का मूलहेतु तो निजभगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यानरूप सामायिक या शुद्धोपयोग ही है, शुभाशुभभाव नहीं हैं; क्योंकि शुभाशुभभाव तो कर्मवंध के कारण हैं। अज्ञानी जीव इस बात को तो गहराई से समझते नहीं और पुण्यभाव को ही कर्मक्षय का हेतु जानकर उसी में मग्न रहते हैं।

आचार्य जयसेन यहाँ पुण्याधिकार को समाप्त मानते हैं। इस गाथा की टीका के अन्त में वे लिखते हैं -

''**एवं गाथादशकेन पुण्याधिकार समाप्तः** - इसप्रकार इन दस गाथाओं के द्वारा यह पुण्याधिकार समाप्त हुआ।''

ध्यान रहे आचार्य जयसेन यहाँ पुण्याधिकार की समाप्ति की सूचना दे रहे हैं, पुण्य-पापाधिकार की समाप्ति की नहीं; क्योंकि पुण्य-पापाधिकार की समाप्ति तो वे भी आचार्य अमृतचन्द्र के समान यहाँ से ९ गाथाओं के बाद १६३वीं गाथा पर ही करेंगे।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ११०

जिसप्रकार आग चाहे नीम की हो, चाहे चन्दन की, पर आग तो जलाने का ही काम करती है। ऐसा नहीं है कि नीम की आग जलाये और चन्दन की आग ठंडक पहुँचाये। भाई ! चन्दन भले ही शीतल हो, शीतलता पहुँचाता हो, पर चन्दन की आग तो जलाने का ही काम करेगी। भाई ! आग तो आग है, इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि वह नीम की है या चन्दन की। उसीप्रकार राग चाहे अपनों के प्रति हो या परायों के प्रति हो, चाहे अच्छे लोगों के प्रति हो या बुरे लोगों के प्रति हो, पर है तो वह हिंसा ही, बुरा ही। ऐसा नहीं है कि अपनों के प्रति होने वाला राग अच्छा हो और परायों के प्रति होने वाला राग बुरा हो अथवा अच्छे लोगों के प्रति होने वाला राग अच्छा हो और बुरे लोगों के प्रति होने वाला राग बुरा हो। अच्छे लोगों के प्रति भी किया गया राग भी हिंसा होने से बुरा ही है। – **अहिंसा : महावीर की दृष्टि में, पृष्ठ २९**

समयसार गाथा १५५

१५४वीं गाथा में बड़ी दृढ़ता से यह कहा गया है कि शुभाशुभभाव मुक्ति के हेतु नहीं हैं; अत: यह जिज्ञासा जागृत होना स्वाभाविक ही है कि मुक्ति का वास्तविक हेतु क्या है? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही १५५वीं गाथा लिखी गई है; जो इसप्रकार है –

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ १५५॥
जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।
रागादि का परिहार चारित - यही मुक्तिमार्ग है ॥ १५५॥

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उन्हीं जीवादि पदार्थों का अधिगम (जानना) ज्ञान है और रागादि का त्याग चारित्र है; - यही मोक्ष का मार्ग है।

यह एक सीधी-सादी, सहज, सरल, सुबोध गाथा है; जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप समझाया गया है और इन तीनों की एकता को मोक्षमार्ग बताया गया है।

इस गाथा की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को ही ज्ञान पर घटित करते हैं; क्योंकि पूर्व में यह कहते आये हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। उक्त कथनों से इस कथन की संगति बैठाने का ही यह सफल प्रयास है। उनका कथन मूलत: इसप्रकार है –

"वस्तुत: मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। उनमें जीवादिपदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का होना - परिणमना सम्यग्दर्शन है, जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना - परिणमना सम्यग्ज्ञान है और रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना - परिणमना सम्यक्चारित्र है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - तीनों

ही एक ज्ञान का ही भवन है, परिणमन है; इसलिए ज्ञान ही परमार्थतः मोक्ष का कारण है।''

आचार्य अमृतचन्द्र की उक्त व्याख्या का औचित्य सिद्ध करते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

''आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है और इस प्रकरण में ज्ञान को ही प्रधान करके विवेचन किया है। इसलिये 'सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र - इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' - यह कहकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। ज्ञान है वह अभेद विवक्षा में आत्मा ही है - ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है; इसीलिये टीका में कई स्थानों पर आचार्यदेव ने ज्ञानस्वरूप आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से कहा है।''

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

''जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन - यह 'एकेन्द्रियादि जीव हैं व घट-पटादि अजीव हैं' - ऐसे श्रद्धान की बात नहीं है; अपितु जीव ज्ञायकभावरूप है, वीतरागस्वभावी है, रागस्वभाव व कर्मस्वभावरूप नहीं है - ऐसे स्वभाव-विभाव की भिन्नता के श्रद्धानरूप समकित की बात है।

श्रद्धान स्वभाव से ज्ञान का होना - ऐसा जो टीका में कहा है, वहाँ ज्ञान का अर्थ आत्मा है। उस प्रकरण में आत्मा न कहकर ज्ञान कहने का प्रयोजन रागादि विकार से रहित आत्मा का ज्ञानरूप परिणमन है।

अब कहते हैं कि जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना परिणमना ज्ञान है।

देखो, यहाँ शास्त्रज्ञान की बात नहीं है, वह तो परलक्ष्यी ज्ञान है। यहाँ तो आत्मा के ज्ञान का अन्तर में स्व-संवेदनरूप स्व का प्रत्यक्ष ज्ञानरूप होने को ज्ञान कहा है। ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा जो अपने स्वरूप से ज्ञानरूप परिणमता है, उसे ज्ञान कहते हैं और वह वीतरागी पर्याय है। भाई ! त्रिलोकीनाथ वीतराग सर्वज्ञदेव ने इन्द्रों व गणधरों के बीच धर्मसभा में जो कहा है - वही यह बात है।

आत्मा का जीवादि पदार्थों को जाननेरूप परिणमना या निजज्ञायक के लक्ष्य से ज्ञानपर्यायरूप परिणमना ही सम्यग्ज्ञान है। पुण्य-पाप से रहित शुद्ध निजज्ञायक को जाननेवाला अर्थात् ज्ञायक के लक्ष्य से परिणमन करनेवाला ज्ञान भी पुण्य-पाप के भावों से रहित है। भाई ! यह सम्यग्ज्ञान की पर्याय वीतरागी पर्याय है।[१]

अब कहते हैं कि रागादि के त्यागस्वभाव से ज्ञान का होना परिणमना चारित्र है।

देखो, पाँच महाव्रतों को पालने का परिणाम, अट्ठाईस मूलगुणों के पालन करने का परिणाम राग है। अव्रत का परिणाम पापभाव है, व्रत का परिणाम पुण्यभाव है। इन दोनों के त्यागभावरूप ज्ञान का अर्थात् आत्मा का होना परिणमना धर्म है। यहाँ आत्मा ज्ञानस्वभाव से अन्तर में एकाग्र होकर परिणमता है, वह सहज ही रागरूप नहीं होता।

यह परिणमन ही राग के अभावरूप है तथा यही सम्यक्चारित्र है। 'यह राग है, मैं इसे छोड़ता हूँ' - ऐसा नहीं होता, बल्कि जब परिणाम स्वरूप में मग्न होकर स्थिर होता है, तब राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। यही स्वरूप के आचरणरूप चारित्र है।[२]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र - तीनों एक ज्ञान का ही भवन (परिणमन) है। इसलिये ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है।[३]''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा में समागत विषय-वस्तु को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''जीवादि नौ पदार्थों का विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है; इन्हीं पदार्थों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित सुनिश्चित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक रागादि का परिहार सम्यक्चारित्र है, – यह व्यवहार मोक्षमार्ग है। अथवा भूतार्थनय से जाने हुए उन्हीं नवपदार्थों

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ ११५-११६
२. वही, पृष्ठ ११९
३. वही, पृष्ठ १२०

को शुद्धात्मा से भिन्न अवलोकन करना अर्थात् उन पदार्थों से भिन्न अपने आत्मा का अवलोकन करना निश्चय सम्यक्त्व है, भिन्न जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और इन दोनों पूर्वक रागादि विकल्पों से रहित होकर निज शुद्धात्मा में रहना निश्चय सम्यक्चारित्र है और यही निश्चय मोक्षमार्ग है।"

आचार्य जयसेन की उक्त टीका पर समयसार गाथा १३ एवं आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में समागत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषाओं की छाया विद्यमान है। लगता है आचार्य जयसेन ने उन्हीं के भाव को यहाँ प्रस्तुत कर दिया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में समागत वे परिभाषायें इसप्रकार हैं -

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२॥
कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ ३५॥
चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ ३९॥

जीवाजीवादि तत्त्वार्थों का विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धान सदा ही करना चाहिए; क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है।

अनेकान्तस्वरूप तत्त्वों का संशय, विपर्यय और अनध्यसाय रहित निर्णय करने का अध्यवसाय (प्रयास) अवश्य करना चाहिए; क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा का निजरूप है।

समस्त सावद्य के त्याग से होनेवाला, सम्पूर्ण कषायों से रहित, परपदार्थों से उदासीन, निर्मल चारित्र आत्मस्वरूप होता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषा बताने वाले उक्त तीनों छन्द का अन्तिम पद '**आत्मरूपं तत्**' है, जो यह बताता है कि ये तीनों आत्मरूप हैं, आत्मा के स्वरूप ही हैं।

इनकी आत्मरूपता इनके निश्चयस्वरूप को बताती है और शेष विशेषण इनके व्यवहाररूप को बताने वाले हैं। इसप्रकार इन परिभाषाओं में निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार की परिभाषायें आ जाती हैं।

कारण जो भी रहा हो, पर इस गाथा की टीका करते समय आचार्य जयसेन आत्मख्याति का अनुकरण न करके आचार्य अमृतचन्द्र की अन्य कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का अनुकरण करते दिखाई देते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में यह सुनिश्चित कर दिया गया है कि मुक्ति का कारण एक त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा अथवा उसके आश्रय से उत्पन्न होने वाली रत्नत्रयरूप परिणति है।

अब आगामी गाथा में यह स्पष्ट करेंगे कि इससे अन्य जो भी शुभाशुभभाव, पुण्य-पाप के परिणाम या तत्संबंधी प्रवृत्तियाँ, जिन्हें यहाँ कर्म नाम से अभिहित किया गया है, वे मुक्ति का कारण नहीं हैं। •

सत्यधर्म को वचन तक सीमित कर देने से एक बड़ा नुकसान यह हुआ कि उसकी खोज ही खो गई। जिसकी खोज जारी हो उसका मिलना संभव है, पर जिसकी खोज ही खो गई हो वह कैसे मिले ? जबतक सत्य को समझते नहीं, खोज चालू रहती है। किन्तु जब किसी गलत चीज को सत्य मान लिया जाता है तो उसकी खोज भी बन्द कर दी जाती है। जब खोज ही बन्द कर दी जावे तो फिर मिलने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

हत्यारे की खोज तभी तक होती है जबतक कि हत्या के अपराध में किसी को पकड़ा नहीं जाता। जिसने हत्या नहीं की हो, यदि उसे हत्या के अपराध में पकड़ लिया जाये, सजा दे दी जाये, तो असली हत्यारा कभी नहीं पकड़ा जायेगा। क्योंकि अब तो फाइल ही बन्द हो गई, अब तो जगत की दृष्टि में हत्यारा मिल ही गया, उसे सजा भी मिल गई। अब खोज का क्या काम ? जब खोज बन्द हो गई तो असली हत्यारे का मिलना भी असंभव है।

इसीप्रकार जब सत्यवचन को सत्यधर्म मान लिया गया तो फिर असली सत्यधर्म की खोज का प्रश्न ही कहाँ रहा ? सत्यवचन को सत्यधर्म मान लेने से सबसे बड़ी हानि यह हुई कि सत्यधर्म की खोज खो गई।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ७२

समयसार गाथा १५६

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥ १५६॥

विद्वानगण भूतार्थ तज वर्तन करें व्यवहार में ।
पर कर्मक्षय तो कहा है परमार्थ-आश्रित संत के ॥ १५६॥

विद्वान लोग निश्चयनय के विषयभूत निज भगवान आत्मारूप परम-अर्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तते हैं; किन्तु कर्मों का नाश तो निज भगवान आत्मारूप परम-अर्थ का आश्रय लेने वाले यतीश्वरों (मुनिराजों) के ही कहा गया है।

इस गाथा का अर्थ ऐसा भी किया जाता है – विद्वान् लोग निश्चयनय के विषयभूत निज भगवान आत्मा को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते हैं; क्योंकि कर्मों का नाश तो परमार्ध का आश्रय लेने वाले मुनीश्वरों के ही कहा गया है।

यह अन्तर **ववहारेण** और **ववहारे ण** प्रयोग से आ गया है। **ववहारे** के साथ **ण** को मिलाने पर पहला अर्थ और **ववहारे** से **ण** को अलग लिखने पर दूसरा अर्थ प्रतिफलित होता है। यह अन्तर करण कारक और अधिकरण कारक का अन्तर है।

'ववहारे' यह सप्तमी विभक्ति के एकवचन का, अधिकरण कारक का प्रयोग है। और 'ववहारेण' यह तृतीया के एकवचन का, करणकारक का प्रयोग है।

आचार्य जयसेन इसे अधिकरण का ही प्रयोग मानते हैं, इसकारण वे इसका अर्थ इसप्रकार करते हैं –

"**मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे** – निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये **ण विदुसा पवट्ठंति** – विद्वांसो ज्ञानिनो न प्रवर्तन्ते। कस्मात् ?

परमट्ठमासिदाणं दु जदीण कम्ममखओ होदि – सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्रयपरणतिलक्षणं निजशुद्धात्मभावनारूपं परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवतीति यतः कारणादिति।

निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहारनय के विषय में विद्वान – ज्ञानी लोग प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

क्यों नहीं करते ?

क्योंकि कर्मों का क्षय तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपएकाग्रपरिणतिवाले और निजशुद्धात्मा की भावनारूप परमार्थ के आश्रित रहने वाले मुनियों के होता है।''

प्रथम अर्थ के स्वीकार करने पर ऐसा लगता है कि जैसे विद्वान और यतीश्वर परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हों। विचारने की बात यह है कि क्या साधुजन विद्वान नहीं होते, क्या साधुजन विद्वान् नहीं हो सकते ? इसीप्रकार क्या विद्वान् संयम धारण करके मुनिराज नहीं बन सकते ? जबकि वस्तुस्थिति तो यह है कि हमारे कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक, अमृतचन्द्र जैसे अनेकों यतीश्वर उच्चकोटि के विद्वान् भी थे।

आचार्य जयसेन ने तो उक्त टीका में विद्वान् शब्द का अर्थ ज्ञानी ही किया है।

यदि यह कहा जाय कि कुछ विद्वान आत्मज्ञानशून्य भी हो सकते हैं, तो क्या कुछ मुनिराज भी आत्मज्ञानशून्य नहीं हो सकते? मूल बात तो यह है कि आत्मज्ञानशून्य व्यक्ति के कर्मों का नाश नहीं होता और आत्मज्ञानियों के कर्मों का नाश होता है। इसीलिए तो आचार्य अमृतचन्द्र अपनी टीका में न तो विद्वान शब्द का प्रयोग करते हैं और न यति शब्द का ही। वे तो कुछ लोग (केषांचित्) शब्द का ही उपयोग करते हैं, उनका कथन मूलतः इसप्रकार है –

''कुछ लोग मोक्ष के पारमार्थिक हेतु से भिन्न जो व्रत, तपादि शुभकर्म हैं; उन्हें मोक्ष का हेतु मानते हैं। यहाँ उन सभी का निषेध किया गया है; क्योंकि वे व्रतादि अन्य द्रव्य के स्वभाववाले पुद्गलरूप9 हैं; इसकारण उनके स्वभाव

से ज्ञान का भवन (होना) नहीं बनता। जो पारमार्थिक मोक्षहेतु हैं, वही एकद्रव्यस्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) होने से उसके स्वभाव द्वारा ज्ञान का भवन (होना) बनता है।''

एक द्रव्यस्वभाव क्या है और अन्य द्रव्यस्वभाव क्या है? – यह समझना बहुत जरूरी है, क्योंकि इनकी चर्चा आगामी कलशों में भी आने वाली है।

जिस द्रव्य में जो कार्य होना है, उस कार्य का कारण भी उसी द्रव्य में विद्यमान होना एकद्रव्यस्वभाव है। एकद्रव्यस्वभाववाला कारण ही सच्चा कारण है। मोक्ष भी आत्मा को होना है और आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र गुण का परिणमन भी आत्मा में होना है और आत्मा के सम्मुख होकर होना है; इसकारण मुक्ति का कारण आत्मा और आत्मसम्मुख दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिणमन को कहना एकद्रव्यस्वभाववाला हेतु हुआ।

शुभाशुभभाव और शुभाशुभक्रिया पुद्गलस्वभावी है; अत: वे आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति रूप कर्म के लिए अन्यद्रव्यस्वभावी है; अत: वे शुभाशुभभाव व शुभाशुभक्रिया मोक्ष के हेतु नहीं हो सकते।

इस प्रकरण और इस गाथा का मूल प्रतिपाद्य यही है; विद्वानों को मोक्ष नहीं होता और यतियों को होता है – यह नहीं। यही कारण है कि टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने विद्वान और यति शब्द का उपयोग ही नहीं किया। यहाँ प्रकरण इस बात का नहीं है कि किसको मोक्ष होता है और किसको नहीं, अपितु इस बात का है कि मोक्ष का मूल हेतु क्या है और क्या नहीं? अत: आत्मख्याति में इसी बात पर ध्यान केन्द्रित किया गया है कि आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाले सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्ररूप ज्ञान का परिणमन ही मोक्ष का हेतु है, शुभाशुभभावरूप पुण्य-पाप नहीं।

इस बात का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''देखो, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभाव यद्यपि मोक्ष के वास्तविक कारण नहीं हैं; तथापि कुछ लोग इन्हें मोक्ष का परमार्थ कारण मानते हैं; उनके भ्रमनिवारणार्थ एवं परमार्थ मोक्ष के हेतुओं का ज्ञान कराने के लिये यहाँ उन समस्त शुभभावों में मोक्षमार्ग के कारणपने का निषेध किया गया है।

भगवान आत्मा जैसा त्रिकाल स्वभाव से शुद्ध चैतन्यस्वरूप वीतरागस्वभावी है; उसीप्रकार वर्तमान पर्याय में भी वीतरागीभाव से परिणमित होना परमार्थ मोक्षमार्ग है। उनसे भिन्न व्रत, तप वगैरह शुभकर्मरूप या शुभभावरूप राग यथार्थ मोक्षमार्ग नहीं है।

इस गाथा की टीका लिखने के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्रदेव इसी भाव के पोषक दो कलश तथा आगामी गाथा की सूचक एक कलश - इसप्रकार तीन कलश लिखते हैं, जो इसप्रकार हैं -

(अनुष्टप्)

वृतं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ १०६॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ १०७॥
मोक्षहेतुतिरोधानाट्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधाभिवत्वात्तन्निषिध्यते ॥ १०८॥

(दोहा)

ज्ञानभाव का परिणमन ज्ञानभावमय होय ।
एकद्रव्यस्वभाव यह हेतु मुक्ति का होय ॥ १०६॥
कर्मभाव का परिणमन ज्ञानरूप न होय ।
द्रव्यान्तरस्वभाव यह इससे मुकति न होय ॥ १०७॥
बंधस्वरूपी कर्म यह शिवमग रोकनहार ।
इसीलिए अध्यात्म में है निषिद्ध शतवार ॥ १०८॥

ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (जीवस्वभावी) होने से ज्ञान के स्वभाव से ज्ञान का भवन (परिणमन) बनता है; इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी (पुद्गलस्वभावी) होने से कर्म के स्वभाव से ज्ञान का भवन (परिणमन) नहीं बनता है; इसलिए कर्म मोक्ष का कारण नहीं है।

कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करने वाला है और वह स्वयं ही बंधस्वरूप है तथा मोक्ष के कारणों का तिरोधान करने के स्वभाव वाला होने से उसका निषेध किया गया है।

इन कलशों का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"जानना, श्रद्धान करना एवं स्थिर होना – ये तीनों एक मात्र जीवद्रव्य स्वभावी या चैतन्यस्वभावी हैं। राग की क्रिया से भिन्न रहकर आत्मा का जो अन्तर्परिणमन हुआ, वह चैतन्यस्वभावी होने से ज्ञान का अर्थात् आत्मा का ही परिणमन है। आत्मद्रव्य के शुद्धस्वभाव के आश्रय से ही आत्मद्रव्य का शुद्ध होना – परिणमना होता है। इसमें किसी परद्रव्य की या राग के आश्रय की अपेक्षा नहीं है।[१]

देखो, इस कलश में कितना सार भरा है। ज्ञान, श्रद्धान व शान्तिरूप वीतरागता परिणति – ये तीनों एक जीवद्रव्यस्वभावी हैं और यही मोक्ष का कारण है। राग की क्रिया अन्यद्रव्यस्वभावी होने से धर्म का कारण नहीं हो सकती।[२]

देखो, कर्म अर्थात् व्रत, तप, दया, दान, भक्ति, पूजा आदि सभी शुभभाव अन्यद्रव्यस्वभावी यानि पुद्गलद्रव्यस्वभावी हैं। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि राग आत्मा का स्वभाव हो तो वह आत्मा से कभी पृथक् नहीं हो सकता था; किन्तु जब आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव में स्थिर होता है, तब राग निकल जाता है और आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप रह जाता है।[३]

देखो, आचार्यदेव ने खूब घोषणा कर-करके कहा है कि – व्रत, तप, आदि बाह्यक्रियारूप शुभकर्म मोक्ष का कारण नहीं है; तथापि यह बात लोगों को क्यों नहीं सुहाती ? समझना तो बहुत दूर, सुनना भी नहीं चाहते। जिसका महान भाग्योदय होगा, उसे ही यह बात रुचेगी; सुनेगा भी वही और समझेगा भी वही। यह विचार करके ही संतोष धारण करना पड़ता है।[४]

समयसार कलश में भी इसी श्लोक की टीका करते हुये श्री राजमलजी ने स्वयं शंका-समाधान करते हुये लिखा है कि – यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १३५
२. वही, पृष्ठ १३५
३. वही, पृष्ठ १३६
४. वही, पृष्ठ १३८

अशुभ क्रियारूप जो आचरण या चारित्र है; वह जिसतरह करने योग्य नहीं है, उसीतरह निषेध करने योग्य भी तो नहीं है। उसका समाधान इसप्रकार है कि - निषेध करने योग्य है; क्योंकि उसका व्यवहारचारित्र नाम होते हुये भी वह दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है, इसकारण विषय-कषाय की तरह ही क्रियारूप चारित्र भी निषिद्ध है।[१]

अब कहते हैं कि 'मोक्षहेतु तिरोधायित्वात्' अर्थात् व्रतादिरूप जितना शुभकर्म है, वह सब मोक्ष के कारण के विरुद्ध स्वभाववाला है, इसकारण उस कर्म का निषेध किया गया है।

इसप्रकार शुभकर्म निम्नांकित तीन बोलों से निषिद्ध किया गया है -

१. कर्म मोक्ष के कारण का घातक है।

२. कर्म स्वयं बंध का स्वरूप है।

३. कर्म मोक्ष के कारणों के विरुद्धस्वभाववाला है।

भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वभावी सदा मुक्तस्वरूप ही है तथा इसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मल परिणाम होते हैं, वे भी अबन्धस्वरूप हैं; इसलिए एकमात्र वे ही मोक्ष के कारण हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि शुभभाव से आत्मा का कल्याण होना मानना मिथ्यादर्शन है।

यहाँ मिथ्यादर्शन, ज्ञान व चारित्र के परिणाम को विपरीत स्वभाववाला कहकर जड़ अचेतन कहा है। तात्पर्य यह है कि जहाँ चैतन्य के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम होते हैं, वहाँ मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम नहीं होते। दोनों जाति के परिणाम एक साथ नहीं होते। जिसे आत्मा का निर्विकल्प श्रद्धान ज्ञान एवं शान्ति का वेदन होता है, उसे कदाचित् राग होता है, परन्तु उस ज्ञानी-समकिती को मिथ्यात्व नहीं होने से उस राग के प्रति स्वामित्व नहीं होता। इसकारण उसे पूर्ण वीतरागता न होने पर भी मिथ्याचारित्र नहीं है, सम्यक् चारित्र ही है।

स्वभाव से ही आत्मद्रव्य भगवानस्वरूप वीतरागस्वरूप है। उसका श्रद्धान-ज्ञान व रमणतारूप परिणाम मोक्षमार्ग है और शुभाशुभ कर्म उसके

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १४०

घातक है, स्वयं वन्धस्वरूप है और शुद्ध परिणति से विपरीत स्वभाववाले हैं, अत: निषेध्य है।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों कलशों में यह कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञान का परिणमन आत्मस्वभाव होने से मुक्ति का कारण है और शुभाशुभभावरूप कर्म परिणमन पुद्गलस्वभाव होने से मुक्ति का कारण नहीं है, मुक्ति का निरोधक है; अत: उन कर्मों का मुक्तिमार्ग में निषेध किया गया है।

अनेक आगम प्रमाणों और युक्तियों से यह बात भली-भांति स्पष्ट हो गई कि ये शुभाशुभ सभी पुण्य-पापरूप परिणाम वंध के ही कारण हैं; फिर भी तीव्र मिथ्यात्व के कारण अज्ञानिओं को यह बात जचती नहीं, रुचती नहीं, और पचती नहीं।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी उक्त तीन कलशों का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(सोरठा)

अंतर-दृष्टि-लखाउ, निज सरूपकौ आचरन ।
ए परमातम भाउ, सिव कारन येई सदा ॥

अपने अन्तर में दृष्टि को केन्द्रित करना, स्वयं को ही लखना (देखना) और अपने स्वरूप में ही आचरण करना, रमना ही परमात्म पद प्राप्त करने के भाव हैं और ये ही मुक्ति के कारण हैं। तात्पर्य यह है कि निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र ही मुक्ति के कारण हैं।

(सोरठा)

करम सुभासुभ दोइ, पुद्गलपिंड विभाव मल ।
इनसौ मुकति न होई, नहिं केवल पद पाइए ॥

शुभ और अशुभ - दोनों प्रकार के ही कर्म पुद्गल के पिंड हैं, विभाव हैं, मैल हैं; इनसे मुक्ति नहीं होती और न इनसे केवलज्ञान की प्राप्ति ही होती है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १४०-१४१

तीसरे कलश के भाव को उन्होंने शिष्य-गुरु के संवाद के रूप में प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

कोऊ शिष्य कहै स्वामी ! असुभक्रिया असुद्ध,
सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यों न वरनी ।
गुरु कहै जबलौं क्रिया के परिनाम रहैं,
तबलौं चपल उपयोग जोग धरनी ॥
विरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होई,
यातैं दोऊ क्रिया मोख-पंथ की कतरनी।
बंध की करैया दोऊ दूहूमें न भली कोऊ,
बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी ॥ १२॥

कोई शिष्य कहता है कि हे स्वामी। आपने ऐसा क्यों नहीं कहा कि अशुभक्रिया अशुद्ध है और शुभक्रिया शुद्ध है ?

उत्तर में गुरुजी कहते हैं कि हे भाई ! जबतक क्रिया (करने) के परिणाम रहते हैं, तबतक उपयोग और योग (मन-वचन-काय) में चंचलता बनी रहती है। जबतक योग और उपयोग में स्थिरता नहीं आती है, तबतक शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता है। इसलिए शुभ और अशुभ दोनों ही क्रियायें मोक्षमार्ग को काटने लिए कैंची के समान हैं। जिसप्रकार कैची कपड़े को काटती है; उसीप्रकार से शुभाशुभभाव मुक्तिपथ को काटते हैं।

कवि कहते हैं कि मैं अधिक क्या कहूँ? ये शुभ और अशुभ दोनों ही भाव बंध के करने वाले हैं, दोनों में कोई भी भला नहीं है। मैंने इन्हें मुक्तिमार्ग में बाधक जानकर ही इनका निषेध किया है। करनी मात्र निषेध करने योग्य है। किसी भी प्रकार की करनी (कर्तृत्वबुद्धि) क्यों न हो, वह तो बंध की कारण होने से निषेध करने योग्य ही है।

इसप्रकार इन कलशों में यह कह दिया गया है कि सभी प्रकार के शुभशुभभाव मुक्तिमार्ग के विरोधी होने से हेय ही हैं।

अब इसी बात को आगामी गाथाओं में सोदाहरण स्पष्ट करेंगे। •

समयसार गाथा १५७ से १५९

१०८वें कलश में यह कहा था कि मोक्ष के हेतुओं का तिरोधायी होने से मुक्ति के मार्ग में समस्त कर्मों का निषेध किया गया है। अब उसी बात को आगामी गाथाओं के माध्यम से सोदाहरण सिद्ध करते हैं -

बत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ॥ १५७॥
वत्थस्स भेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ॥ १५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥ १५९॥

ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
सम्यक्त्व भी त्यों नष्ट हो मिथ्यात्व मल के लेप से ॥ १५७॥
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
सद्ज्ञान भी त्यों नष्ट हो अज्ञान मल के लेप से ॥ १५८॥
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
चारित्र भी त्यों नष्ट होय कषायमल के लेप से ॥ १५९॥

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मैल से लिप्त होने पर सम्यक्त्व तिरोहित हो जाता है। – ऐसा जानना चाहिए।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिटने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार अज्ञानरूपी मैल से लिप्त होने पर ज्ञान तिरोभूत हो जाता है। – ऐसा जानना चाहिए।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसी प्रकार कषायरूपी मैल से लिप्त होने पर चारित्र तिरोभूत हो जाता है। – ऐसा जानना चाहिए।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसप्रकार परभावरूप मैल से व्याप्त होता हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है; उसीप्रकार मोक्ष का कारणरूप ज्ञान का सम्यक्त्व स्वभाव परभावरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

जिसप्रकार परभावरूप मैल से व्याप्त होता हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है; उसीप्रकार मोक्ष का कारणरूप ज्ञान का ज्ञानस्वभाव परभावरूप अज्ञान नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

जिसप्रकार परभावरूप मैल से व्याप्त होता हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है; उसीप्रकार मोक्ष का कारणरूप ज्ञान का चारित्रस्वभाव परभावरूप कषाय नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

इसलिए मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का तिरोधान करनेवाला होने से कर्म का निषेध किया गया है।"

इसीप्रकार का भाव आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में व्यक्त किया है।

इसप्रकार गाथा और टीकाओं में सफेदवस्त्र के उदाहरण के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल से ढक जाती है; उसीप्रकार आत्मा का परमपवित्र निर्मल स्वभाव शुभाशुभभावों से ढक जाता है। यही कारण है कि मुक्ति के मार्ग में शुभाशुभभावों का निषेध किया गया है।

उक्त कथन को अत्यन्त सरल शब्दों में पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"सम्यक्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। ज्ञान का सम्यक्त्वरूप परिणमन मिथ्यात्वकर्म से तिरोभूत होता है, ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन अज्ञानकर्म से तिरोभूत होता है और ज्ञान का चारित्ररूप परिणमन कषायकर्म

से तिरोभूत होता है। इसप्रकार मोक्ष के कारणभावों को कर्म तिरोभूत करता है, इसलिये उसका निषेध किया गया है।''

उक्त संदर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं -

''देखो, यहाँ जो मिथ्यात्व कर्ममल की चर्चा है, वह भावमिथ्यात्व की बात है, 'शुभभाव धर्म है' - ऐसी विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व की बात है। इस मिथ्यात्वरूप मैल से व्याप्त होने से त्रिकाली चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का सम्यक्त्व तिरोभूत हो जाता है, जिसे टीका में ज्ञान का सम्यक्त्व कहा है। ज्ञान का सम्यक्त्व कहो या आत्मा का सम्यक्त्व कहो - एक ही बात है। इसका अर्थ है त्रिकाली शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा की अनुभूति या प्रतीति, वह प्रतीति मोक्ष के कारणरूप आत्मा का निज स्वभाव है।[१]

देखो, यहाँ ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान चैतन्यस्वरूप निज आत्मा के ज्ञान को ही 'ज्ञान का ज्ञान' कहा है। इसप्रकार यहाँ सम्पूर्ण आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से सम्बोधित किया है। ज्ञान का ज्ञान अर्थात् अखण्ड एकरूप त्रिकाली चैतन्यमय ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का ज्ञान। चैतन्यमय आत्मा का यह ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। यहाँ शास्त्रज्ञानरूप पराश्रित ज्ञान की बात नहीं है। यह तो उस आत्मज्ञान की बात है, जिसमें संवर, निर्जरा व मोक्ष की पर्याय भी नहीं है तथा जो शुद्ध चैतन्यमय नित्यानन्दस्वरूप अनंत गुण का एकरूप है - ऐसा आत्मज्ञान ही मोक्ष के कारणरूप स्वभाववाला है।

ऐसा जो मोक्ष का कारणरूप आत्मस्वभाव है, वही ज्ञान का ज्ञान है। वह ज्ञान परभावरूप अज्ञानरूपी कर्ममल से ढक जाता है। शुभभाव को धर्म मानना ही अज्ञान है और वह अज्ञान ही मैल है। ऐसे अज्ञानरूपी मैल से व्याप्त होने से आत्मा का ज्ञान तिरोभूत हो जाता है, सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।[२]

अब ज्ञान के चारित्र यानि आत्मा के चारित्र की बात कहते हैं -

'ज्ञान का चारित्र' जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, वह परभावस्वरूप कषाय नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत होता है, जैसे कि

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १४४
२. वही, पृष्ठ १४४-१४५

परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्र का स्वभावभूत श्वेतपना तिरोभूत हो जाता है।

देखो, यहाँ 'सच्चा चारित्र किसे कहते हैं ?' यह समझाया जा रहा है। त्रिकाल आनन्दस्वरूपी भगवान आत्मा जो अपने ही अंदर सदा विद्यमान है, उसमें अन्तर्दृष्टि करके उसी में अन्तर्लीन होने पर, रमणता करने पर जो अतीन्द्रिय आनन्द का एवं शान्ति का वेदन होता है, वह चारित्र है। उसे ही यहाँ 'ज्ञान का चारित्र' कहा गया है। ज्ञान का चारित्र अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्व-संवेदन। आत्मा के इसी चारित्र को यहाँ मोक्ष का कारणरूप स्वभाव कहा है।

पंच महाव्रतादिरूप पुण्य का परिणाम मोक्ष का कारणरूप स्वभाव नहीं है। यह तो शुभराग है, कषायरूप मैल है। यह तो ज्ञान के चारित्र को अर्थात् आत्मा के चारित्र को ढक देता है, आच्छादित करता है, घात करता है। जो आत्मा का घातक है, वह आत्मा को लाभदायक कैसे हो सकता है? जो व्यक्ति पुण्य के परिणाम को आत्मा के लिये लाभदायक मानता है, उसकी तो मूल मान्यता ही उल्टी है।

तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि में तो चारित्र का स्वरूप ऐसा आया है कि - सच्चिदानन्दस्वरूप वीतरागस्वभावी ध्रुव आत्मा में अन्तररमणतारूप निर्विकल्प वीतराग परिणति का होना ही चारित्र है तथा ऐसे ज्ञान के चारित्र का अर्थात् आत्मा के चारित्रगुण का परभावरूप से परिणमना, कषायरूप होना, शुभरागरूप होना आत्मा का घातक परिणाम है। उस घातक परिणाम को करते-करते अर्थात् शुभरागरूप व्यवहार करते-करते वीतरागभावरूप निश्चय धर्म प्रगट कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।[१]

इसप्रकार मोक्ष के कारणभूत भावों को शुभभावरूप कर्म तिरोभूत करते है, अतः इनका निषेध किया गया है।[२]"

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि शुभाशुभभावरूप कर्म बंध के कारण होने से निषेध करने योग्य है। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १४६
२. वही, पृष्ठ १४४-१४८

समयसार गाथा १६०

अब यह कहते हैं कि ये शुभाशुभभावरूप कर्म न केवल बंध के कारण हैं, अपितु स्वयं बंधस्वरूप ही है। इसी भाव को व्यस्त करने वाली आगामी गाथा इसप्रकार है।

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वतो सव्वं ॥ १६०॥

सर्वदर्शी सर्वज्ञानी कर्मरज आछन्न हो ।
संसार को सम्प्राप्त कर सबको न जाने सर्वतः ॥ १६०॥

यद्यपि वह आत्मा सबको देखने-जानने के स्वभाववाला है; तथापि अपने कर्ममल से लिप्त होता हुआ, संसार को प्राप्त होता हुआ; सर्वप्रकार से सबको नहीं जानता।

इस गाथा में यह कह रहे हैं कि यद्यपि इस भगवान आत्मा का स्वभाव तो सभी को देखने-जानने का है; तथापि अपने विकारीभावरूप कर्ममल से लिप्त होने के कारण वर्तमान में सबको देखने-जानने में असमर्थ है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह सबको देखने-जानने में असमर्थ होने के साथ-साथ सबको जानने-देखने के स्वभाव वाले अपने आत्मा को भी नहीं जानता।

इस बात को आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

"स्वयं ज्ञान होने के कारण विश्व के सर्वपदार्थों को सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला यह ज्ञान (आत्मा) अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्त्तमान कर्ममल से आच्छन्न होने के कारण ही बंधावस्था में अपने को अर्थात् सर्वप्रकार से सर्वज्ञेयों को जाननेवाले स्वयं को न जानता हुआ अज्ञानभाव से रह रहा है। इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बंधस्वरूप है। स्वयं बंधस्वरूप होने से ही कर्म का निषेध किया गया है।"

यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि यहाँ आत्मा को ज्ञान शब्द से अभिहित किया जा रहा है; फिर भी कहीं कोई भ्रम न रह जायें - इस कारण भावार्थ में जयचन्दजी छाबड़ा एक बार फिर सावधान करते हुए कहते हैं -

"यहाँ भी 'ज्ञान' शब्द से आत्मा समझना चाहिए। ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य स्वभाव से तो सबको जानने-देखनेवाला है; परन्तु अनादि से स्वयं अपराधी होने के कारण कर्मों से आच्छदित है; इसलिये वह अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता, यों अज्ञानदशा में रह रहा है। इसप्रकार केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा कर्मों से लिप्त होने से अज्ञानरूप अथवा बद्धरूप वर्तता है; इसलिए यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। अतः कर्मों का निषेध किया गया है।"

इसप्रकार यह सुनिश्चित हो गया कि समस्त शुभाशुभभाव कर्मबंधस्वरूप है, कर्मबंध के कारण हैं, आत्मा की दुर्दशा के प्रतीक हैं; अतः इन्हें मुक्ति के मार्ग में किसी प्रकार भी उपादेय नहीं माना जा सकता।

स्वामीजी भी कहते हैं -

"देखो, मूलगाथा में **'सव्वणाणदरसी'** पाठ है; उसमें से टीकाकार आचार्यदेव ने यह रहस्य निकाला है कि विश्व को अर्थात् सर्वपदार्थों को जानने-देखने के स्वभाववाला द्रव्य जो स्वयं है, उसे जानना चाहिये; उसके बदले तू पर के राग को जानता है, अनुभव करता है और उसी में रुक जाता है; यह तेरा अपराध है, अज्ञानभाव है; क्योंकि यह राग आस्रव व बन्ध तत्त्व है।[१]

भगवान ! तू परमात्मस्वरूप है। जिसतरह परमेश्वर परमात्मा प्रगट पर्याय में सर्वज्ञ या सर्वदर्शी है; उसीतरह तू स्वभाव में त्रिकाली द्रव्यस्वरूप सर्वज्ञसर्वदर्शी है। जो ऐसे त्रिकाली द्रव्यस्वरूप को न देखकर राग को देखने में ही अटक जाते हैं; वे पर्यायदृष्टि में अटक जाने के कारण अपने सर्वगुणसम्पन्न अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि अनंत सामर्थ्य से भरे अनन्त

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १५२

गुणमण्डित परिपूर्ण आत्मा को नहीं जानते। सर्वप्रकार से सर्वज्ञेयों को जाननेवाला आत्मा स्वयं को नहीं जानता। देखो, यहाँ राग में रुके जीव सर्वज्ञ को नहीं जानते - यह नहीं कहा, बल्कि यह कहा कि सर्वज्ञेयों को जाननेवाले अपने को नहीं जानता। अपने को जानना मुख्य है; क्योंकि जो स्वयं को जानता है, वहाँ सर्व को जानता है।[१]

पहले आया था कि राग मोक्षमार्ग की परिणति का घातक है। अब कहते है कि राग स्वयं बन्धस्वरूप है। इसीकारण उसका यहाँ निषेध है। सबको जानने-देखने वाले आत्मा का स्वभाव तो अबन्धस्वरूप है। ऐसा अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा राग में अटक जाने के कारण स्वयं को नहीं जानता - यह कहा है। यह नहीं कहा कि सर्वज्ञेयों को नहीं जानता; क्योंकि स्वयं को जानना - यह निश्चय है और पर को जानना - यह व्यवहार है।[२]

सम्यग्दर्शन में अपने आत्मा के सम्पूर्ण स्वरूप की प्रतीति होती है। यद्यपि अभी केवलज्ञान नहीं है; तथापि सम्यग्दृष्टि को वर्तमान में अनन्तगुणों का पिण्ड परिपूर्ण ज्ञाता-दृष्टास्वभावी आत्मा प्रतीति में आता है। मैं अपने में परिपूर्ण हूँ - ऐसा उसे यथार्थ श्रद्धान होता है। वह राग को अपना नहीं मानता एवं अल्पज्ञ पर्याय जितना भी अपने को नहीं मानता।

देखो, यह चतुर्थ गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि की बात है। जो सम्यग्दर्शन बिना बाह्य व्रतादि के राग-विकल्पों में रुक जाता है, उसे अपने सम्पूर्ण स्वरूप का अनुभव नहीं होता।[३]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि शुभाशुभभाव में उलझा यह आत्मा सबको जानने-देखने के स्वभाववाले निजभगवान आत्मा को नहीं जानता - इसी बजह से कर्ममल से लिप्त होता है और संसार सागर में परिभ्रमण करता है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १५३-१५४
२. वही, पृष्ठ १५४
३. वही, पृष्ठ १५६

समयसार गाथा १६१ से १६३

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेणजीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो ॥ १६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥ १६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥ १६३॥

सम्यक्त्व प्रतिबन्धक करम मिथ्यात्व जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है सदा ॥ १६१॥
सद्ज्ञान प्रतिबन्धक करम अज्ञान जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने - यह जानना ॥ १६२॥
चारित्र प्रतिबन्धक करम जिन ने कषायों को कहा ।
उसके उदय से जीव चारित्रहीन हो - यह जानना ॥ १६३॥

सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक मिथ्यात्व है। - ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। - ऐसा जानना चाहिए। ज्ञान का प्रतिबन्धक अज्ञान है। - ऐसा जिनवरों ने कहा है - उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है। ऐसा जानना चाहिए। चारित्र का प्रतिबंधक कषाय है। - ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव अचारित्रवान होता है। - ऐसा जानना चाहिए।

इन सीधी-सरल गाथाओं का सीधा-सरल भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

"मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्वस्वभाव का प्रतिबंधक मिथ्यात्व है। वह स्वयं कर्म ही है और उसके उदय से ही ज्ञान (आत्मा) के मिथ्यादृष्टिपना होता है। मोक्ष के कारणभूत ज्ञानस्वभाव का प्रतिबंधक अज्ञान है। वह स्वयं कर्म ही है और उसके उदय से ज्ञान (आत्मा) के अज्ञानीपना होता है। मोक्ष के कारणभूत चारित्रस्वभाव की प्रतिबंधक कषाय है। वह स्वयं कर्म ही है और

उसके उदय से ज्ञान (आत्मा) के अचारित्रपना होता है। इसलिए यहाँ मोक्ष का तिरोधायी होने से कर्म का निषेध किया गया है।''

इसीप्रकार का भाव तात्पर्यवृत्ति में भी है। इसप्रकार गाथा और टीकाओं का निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं और इनके प्रतिबंधक मिथ्यात्वादिभाव हैं, जो स्वयं ही कर्मरूप हैं। यही कारण है कि कर्मरूप समस्त शुभाशुभभावों का मुक्तिमार्ग में निषेध किया गया है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

''वस्तुतः शुभभाव स्वयं मिथ्यात्व नहीं है, बल्कि शुभभाव को अपना मानना मिथ्यात्व है। तथा मिथ्यात्वसहित ज्ञान व आचरण अज्ञान व अचारित्र हैं।

देखो, शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव करके प्रतीति करना सम्यक्त्व है और यह सम्यक्त्व मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। यहाँ स्वभाव का अभिप्राय त्रिकाली स्वभाव से नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन पर्याय की बात है। सम्यक्त्व मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है और उसे रोकने वाला मिथ्यात्व है। यहाँ मिथ्यात्व अर्थात् जीव के परिणाम की बात है, मिथ्यात्व कर्म की नहीं। कर्म के निमित्त से तो कथन किया जाता है। वस्तुतः तो तत्त्व के अश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव ही सम्यक्त्व का रोकने वाला है, प्रतिबन्धक कारण है; जड़कर्म मोक्षमार्ग का अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रतिबन्धक नहीं है; क्योंकि वह तो परद्रव्य है।[१]

यहाँ गाथा में मिथ्यात्वादि के उदय की जो बात कही है, उसका अर्थ यह है कि शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा की प्रतीतिरूप श्रद्धान से विपरीत परिणमन होना ही मिथ्यात्व का उदय है। यथा पुण्य से धर्म होता है, निमित्त से आत्मा में लाभ-हानि होती है, मैं दूसरों का भला-बुरा कर सकता हूँ या दूसरे लोग मेरा भला-बुरा कर सकते है - यह मान्यता ही सम्यक्त्व के विरुद्ध है और यह विरुद्धभावरूप परिणमन ही मिथ्यात्व है।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १६१
२. वही, पृष्ठ १६२

अब यहाँ ज्ञान को रोकने वाले अज्ञान की बात कहते हैं। यहाँ आत्मा के अर्थ में जो 'ज्ञान' शब्द आया है, वह त्रिकाली आत्मा के अर्थ में नहीं है, बल्कि आत्मा का ज्ञानरूप से परिणमन होने पर जो सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, उसकी बात है। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान व आनंद का कन्द प्रभु है। उसके सन्मुख ढलते हुए जो स्वरूप का ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है तथा वही मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। शास्त्रज्ञान स्वयं सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि यह तो परलक्ष्यी ज्ञान है; अत: अज्ञान ही है। तथा वकालात, डॉक्टरी आदि का लौकिक ज्ञान भी परलक्ष्यी होने से सम्यग्ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है। ज्ञान तो उसे कहते है जो स्वलक्ष्य से पूर्णानन्द के नाथ ज्ञानस्वरूप निज शुद्धात्मा को जानता-अनुभवता हुआ हो, वही ज्ञान मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। उसे रोकनेवाला एवं उसका विरोधी होने से शेष सब अज्ञान है। वस्तुत: ज्ञान का राग में व परद्रव्यों के जानने में अटकना या रुकना ही अज्ञान है और यह अज्ञान सम्यग्ज्ञान का विरोधी है।[१]

अब चारित्र का तीसरा बोल कहते है - पूर्णानंद के नाथ ज्ञायकमूर्ति भगवान आत्मा में रमने को, उसी में लीन होने को चारित्र कहते है।[२]

यहाँ कहते है कि स्वरूप में रमणतारूप प्रगट हुए चारित्र में आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है। चारित्र कहते ही उसे है, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ हो। भगवान आत्मा अकेला आनन्द की खान है। आत्मा की पर्याय आनन्द की प्रकृष्ट धारा के प्रवाहित होने का नाम ही चारित्र है।[३]

अब कहते हैं कि शुभाशुभभावरूप कषाय परिणाम ही चारित्र का विरोधी परिणाम है, चारित्र को रोकनेवाला भाव है। शरीर की नग्नता तो जड़-माटी की अवस्था है, जो कि दु:ख का ही कारण है। आस्रव का भाव तो चारित्र है नहीं। चारित्र तो अपने सिद्ध समान शुद्धात्मा के स्वरूप में रमणता से उत्पन्न

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १६७
२. वही, पृष्ठ १६८
३. वही, पृष्ठ १६९

हुआ अपना समरसीभावरूप परिणाम है। वही मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। यह शुभाशुभ भाव उस चारित्ररूप स्वभाव को रोकनेवाला भाव है। इसे चाहे व्यवहार कहो, कषाय कहो या चारित्र का विरोधीभाव कहो - ये सब एकार्थवाचक हैं।[१]

उस चारित्र को रोकने वाली कषाय है। दया-दान-व्रत-तप आदि का जो शुभभाव है, वह चारित्र को रोकने वाला है। वह शुभभाव ही स्वयं कर्म है, उसके उदय से अर्थात् उत्पन्न होने से आत्मा के अचारित्रपना होता है। इसीलिए कहा है कि कर्म स्वयं मोक्ष के कारण का तिरोधायी भावस्वरूप होने से उसका निषेध किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि शुभभाव धर्म नहीं है, क्योंकि वह विकारीभाव होने से स्वयं निषेध कर दिया गया है। वह धर्म तो है ही नहीं, धर्म का कारण भी नहीं है, बल्कि धर्म से विरुद्ध स्वभाववाला है।

धर्मी जीवों को भी शुभभाव आता है, परन्तु उसे वह धर्म नहीं मानता, बल्कि हेय मानता है।[२]''

स्वामीजी के उक्त स्पष्टीकरण के बाद कहने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता है।

इसप्रकार यहाँ पुण्यपापाधिकार की गाथाएँ समाप्त हो रही हैं। विगत सात गाथाओं का तात्पर्य बताते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

''पहले तीन गाथाओं में कहा था कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों का, सम्यक्त्वादि का घातक है। बाद की एक गाथा में यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। और इन अन्तिम तीन गाथाओं में कहा है कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों से विरोधी भावस्वरूप है - मिथ्यात्वादिस्वरूप है। इसप्रकार यह बताया है कि कर्म मोक्ष के कारण का घातक है, बन्धस्वरूप है और बन्ध का कारणस्वरूप है; इसलिये निषिद्ध है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १६९
२. वही, पृष्ठ १७१

अशुभ कर्म तो मोक्ष का कारण है ही नहीं, प्रत्युत बाधक ही है, इसलिये निषिद्ध ही है, परन्तु शुभकर्म भी कर्म सामान्य में आ जाता है, इसलिये वह भी बाधक ही है; इसलिए निषिद्ध ही है – ऐसा समझना चाहिए।''

अधिकार के समापन के अवसर पर आचार्य अमृतचन्द्र चार कलश लिखते हैं, जिनमें पहला इसप्रकार है –

(शादूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना ।
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतु र्भवन् ।
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

(हरिगीत)

त्याज्य ही हैं जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये ।
तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए ॥
निज आतमा के लक्ष्य से जब परिणमन हो जायगा ।
निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा ॥ १०९॥

मोक्षार्थियों के लिए समस्त ही कर्म त्याग करने योग्य हैं। जब यह सुनिश्चित है, तब फिर पुण्य और पाप कर्मों की चर्चा ही क्या करना; क्योंकि सभी कर्म त्याज्य होने से पुण्य भला और पाप बुरा यह बात ही कहाँ रह जाती है ? ऐसी स्थिति होने पर सम्यक्त्वादि निजस्वभाव के परिणमन से मोक्ष की कारणभूत निष्कर्म अवस्था का रसिक ज्ञान स्वयं ही दौड़ा चला आता है।

इस कलश में यह स्पष्ट किया गया है कि जब मोक्षार्थियों के लिये सभी कर्म त्याज्य हैं तो फिर इस चर्चा के लिये अवकाश ही कहाँ रह जाता है कि पुण्य भला है और पाप बुरा है। अत: इस चर्चा को विस्तार देने से कोई लाभ नहीं है। अरे भाई ! निजभगवान आत्मा के आश्रय से जब सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होते है, तब निष्कर्म अवस्था का रसिक ज्ञान सहज ही प्रगट हो जाता है, उसके लिए अलग से कोई पुरुषार्थ करने की अपेक्षा नहीं रहती।

उक्त सन्दर्भ में कलशटीका का निम्नांकित अंश द्रष्टव्य है –

"शुभक्रियारूप, अशुभक्रियारूप, अन्तर्जल्परूप, बहिर्जल्परूप इत्यादि करतूतिरूप क्रिया अथवा ज्ञानावरणी पुद्गल का पिंड, अशुद्ध रागादिरूप जीव के परिणाम - ऐसा कर्म जीवस्वरूप का घातक है, ऐसा जानकर आमूलचूल त्याज्य है।...

कोई आशंका करेगा कि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन; ज्ञान, चारित्र इन तीनों का मिला हुआ है; पर यहाँ ज्ञानमात्र को मोक्षमार्ग कहा - ऐसा क्यों कहा ?

उसका समाधान ऐसा है - शुद्धस्वरूप ज्ञान में सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र सहज ही गर्भित हैं। इसलिए दोष तो कुछ नहीं, गुण है।"

उक्त कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है -

(इकतीसा सवैया)

मुकतिके साधककौं बाधक करम सब,
आतमा अनादिकौ करम मांहि लुक्यौ है ।
एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महामूढ़, मोखमारगसौं चुक्यौ है ॥
सम्यक सुभाउ लिये हियेमैं प्रगट्यौ ग्यान,
ऊरध उमंगि चल्यौ काहूपै न रुक्यौ है ।
आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु,
कारनसरूप ह्वै कै कारजकौं ढुक्यौ है ॥

मुक्ति के साधक के लिए सभी कर्म बाधक ही हैं; क्योंकि अनादिकाल से यह आत्मा कर्मों में ही तो छुपा हुआ है। यह बात सुनिश्चित होने पर भी कोई कहता है कि पापकर्म बुरा है और पुण्यकर्म भला है; किन्तु ऐसा कहने वाला महामूर्ख है और मुक्तिमार्ग से चूका हुआ है, विमुख है। जब सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान उमंग के साथ आगे बढ़ता है तो किसी के रोके रुकता नहीं।

बनारसीदासजी कहते हैं कि आरसी (दर्पण) के समान उज्ज्वल वह ज्ञान स्वयं कारणस्वरूप होकर कार्यरूप परिणमित हो जाता है, सिद्धदशा को प्राप्त कर लेता है।

'पुण्यकर्म भी पाप ही है।' - इस बात को स्पष्ट करने के लिये स्वामीजी आगम प्रस्तुत करते हुए कहते हैं -

''इसी अधिकार में आचार्य जयसेन की टीका में भी यह बात कहते हैं -

'अत्राह शिष्यः जीवादिसद्दहणम् इत्यादि व्यवहाररत्नत्रय व्याख्यानं कृतं तिष्ठति कथं पापाधिकार इति ।

यहाँ आचार्य जयसेन ने शिष्य के मुख में डालकर ऐसा प्रश्न उठाया है कि इस अधिकार में तो जीवादि के श्रद्धानरूप व्यवहाररत्नत्रय का व्याख्यान किया है, फिर इसे पाप अधिकार क्यों कहा गया है ?'

जयसेनाचार्य के ही शब्दों में उत्तर इसप्रकार है -

'यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालंबनेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणं।

यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रय का उपादेयभूत कारण होने से पवित्र है, तथापि बहिर्द्रव्य का आलम्बन होने से एवं पराधीन होने से स्वरूप से पतित करता है, स्वाधीनता को नष्ट करता है, इस अपेक्षा पुण्यरूप व्यवहाररत्नत्रय को पाप कहा गया है।'

व्यवहाररत्नत्रय के कषाय की मंदतारूप शुभभावों को पाप कहने का दूसरा कारण बताते हुए वे लिखते हैं -

'निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयंकारणम् इति निश्चयनयापेक्षया पापं।

निर्विकल्प समाधि में लीन पुरुष व्यवहार के विकल्प के अवलम्बन से स्वरूप से पतित हो जाते हैं। इसकारण भी व्यवहाररत्नत्रय के शुभविकल्पों को निश्चयनय की अपेक्षा पाप कहा गया है।'

इसी क्रम में तीसरा कारण बताते हुए आचार्य जयसेन ही आगे लिखते हैं कि -

'अथवा सम्यक्त्वादि विपक्षभूतानां मिथ्यात्वादीनां व्याख्यानं कृतमिति व पापाधिकारः ।

अथवा सम्यक्त्वादि से विरुद्ध होने से मिथ्यात्वादि को पाप का अधिकार कहा है; क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग सम्यक्रत्नत्रय के वीतरागी परिणाम से विरुद्ध होने से पाप है। इसकारण यह पाप अधिकार चलता है - ऐसा कहा गया है।'

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भी प्रवचनसार की ७७वीं गाथा में कहा है -

'पुण्य व पाप में कोई अन्तर नहीं है – ऐसा जो नहीं मानता, वह मोह-मिथ्यात्व से आच्छादित है। अथवा पुण्य व पाप में अन्तर नहीं होते हुए भी जो उन दोनों में अन्तर है – ऐसा मानता है, वह मोह से मिथ्यात्व से आच्छादित रहता हुआ अपार संसार में डोलता है।

पुण्य व पाप दोनों ही सामान्यरूप से बन्धरूप होने पर भी जो पुण्य को अच्छा व पाप को बुरा मानता है, वह घोर संसार में रखड़ेगा।'

अहो! मात्र कुन्दकुन्द ही नहीं, सर्व दिगम्बर संत इस सनातन वीतरागी जैनदर्शन के प्रवाह का ही पोषण करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द आज से दो हजार वर्ष पूर्व हुए, आचार्य अमृतचंद्र उनके बाद आज से एक हजार वर्ष पूर्व हुए तथा आचार्य जयसेन आज से ९०० वर्ष पूर्व हुए अर्थात् आचार्य अमृतचन्द्र से १०० वर्ष बाद आचार्य जयसेन हुए। आचार्यों में काल का इतना अन्तर होते हुए भी सभी दिगम्बर संतों का एक ही कथन है कि देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा, बारह व्रतों व पाँच महाव्रतों का भाव तथा शास्त्रों का परलक्ष्यी ज्ञान ये सभी निश्चय की अपेक्षा अर्थात् स्वभाव से पतित करानेवाले है।[१]''

उक्त कथनों से यह सुनिश्चित ही है कि एक प्रकार से पुण्य भी पाप ही है, मुक्तिमार्ग में पाप के समान ही हेय है, त्याज्य है और उसे मुक्ति का कारण मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १७५-१७६

अब आगामी कलश में यह कहते हैं कि यद्यपि पुण्यभावरूप कर्म भी मुक्तिमार्ग का विरोधी भाव है; तथापि ज्ञानधारा और कर्मधारा का एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है।

(शादूलविक्रीडित)

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा ।
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तत् ।
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

(हरिगीत)

यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो ।
हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो ॥
अवरोध इसमें हैं नहीं पर कर्मधारा बंधमय ।
मुक्तिमारग एक ही हैं, ज्ञानधारा मुक्तिमय ॥११०॥

जबतक ज्ञान की कर्मविरति पूर्णता को प्राप्त नहीं होती; तबतक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्रों में कहा है। तात्पर्य यह है कि, तबतक ज्ञानधारा और कर्मधारा के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है। किन्तु इतना विशेष है कि अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह बंध का कारण है और जो स्वतः विमुक्त परमज्ञान है, वह मोक्ष का कारण है।

उक्त कलश में यह कहा गया है कि, जबतक शुभाशुभ कर्म पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाते; तबतक शुभाशुभकर्मधारा और सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान एवं आंशिक विरतिरूप ज्ञानधारा एक आत्मा में एक साथ रहती हैं; क्योंकि उनमें सहावस्थान विरोध नहीं हैं, एक साथ में रहने में कोई बाधा नहीं है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि उन दोनों धाराओं के एक रहने पर भी दोनों के कार्य अलग-अलग ही रहते हैं। कर्मधारा बंध करती है और ज्ञानधारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

इस छन्द का भाव नाटक समयसार में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

(सवैया इकतीसा)

जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा,
तौलौं अंतरातमामैं धारा दोई बरनी ।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दूहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी-न्यारी धरनी ॥
इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी ।
ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार,
दोखकी हरनहार भौ-समुद्र-तरनी ॥

जबतक अष्टकर्मों का सम्पूर्णत: नाश नहीं हो जाता, तबतक अन्तरात्माओं के दो धारायें कहीं गई हैं। उनमें एक तो ज्ञानधारा और दूसरी शुभाशुभ कर्मधारा है। दोनों धाराओं की सत्ता भी पृथक्-पृथक् है और प्रकृति भी जुदी-जुदी है। इनमें इतनी बात विशेष कहने योग्य है कि कर्मधारा बंधरूप है और अनेक प्रकार के कर्मबंध करनेवाली है; इसकारण आत्मशक्ति को पराधीन करनेवाली है और ज्ञानधारा मोक्षरूप है, मोक्ष को करनेवाली हैं, दु:खों को दूर करनेवाली हैं और संसार सागर से पार उतारनेवाली हैं।

इस कलश में आये भावों का स्पष्टीकरण पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार करते हैं -

"जबतक यथाख्यात चारित्र नहीं होता। तबतक सम्यक्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं, शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। (जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञान के परस्पर विरोध है, वैसे कर्म सामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प या व्रत-नियम के विकल्प अथवा शुद्धस्वरूप का विचार तक भी - कर्मबन्ध का कारण है, शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।"

देखो, यहाँ व्रत-नियम के विकल्पों और शुद्धस्वरूप के विचारों को भी कर्मबंध का कारण कहा है।

इस सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं -

''भगवान केवली सम्पूर्ण अबन्ध हैं, मिथ्यादृष्टि को सम्पूर्ण बन्ध है और मोक्षमार्गी समकिती साधक जीव को कुछ बन्ध व कुछ अबंध है। समकिती धर्मी को कुछ कर्मों के बंध का अभाव है और कुछ कर्मबन्ध का सद्भाव है। दोनों एकसाथ होते हैं। द्रव्यस्वभाव के स्पर्श से साधक को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभाव प्रगट होता है, वह ज्ञान ही अकेला मोक्ष का कारण है तथा जितना शुभाशुभभाव से परिणमन किया है, उतना बंधन का कारण है। ज्ञान स्वतः विमुक्त है, इसकारण ज्ञान ही अकेला मोक्ष का कारण है।[१]

यही बात कलश टीकाकार राजमलजी ने ११०वें कलश की टीका में कही है -

'यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा कि मिथ्यादृष्टि का यतिपना जो क्रियारूप है, वह बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि का शुभक्रियारूप यतिपना है, वह तो मोक्ष का कारण है; क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया-व्रत-तप-संयमरूप क्रिया - दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते हैं। - ऐसी प्रतीति कुछ अज्ञानी जीव करते हैं।

वहाँ समाधान यह है कि - जितनी शुभ-अशुभक्रिया, बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्यों के विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूप का विचार इत्यादि समस्त कर्मबन्धन का कारण है। ऐसी क्रिया का ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का ऐसा भेद तो कहीं पर नहीं है, ऐसी करतूत से ऐसा बन्ध है। शुद्धस्वरूप परिणमन मात्र से मोक्ष है, जो कि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्ध ज्ञान भी है, क्रियारूप परिणमन भी है; तो भी क्रियारूप जो परिणाम उससे केवल बंध होता है, कर्म का क्षय एक अंश भी नहीं होता; ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १८७

सहारा किसका ? उसी काल में शुद्धस्वरूप-अनुभवज्ञान भी है, उस ज्ञान से कर्मक्षय होता है, एक अंशमात्र भी बन्ध नहीं होता, वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है।'

तथा वहीं पर आगे प्रश्न उठाकर कहा है कि - 'एक जीव में ही काल में ज्ञान व क्रिया दोनों ही किसप्रकार होते हैं ? समाधान यह है कि विरुद्ध तो कुछ नहीं है। कितने ही कालतक दोनों होते हैं, ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, परन्तु विरोध जैसा लगता है, तथापि सब अपने-अपने स्वरूप से हैं, कोई किसी का विरोध तो करते नहीं हैं।'

इसप्रकार ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अपने में एकाग्र होकर प्रवर्तमान जितनी ज्ञानधारा है, उतना-उतना संवर-निर्जरा का कारण है; उसमें किंचित् भी बंध का कारण नहीं है और बहिर्मुखपने से प्रवर्तती जितनी शुभाशुभ रागधारा है, उतनी बंध का कारण है, उसमें एक अंश भी संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। भावलिंगी मुनिवरों को जो पंचमहाव्रत के परिणाम हैं, वे बन्ध के कारण हैं तथा एक शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है। कथंचित् ज्ञानधारा व कथंचित् रागधारा मोक्ष का कारण हो - ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

जगत के जीवों को शुभभाव में धर्मबुद्धि का संस्कार पड़ गया है, उसके प्रति विशेष लगाव हो गया है, उसमें से धर्मबुद्धि का संस्कार छूटता नहीं है; इसकारण शुभभाव से लाभ होता है - ऐसा कोई कहते हैं तो प्रसन्न हो जाते हैं, वृत्ति के अनुसार उपदेश मिला तो ठीक लगता है। परन्तु भाई ! यह मान्यता बड़ी भारी मिथ्यात्वनामक शल्य है।[१]''

इसप्रकार इस कलश में यह बात एकदम साफ हो गई है कि भले ही छद्मस्थ ज्ञानी धर्मात्माओं के ज्ञानधारा और कर्मधारा एक साथ रहती हों; तथापि यह बात तो स्पष्ट ही है कि कर्मधारा बंध का ही कारण है, इस कारण हेय है, त्याज्य है और मुक्ति का कारण होने से ज्ञानधारा उपादेय है, विधेय है, साक्षात् धर्म है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १८९-१९०

अब आगामी कलश में कहते हैं कि कर्मनय और ज्ञाननय के एकान्त पक्षपाती अज्ञानी जीव संसार-सागर में डूबते हैं और इनका वेलेंस बनाकर चलनेवाले स्याद्वादी संसार-सागर से पार होते हैं। कलश मूलतः इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति यत् ।
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि यदति स्वच्छंदमंदोद्यमाः॥
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥ १११॥

(हरिगीत)

कर्मनय के पक्षपाती ज्ञान से अनभिज्ञ हों ।
ज्ञाननय के पक्षपाती आलसी स्वच्छंद हों ।।
जो ज्ञानमय हो परिणमित परमाद के वश में न हों ।
कर्म विरहित जीव वे संसार-सागर पार हों ॥ १११॥

कर्मनय के अवलंबन में तत्पर कर्म के पक्षपाती जीव संसार-सागर में डूबे हुए हैं; क्योंकि वे ज्ञान (आत्मा) को नहीं जानते और ज्ञाननय के इच्छुक पक्षपाती जीव भी डूबे हुये हैं; क्योंकि वे स्वच्छंदता से अत्यन्त मन्द उद्यमी हैं। तात्पर्य यह है कि वे स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते और विषय-कषाय में वर्तते हैं। किन्तु जो जीव निरन्तर ज्ञानरूप होते हुये ज्ञानरूप परिणमित होते हुये कर्म नहीं करते, शुभाशुभ कर्मों से विरक्त रहते हैं और कभी प्रमाद के वश भी नहीं होते। वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं।

उक्त कलश का भाव पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में विस्तार से स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है -

''यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध करते हैं; क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय ही मिथ्यात्व हैं।

कितने ही लोग परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जानते नहीं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकाण्ड के आडम्बर को मोक्ष का कारण

जानकर उसमें तत्पर रहते हैं, उसका पक्षपात करते हैं। ऐसे कर्मनय के पक्षपाती लोग - जो कि ज्ञान को तो नहीं जानते, कर्मनय में ही खेदखिन्न हैं; वे संसार में डूबते हैं।

और कितने ही लोग आत्मस्वरूप को यथार्थ नहीं जानते तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से अथवा अपने आप ही अन्तरंग में ज्ञान का स्वरूप मिथ्याप्रकार से कल्पित करके उसमें पक्षपात करते हैं। वे अपनी परिणति में किंचित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना अपने को सर्वथा अबन्ध मानते हैं और व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के क्रियाकाण्ड को निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं - ऐसे ज्ञाननय के पक्षपाती लोग जो कि स्वरूप का कोई पुरुषार्थ नहीं करते और शुभ परिणामों को छोड़कर स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायों में वर्तते हैं, वे भी संसारसमुद्र में डूबते हैं।

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए शुभाशुभ कर्मों को (अर्थात् शुभाशुभभावों को) हेय जानते हैं और शुद्ध परिणति को ही उपादेय जानते हैं। वे मात्र अशुभ कर्मों को ही नहीं; किन्तु शुभ कर्मों को भी छोड़कर, स्वरूप में स्थिर होने के लिये निरंतर उद्यमी रहते हैं - वे संपूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ करते ही रहते हैं। जबतक, पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण शुभाशुभ परिणामों से छूटकर स्वरूप में सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता; तबतक - यद्यपि स्वरूपस्थिरता का आन्तरिक-आलम्बन (अन्तः साधन) तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है; तथापि - आन्तरिक आलम्बन लेनेवाले को जो बाह्य आलम्बनरूप होते हैं ऐसे (शुद्ध स्वरूप के विचार आदि) शुभ परिणामों में वे जीव हेयबुद्धि से प्रवर्तते हैं, किन्तु शुभ कर्मों को निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होने की बुद्धि कभी नहीं होती। ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मों का नाश करके संसार से निवृत्त होते हैं।''

नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार किया गया है -

(सवैया इकतीसा)

समुझैं न ज्ञान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यात की गहल मैं ।
ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा,
बरतैं सुछंद तेऊ बूढे हैं चहल मैं ॥
जथा जोग करम करैं पै ममता न धरैं,
रहैं सावधान ग्यान ध्यान की टहल मैं ।
तेई भवसागर के ऊपर ह्वै तरैं जीव,
जिन्हि को निवास स्यादवाद के महल मैं ॥

जो जीव ज्ञान (आत्मा) को तो जानते नहीं है और ऐसा मानते हैं कि शुभकर्म करने से मोक्ष होगा - ऐसे जीव मिथ्यात्व की गहल (अर्धमूर्च्छितावस्था अथवा पागलपन) में विकल (आकुलित) हो रहे हैं।

जो जीव ज्ञान का पक्ष ग्रहण करके कहते हैं कि आत्मा तो सदा अबंध ही है। ऐसा मानकर स्वच्छंद आचरण करते हैं; वे जीव भी भव-पंक में बूड़े (डूबे-फंसे) हैं। किन्तु जो यथायोग्य भूमिकानुसार शुभाचरण भी आचरते हैं; किन्तु उसमें ममत्व धारण नहीं करते; उसमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्थापित नहीं करते; तथा आत्मा के ज्ञान और ध्यान में सदा सावधान रहते हैं। इसप्रकार जिनका निवास स्याद्वादरूपी महल में है, वे जीव संसार-सागर से पार हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि स्याद्वादी ही संसार-सागर के पार होते हैं।

इस कलश में यहीं कहा गया है कि ज्ञान और क्रिया के एकान्त को छोड़कर जो आत्मज्ञान और भूमिकानुसार आचरण को उत्पन्नकर आत्मोन्मुखी उग्रपुरुषार्थ करते हैं; वे ही संसार-सागर को पार कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इस संदर्भ में स्वामीजी के विचार इसप्रकार हैं -

''इस कलश में कर्मनय व ज्ञाननय का अन्तर स्पष्ट करते हुये दोनों नयों के पक्षपातियों को अज्ञानी कहा है; क्योंकि कर्मनय का पक्षपाती शुभक्रिया में अटका है। वह शुभक्रिया को ही अपना कर्म यानि कर्तव्य मान बैठा है एवं

ज्ञाननय का पक्षपाती बातें तो बड़ी-बड़ी करता है; किन्तु जीवन में स्वच्छंदतया वर्तता है। एक जड़क्रिया में मग्न है, दूसरा स्वच्छन्दता के पोषण में।[१]

जिनको अन्तरंग में चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने की ओर झुकाव तो हुआ नहीं, केवल बाहर-बाहर से ज्ञान की बातें करते हैं, वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं। तथा जो स्वभाव में दृष्टि की एकाग्रता का विचार तो करते हैं, किन्तु जिन्होंने स्वरूप का प्रत्यक्ष आस्वाद नहीं किया, वे भी सम्यक्त्वसन्मुख-मिथ्यादृष्टि हैं।

यहाँ दो प्रकार के जीव लिए हैं - एक शुभराग की क्रिया में धर्म माननेवाले और दूसरे ज्ञान की मात्र कोरी बातें करनेवाले। एक शुभराग को अनेक क्रियाओं में रुक करके मिथ्यात्वसहित होने से संसार में डूबते हैं तथा दूसरे पुरुषार्थरहित प्रमादी होकर विषय-कषाय में स्वछन्द वर्तते हुए संसार समुद्र में डूबेंगे।

यहाँ कहते हैं कि जो जीव ज्ञानरूप परिणमता हुआ कर्म नहीं करता, वह भवसमुद्र में तर जाता है। ज्ञानी कर्म नहीं करता, इसका अर्थ यह है कि अनुभव के काल में ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता तथा ज्ञानी को वर्तमान कमजोरी के कारण जो राग होता है, उसका भी वह कर्ता नहीं है। अर्थात् उसके अभिप्राय में पर के व राग के कर्तृत्वभाव का अभाव हो गया है। पर में व राग में अब उसके एकत्व व स्वामित्व नहीं रहा, इसकारण अब वह कर्म का कर्ता नहीं है। राग के वशीभूत होकर वह मिथ्यात्व में नहीं जाता। इसतरह निरंतर स्वरूप में उद्यमशील रहकर एवं प्रमादरहित होकर संसार से तर जाता है। जो स्वरूप में झुकता है, उसमें लीन होता हैं तथा उसी में उद्यमवंत रहता हैं, प्रयत्नशील रहता है, वह मोक्षमार्गी है। तथा जो स्वरूप से विमुख है, वह मिथ्यादृष्टि है, संसार-सागर में डूबनेवाला है।[२]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग ५, पृष्ठ १९३
२. वही, पृष्ठ १९४

इसप्रकार इस कलश में यह कहा गया है कि कुछ लोग आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना, आत्मानुभव किये बिना; व्रत-उपवासादि क्रियायें करके ही अपने को धर्मात्मा मान लेते हैं। ऐसे जीव कर्मनय के पक्षपाती हैं, एकान्ती हैं; इस कारण वे संसार-सागर में डूबने वाले ही हैं।

दूसरे कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि जो आत्मा की बातें तो बहुत करते हैं, पर आत्मा का अनुभव उन्हें नहीं होता। आत्मा के अनुभव बिना ही स्वयं को ज्ञानी मान लेने वाले वे लोग स्वच्छन्द हो जाते हैं, प्रमादी हो जाते हैं; भूमिकानुसार होने वाले सदाचरण की भी उपेक्षा करते हैं। ऐसे लोग ज्ञाननय के पक्षपाती हैं, एकान्ती हैं; इसकारण संसार में ही भटकने वाले हैं।

ज्ञानी धर्मात्मा तो आत्मज्ञानी होते हैं, आत्मानुभवी होते हैं और भूमिकानुसार उनका जीवन भी पवित्र होता है, सदाचारी होता है। ऐसा होने पर भी वे अपने उस सदाचरण को, भूमिकानुसार होने वाले शुभभावों को धर्म नहीं मानते। उनकी दृष्टि में धर्म तो आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाला निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणमन ही है।

इसप्रकार यहाँ पुण्यपापाधिकार समाप्त हो रहा है। अत: अन्त मंगलाचरण के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र एक कलश लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(मन्दक्रान्ता)

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं ।
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ॥
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि ।
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥ ११२॥

(हरिगीत)

जग शुभ अशुभ में भेद माने मोह मदिरापान से ।
पर भेद इनमें हैं नहीं जाना है सम्यग्ज्ञान से ॥
यह ज्ञानज्योति तमविरोधी खेले केवलज्ञान से ।
जयवंत हो इस जगत में जगमगै आतमज्ञान से ॥ ११२॥

मोहरूपी मदिरा के पान से उत्पन्न भ्रम रस के भार से शुभाशुभ कर्म के भेदरूपी उन्माद को नचानेवाले समस्त शुभाशुभ कर्मों को अपने ही बल द्वारा जड़मूल से उखाड़कर अज्ञानरूपी अंधकार को नाश करनेवाली सहज विकासशील, परमकला केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करनेवाली अत्यन्त सामर्थ्य युक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई।

यह कलश पुण्यपापाधिकार का अन्तिम कलश है। इसलिये इसमें अधिकार के अन्त में होनेवाले मंगलाचरण के रूप में उसी ज्ञानज्योति का स्मरण किया गया है, जिसका स्मरण आरंभ से ही मंगलाचरण के रूप में करते आ रहे हैं। इस कलश में समागत सभी विशेषण ज्ञानज्योति की महिमा बढ़ाने वाले हैं।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पुण्यपापाधिकार का समापन कलश होने से यहाँ उस ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया है, जिसने शुभ और अशुभ कर्म में भेद मानने रूप अज्ञान का नाश किया है।

इसप्रकार यहाँ पुण्यपापाधिकार समाप्त हो रहा है। अत: आचार्य अमृतचन्द्रदेव अधिकार की समाप्ति का सूचक वाक्य लिखते हैं जो इसप्रकार है -

"इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रान्तम् ।

पुण्य-पापरूप से दो पात्रों के रूप में नाचने वाला कर्म अब एक पात्ररूप होकर रंगभूमि में से बाहर निकल गया।"

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि इस ग्रन्थराज को यहाँ नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस पुण्यपापाधिकार में कर्मरूपी एक पात्र पुण्य और पाप - ऐसे दो वेष बनाकर रंगभूमि में प्रविष्ट हुआ था, किन्तु जब वह सम्यग्ज्ञान में यथार्थ भासित हो गया तो वह नकली वेष त्यागकर अपने असली एक रूप में आ गया और रंगभूमि से बाहर निकल गया।

अधिकार के अन्त में पण्डित जयचंदजी छावड़ा प्रत्येक अधिकार के समान यहाँ भी एक छन्द लिखते हैं, जिसमें अधिकार की समस्त विषयवस्तु को समेट लिया गया है। वह छन्द इसप्रकार है -

(सवैया तेईसा)

आश्रय कारण रूप सवादसुं भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,
पुण्यरूपाप शुभाशुभ भावनि बन्ध भये सुखदुःखकरा रे ।
ज्ञान भये दोऊ एक लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बन्ध के कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे ।।

आश्रय, कारण, स्वरूप और अनुभव इन चार के माध्यम से पुण्य और पाप में भिन्नता का जो विचार अज्ञानी ने प्रस्तुत किया था या अज्ञानावस्था में खड़ा हुआ था, उसके अनुसार शुभभाव पुण्य बंध के और अशुभभाव पापबंध के कारण होकर सुख-दुःख करने वाले थे, किन्तु सम्यग्ज्ञानज्योति जगने पर ज्ञानी ने ऐसा विचार किया कि दोनों एक ही है। इसप्रकार ज्ञानी जीवों ने उन्हें एक रूप में देखा और दोनों को ही बंध के कारण जानकर दोनों का ही त्याग करके ज्ञानी मुनिराज मोक्ष को पधार गये। तात्पर्य यह है कि मुक्ति प्राप्त करने का उपाय तो इन दोनों का अभाव करने रूप ही है।

इसप्रकार यहाँ यह पुण्यपापाधिकार समाप्त हुआ।

अतः विषय-कषाय, व्यापार-धन्धा और व्यर्थ के वादविवादों से समय निकालकर वीतरागवाणी का अध्ययन करो, मनन करो, चिन्तन करो, बन सके तो दूसरों को भी पढ़ाओ, पढ़ने की प्रेरणा दो, इसे जन-जन तक पहुँचाओ, घर-घर में बसाओ। स्वयं न कर सको तो यह काम करनेवालों को सहयोग अवश्य करो। वह भी न कर सको तो कम से कम इस भले काम की अनुमोदना ही करो। बुरी होनहार से यह भी संभव न हो तो कम से कम इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। इस काम में लगे लोगों की टाँग तो मत खींचो! इसके अध्ययन, मनन को निरर्थक तो मत बताओ, इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। यदि आप इस महान् कार्य को नहीं कर सकते, करने के लिए लोगों को प्रेरणा नहीं दे सकते, तो कम से कम इस कार्य में लगे लोगों को निरुत्साहित तो मत करो, उनकी खिल्ली तो मत उड़ाओ। आपका इतना सहयोग ही हमें पर्याप्त होगा।

– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ १७५

समयसार पद्यानुवाद

कर्ताकर्माधिकार

आतमा अर आस्रवों में भेद जब जाने नहीं ।
हैं अज्ञ तबतक जीव सब क्रोधादि में वर्तन करें ॥ ६९॥

क्रोधादि में वर्तन करें तब कर्म का संचय करें ।
हो कर्मबंधन इसतरह इस जीव को जिनवर कहें ॥ ७०॥

आतमा अर आस्रवों में भेद जाने जीव जब ।
जिनदेव ने ऐसा कहा कि नहीं होवे बंध तब ॥ ७१॥

इन आस्रवों की अशुचिता विपरीतता को जानकर ।
आतम करे उनसे निवर्तन दुःख कारण मानकर ॥ ७२॥

मैं एक हूँ मैं शुद्ध निर्मम ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ ।
थित लीन निज में ही रहूँ सब आस्रवों का क्षय करूँ ॥ ७३॥

ये सभी जीव निबद्ध अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं ।
दुःखरूप दुखफल जानकर इनसे निवर्तन बुध करें ॥ ७४॥

करम के परिणाम को नोकरम के परिणाम को ।
जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हों सद्ज्ञान को ॥ ७५॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
बहुभाँति पुद्गल कर्म को ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥ ७६॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
बहुभाँति निज परिणाम सब ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥ ७७॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
पुद्गल करम का नंतफल ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥ ७८॥

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
इस ही तरह पुद्गल दरव निजभाव से ही परिणमें ॥ ७९॥

जीव के परिणाम से जड़कर्म पुद्गल परिणमें ।
पुद्गल करम के निमित से यह आतमा भी परिणमें ॥ ८०॥

आतम करे ना कर्मगुण ना कर्म आतमगुण करे ।
पर परस्पर परिणमन में दोनों परस्पर निमित हैं ॥ ८१॥

बस इसलिए यह आतमा निजभाव का कर्ता कहा ।
अन्य सब पुद्गलकरमकृत भाव का कर्ता नहीं ॥ ८२॥

हे भव्यजन ! तुम जान लो परमार्थ से यह आतमा ।
निजभाव को करता तथा निजभाव को ही भोगता ॥ ८३॥

अनेक विध पुद्गल करम को करे भोगे आतमा ।
व्यवहारनय का कथन है यह जान लो भव्यात्मा ॥ ८४॥

पुद्गल करम को करे भोगे जगत में यदि आतमा ।
द्विक्रिया अव्यतिरिक्त हों संमत न जो जिनधर्म में ॥ ८५॥

यदि आतमा जड़भाव चेतनभाव दोनों को करे ।
तो आतमा द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि अवतरे ॥ ८६॥

मिथ्यात्व-अविरति-जोग-मोहाज्ञान और कषाय हैं ।
ये सभी जीवाजीव हैं ये सभी द्विविधप्रकार हैं ॥ ८७॥

मिथ्यात्व आदि अजीव जो वे सभी पुद्गल कर्म हैं ।
मिथ्यात्व आदि जीव हैं जो वे सभी उपयोग हैं ॥ ८८॥

मोहयुत उपयोग के परिणाम तीन अनादि से ।
जानों उन्हें मिथ्यात्व अविरतभाव अर अज्ञान ये ॥ ८९॥

यद्यपि उपयोग तो नित ही निरंजन शुद्ध है ।
जिसरूप परिणत हो त्रिविध वह उसी का कर्ता बने ॥ ९०॥

आतम करे जिस भाव को उस भाव का कर्ता बने ।
बस स्वयं ही उस समय पुद्गल कर्मभावे परिणमें ॥ ९१॥

पर को करे निजरूप जो पररूप जो निज को करे ।
अज्ञानमय वह आतमा पर करम का कर्ता बने ॥ ९२॥

पररूप ना निज को करे पर को करे निज रूप ना ।
अकर्ता रहे पर करम का सद्ज्ञानमय वह आतमा ॥ ९३॥

त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं क्रोध हूँ' इम परिणमें ।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने ॥ ९४॥

त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं धर्म हूँ' इम परिणमें ।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने ॥ ९५॥

इसतरह यह मंदबुद्धी स्वयं के अज्ञान से ।
निज द्रव्य को पर करे अरु परद्रव्य को अपना करे ॥ ९६॥

बस इसतरह कर्ता कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ।
जो जानते यह तथ्य वे छोड़ें सकल कर्तापना ॥ ९७॥

व्यवहार से यह आतमा घटपटरथादिक द्रव्य का ।
इन्द्रियों का कर्म का नोकर्म का कर्ता कहा ॥ ९८॥

परद्रव्यमय हो जाय यदि पर द्रव्य में कुछ भी करें ।
परद्रव्यमय होता नहीं बस इसलिए कर्ता नहीं ॥ ९९॥

ना घट करे ना पट करे ना अन्य द्रव्यों को करे ।
कर्ता कहा तत्रूपपरिणत योग अर उपयोग का ॥ १००॥

ज्ञानावरण आदिक जु पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं ।
उनको करे ना आतमा जो जानते वे ज्ञानि हैं ॥ १०१॥

निजकृत शुभाशुभभाव का कर्ता कहा है आतमा ।
वे भाव उसके कर्म हैं वेदक है उनका आतमा ॥ १०२॥

जब संक्रमण ना करे कोई द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में ।
तब करे कैसे परिणमन इक द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में ॥ १०३॥

कुछ भी करे ना जीव पुद्गल कर्म के गुण-द्रव्य में ।
जब उभय का कर्ता नहीं तब किसतरह कर्ता कहें? ॥ १०४॥

बंध का जो हेतु उस परिणाम को लख जीव में ।
करम कीने जीव ने बस कह दिया उपचार से ॥ १०५॥

रण में लड़ें भट पर कहे जग युद्ध राजा ने किया ।
बस उसतरह द्रवकर्म आतम ने किए व्यवहार से ॥ १०६॥

ग्रहे बाँधे परिणमावे करे या पैदा करे ।
पुद्गल दरव को आतमा व्यवहारनय का कथन है ॥ १०७॥

गुण-दोष उत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से ।
त्यों जीव पुद्गल द्रव्य का कर्ता कहा व्यवहार से ॥ १०८॥

मिथ्यात्व अरु अविरमण योग कषाय के परिणाम हैं ।
सामान्य से ये चार प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे ॥ १०९॥

मिथ्यात्व आदि सयोगि-जिन तक जो कहे गुणथान हैं ।
बस ये त्रयोदश भेद प्रत्यय के कहे जिनसूत्र में ॥ ११०॥

पुद्गल करम के उदय से उत्पन्न ये सब अचेतन ।
करम के कर्ता हैं ये वेदक नहीं है आतमा ॥ १११॥

गुण नाम के ये सभी प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे ।
कर्ता रहा ना जीव ये गुणथान ही कर्ता रहे ॥ ११२॥

उपयोग जीव अनन्य ज्यों यदि त्यों हि क्रोध अनन्य हो ।
तो जीव और अजीव दोनों एक ही हो जायेंगे ॥ ११३॥

यदि जीव और अजीव दोनों एक हों तो इसतरह ।
का दोष प्रत्यय कर्म अर नोकर्म में भी आयगा ॥ ११४॥

क्रोधान्य है अर अन्य है उपयोगमय यह आतमा ।
तो कर्म अरु नोकर्म प्रत्यय अन्य होंगे क्यों नहीं ? ॥ ११५॥

यदि स्वयं ही कर्मभाव से परिणत न हो ना बंधे ही ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा कर्ममय पुद्गल दरव ॥ ११६॥

कर्मत्व में यदि वर्गणाएँ परिणमित होंगी नहीं ।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ती ॥ ११७॥

यदि परिणमावे जीव पुद्गल दरव को कर्मत्व में ।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥ ११८॥

यदि स्वयं ही परिणमे वे पुद्गल दरव कर्मत्व में ।
मिथ्या रही यह बात उनको परिणमावें आतमा ॥ ११९॥

जड़कर्म परिणत जिसतरह पुद्गल दरव ही कर्म है ।
जड़ज्ञान-आवरणादि परिणत ज्ञान-आवरणादि हैं ॥ १२०॥

यदि स्वयं ही ना बंधे अर क्रोधादिमय परिणत न हो ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा जीव तेरे मत विषें ॥ १२१॥

स्वयं ही क्रोधादि में यदि जीव ना हो परिणमित ।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ती ॥ १२२॥

यदि परिणमावे कर्मजड़ क्रोधादि में इस जीव को ।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को ॥ १२३॥

यदि स्वयं ही क्रोधादि में परिणमित हो यह आतमा ।
मिथ्या रही यह बात उसको परिणमावे कर्म जड़ ॥ १२४॥

क्रोधोपयोगी क्रोध है मानोपयोगी मान है ।
मायोपयोगी माया है लोभोपयोगी लोभ है ॥ १२५॥

जो भाव आतम करे वह उस कर्म का कर्ता बने ।
ज्ञानियों के ज्ञानमय अज्ञानि के अज्ञानमय ॥ १२६॥

अज्ञानमय हैं भाव इससे अज्ञ कर्ता कर्म का ।
बस ज्ञानमय हैं इसलिए ना विज्ञ कर्ता कर्म का ॥ १२७॥

ज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों सब ज्ञानमय ।
बस इसलिए सद्ज्ञानियों के भाव हों सद्ज्ञानमय ॥ १२८॥

अज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों अज्ञानमय ।
बस इसलिए अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ॥ १२९॥

स्वर्णनिर्मित कुण्डलादि स्वर्णमय ही हों सदा ।
लोहनिर्मित कटक आदि लोहमय ही हों सदा ॥ १३०॥

इस ही तरह अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय ।
इस ही तरह सब भाव हों सद्ज्ञानियों के ज्ञानमय ॥ १३१॥

निजतत्त्व का अज्ञान ही बस उदय है अज्ञान का ।
निजतत्त्व का अश्रद्धान ही बस उदय है मिथ्यात्व का ॥ १३२॥

अविरमण का सद्भाव ही बस असंयम का उदय है ।
उपयोग की यह कलुषिता ही कषायों का उदय है ॥ १३३॥

शुभ अशुभ चेष्टा में तथा निवृत्ति में या प्रवृत्ति में ।
जो चित्त का उत्साह है वह ही उदय है योग का ॥ १३४॥

इनके निमित्त के योग से जड़ वर्गणाएँ कर्म की ।
परिणमित हों ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म में ॥ १३५॥

इसतरह वसुविध कर्म से आबद्ध जिय जब हो तभी ।
अज्ञानमय निजभाव का हो हेतु जिय जिनवर कही ॥ १३६॥

यदि कर्ममय परिणाम पुद्गल द्रव्य का जिय साथ हो ।
तो जीव भी जड़कर्मवत् कर्मत्व को ही प्राप्त हो ॥ १३७॥

किन्तु जब जियभाव बिन ही एक पुद्गल द्रव्य का ।
यह कर्ममय परिणाम है तो जीव जड़मय क्यों बने ? ॥ १३८॥

इस जीव के रागादि पुद्गलकर्म में भी हों यदी ।
तो जीववत जड़कर्म भी रागादिमय हो जावेंगे ॥ १३९॥

किन्तु जब जड़कर्म बिन ही जीव के रागादि हों ।
तब कर्मजड़ पुद्गलमयी रागादिमय कैसे बनें ? ॥ १४०॥

कर्म से आबद्ध जिय यह कथन है व्यवहार का ।
पर कर्म से ना बद्ध जिय यह कथन है परमार्थ का ॥ १४१॥

अबद्ध है या बद्ध है जिय यह सभी नयपक्ष हैं ।
नयपक्ष से अतिक्रान्त जो वह ही समय का सार है ॥ १४२॥

दोनों नयों को जानते पर ना ग्रहे नयपक्ष जो ।
नयपक्ष से परिहीन पर निज समय से प्रतिबद्ध वे ॥ १४३॥

विरहित सभी नयपक्ष से जो सो समय का सार है ।
है वही सम्यग्ज्ञान एवं वही समकित सार है ॥ १४४॥

पुण्यपापाधिकार

सुशील हैं शुभ कर्म और अशुभ करम कुशील हैं ।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं ? ॥ १४५॥

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती ।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ॥ १४६॥

दुःशील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो ।
दुःशील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो ॥ १४७॥

जगतजन जिसतरह कुत्सितशील जन को जानकर ।
उस पुरुष से संसर्ग एवं राग करना त्यागते ॥ १४८॥

बस उसतरह ही कर्मकुत्सित शील हैं - यह जानकर ।
निजभावरत जन कर्म से संसर्ग को हैं त्यागते ॥ १४९॥

विरक्त शिव रमणी वरें अनुरक्त बाँधे कर्म को ।
जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो ॥ १५०॥

परमार्थ है है ज्ञानमय है समय शुध मुनि केवली ।
इसमें रहें थिर अचल जो निर्वाण पावें वे मुनी ॥ १५१॥

परमार्थ से हों दूर पर तप करें व्रत धारण करें ।
सब बालतप हैं बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें ॥ १५२॥

व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें ।
पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ती करें ॥ १५३॥

परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते ।
अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य को हैं चाहते ॥ १५४॥

जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।
रागादि का परिहार चारित - यही मुक्तीमार्ग है ॥ १५५॥

विद्वानगण भूतार्थ तज वर्तन करें व्यवहार में ।
पर कर्मक्षय तो कहा है परमार्थ-आश्रित संत के ॥ १५६॥

ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
सम्यक्त्व भी त्यों नष्ट हो मिथ्यात्व मल के लेप से ॥ १५७॥

ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
सद्ज्ञान भी त्यों नष्ट हो अज्ञान मल के लेप से ॥ १५८॥

ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से ।
चारित्र भी त्यों नष्ट होय कषायमल के लेप से ॥ १५९॥

सर्वदर्शी सर्वज्ञानी कर्मरज आछन्न हो ।
संसार को सम्प्राप्त कर सबको न जाने सर्वतः ॥ १६०॥

सम्यक्त्व प्रतिबन्धक करम मिथ्यात्व जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है सदा ॥ १६१॥

सद्ज्ञान प्रतिबन्धक करम अज्ञान जिनवर ने कहा ।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने - यह जानना ॥ १६२॥

चारित्र प्रतिबन्धक करम जिन ने कषायों को कहा ।
उसके उदय से जीव चारित्रहीन हो – यह जानना ॥ १६३॥

समयसार कलश पद्यानुवाद

(हरिगीत)

मैं एक कर्ता आत्मा क्रोधादि मेरे कर्म सब ।
यही कर्ताकर्म की है प्रवृत्ति अज्ञानमय ॥
शमन करती इसे प्रगटी सर्व विश्व विकाशनी ।
अतिधीर परमोदात्त पावन ज्ञानज्योति प्रकाशनी ॥ ४६ ॥

परपरणति को छोड़ती अर तोड़ती सब भेदभ्रम ।
यह अखण्ड प्रचण्ड प्रगटित हुई पावन ज्योति जब ॥
अज्ञानमय इस प्रवृत्ति को है कहाँ अवकाश तब ।
अर किसतरह हो कर्मबंधन जगी जगमग ज्योति जब ॥ ४७ ॥

(सवैया इकतीसा)

इसप्रकार जान भिन्नता विभावभाव की,
कर्त्तृत्व का अहं विलायमान हो रहा ।
निज विज्ञानघनभाव गजारूढ़ हो,
निज भगवान शोभायमान हो रहा ॥
जगत का साक्षी पुरुषपुराण यह,
अपने स्वभाव में विकासमान हो रहा ।
अहो सद्ज्ञानवंत दृष्टिवंत यह पुमान,
जग-मग ज्योतिमय प्रकाशमान हो रहा ॥ ४८ ॥
तत्स्वरूप भाव में ही व्याप्य-व्यापक बने,
बने न कदापि वह अतत्स्वरूप भाव में ।
कर्त्ता-कर्म भाव का बनना असंभव है,
व्याप्य-व्यापकभाव संबंध के अभाव में ।
इस भाँति प्रबल विवेक दिनकर से ही,
भेद अंधकार लीन निज ज्ञानभाव में ।
कर्त्तृत्व भार से शून्य शोभायमान,
पूर्ण निर्भार मगन आनन्द स्वभाव में ॥ ४९ ॥

निजपरपरिणति जानकार जीव यह,
परपरिणति को करता कभी नहीं ।
निजपरपरिणति अजानकार पुद्गल,
परपरिणति को करता कभी नहीं ॥
नित्य अत्यन्त भेद जीव-पुद्गल में,
करता-करमभाव उनमें बने नहीं,
ऐसो भेदज्ञान जबतक प्रगटे नहीं,
करता-करम की प्रवृत्ती मिटे नहीं ॥ ५० ॥

(हरिगीत)

कर्ता वही जो परिणमे परिणाम ही बस कर्म है ।
है परिणति ही क्रिया बस तीनों अभिन्न अखण्ड हैं ॥ ५१ ॥
अनेक होकर एक है हो परिणमित बस एक ही ।
परिणाम हो बस एक का हो परिणति बस एक की ॥ ५२ ॥
परिणाम दो का एक ना मिलकर नहीं दो परिणमे ।
परिणति दो की एक ना बस क्योंकि दोनों भिन्न हैं ॥ ५३ ॥
कर्ता नहीं दो एक के हों एक के दो कर्म ना ।
ना दो क्रियायें एक की हों क्योंकि एक अनेक ना ॥ ५४ ॥
'पर को करूं मैं' - यह अहं अत्यन्त ही दुर्वार है ।
यह है अखण्ड अनादि से जीवन हुआ दुःस्वार है ॥
भूतार्थनय से ग्रहण से यदि प्रलय को यह प्राप्त हो ।
तो ज्ञान के घनपिण्ड आतम को कभी न बंध हो ॥ ५५ ॥

(दोहा)

परभावों को पर करे आतम आतमभाव ।
आप आपके भाव हैं पर के हैं परभाव ॥ ५६ ॥

(कुण्डलिया)

नाज सम्मिलित घास को, ज्यों खावे गजराज ।
भिन्न स्वाद जाने नहीं, समझे मीठी घास ॥
समझे मीठी घास नाज को न हिचाने ।
त्यों अज्ञानी जीव निजातम स्वाद न जाने ॥
पुण्य-पाप में धार एकता शून्य हिया है ।
अरे शिखरणी पी माने गो दूध पिया है ॥ ५७ ॥

(हरिगीत)

अज्ञान से ही भागते मृग रेत को जल जानकर ।
अज्ञान से ही डरे तम में रस्सी विषधर मानकर ॥
ज्ञानमय है जीव पर अज्ञान के कारण अहो ।
बातोद्वेलित उदधिवत कर्ता बने आकुलित हो ॥ ५८॥

दूध जल में भेद जाने ज्ञान से बस हंस ज्यों ।
सद्ज्ञान से अपना-पराया भेद जाने जीव त्यों ॥
जानता तो है सभी करता नहीं कुछ आतमा ।
चैतन्य में आरूढ़ नित ही यह अचल परमातमा ॥ ५९॥

(अडिल्ल छन्द)

उष्णोदक में उष्णता है अग्नि की ।
और शीतलता सहज ही नीर की ॥
व्यंजनों में है नमक का क्षारपन ।
ज्ञान ही यह जानता है विज्ञजन ॥
क्रोधादिक के कर्तापन को छेदता ।
अहंबुद्धि के मिथ्यातम को भेदता ॥
इसी ज्ञान में प्रगटे निज शुद्धात्मा ।
अपने रस से भरा हुआ यह आतमा ॥ ६०॥

(सोरठा)

करे निजातम भाव, ज्ञान और अज्ञानमय ।
करे न पर के भाव, ज्ञानस्वभावी आतमा ॥ ६१॥
ज्ञानस्वभावी जीव, करे ज्ञान से भिन्न क्या ?
कर्ता पर का जीव, जगतजनों का मोह यह ॥ ६२॥

(दोहा)

यदी पौद्गलिक कर्म को करे न चेतनराय ।
कौन करे - अब यह कहें सुनो भरम नश जाय ॥ ६३॥

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
यह सहज ही नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥ ६४॥

आत्मा में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
यह सहज ही नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥ ६५॥

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी हैं ।
अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी हैं ॥
ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है ।
तथा शुभाशुभ भावों में भी अन्तर क्यों है॥ ६६॥

ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं ।
अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं ॥
उपादान के ही समान कारज होते हैं ॥
जौ बोने पर जौ ही तो पैदा होते हैं ॥ ६७॥

(दोहा)

अज्ञानी अज्ञानमय भावभूमि में व्याप्त ।
इसकारण द्रवबंध के हेतुपने को प्राप्त ॥ ६८॥

(सोरठा)

जो निवसे निज माहि छोड़ सभी नय पक्ष को ।
करे सुधारस पान निर्विकल्प चित शान्त हो ॥ ६९॥

(रोला)

एक कहे ना बंधा दूसरा कहे बंधा है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७०॥

एक कहे ना मूढ़ दूसरा कहे मूढ़ है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७१ ॥
एक कहे ना रक्त दूसरा कहे रक्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७२ ॥
एक कहे न दुष्ट दूसरा कहे दुष्ट है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७३ ॥
एक अकर्ता कहे दूसरा कर्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७४ ॥
एक अभोक्ता कहे दूसरा भोक्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७५ ॥
एक कहे ना जीव दूसरा कहे जीव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७६ ॥
एक कहे ना सूक्ष्म दूसरा कहे सूक्ष्म है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७७ ॥
एक कहे ना हेतु दूसरा कहे हेतु है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७८ ॥

एक कहे ना कार्य दूसरा कहे कार्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७९॥
एक कहे ना भाव दूसरा कहे भाव है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८०॥
एक कहे ना एक दूसरा कहे एक है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८१॥
एक कहे ना सान्त दूसरा कहे सान्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८२॥
एक कहे ना नित्य दूसरा कहे नित्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८३॥
एक कहे ना वाच्य दूसरा कहे वाच्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८४॥
नाना कहता एक दूसरा कहे अनाना,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८५॥
एक कहे ना चेत्य दूसरा कहे चेत्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८६॥

एक कहे ना दृश्य दूसरा कहे दृश्य ना,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८७॥

एक कहे ना वेद्य दूसरा कहे वेद्य है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८८॥

एक कहे ना भात दूसरा कहे भात है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८९॥

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें अनन्ते विकल्पों का जाल है ।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है ॥
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को ।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को ॥ ९०॥

(दोहा)

इन्द्रजाल से स्फुरें, सब विकल्प के पुंज ।
जो क्षणभर में लय करे, मैं हूँ वह चित्पुंज ॥ ९१॥

(रोला)

मैं हूँ वह चित्पुंज कि भावाभावभावमय ।
परमारथ से एक सदा अविचल स्वभावमय ॥
कर्मजनित यह बंधपद्धति करूँ पार मैं ।
नित अनुभव यह करूँ कि चिन्मय समयसार मैं ॥ ९२॥

(हरिगीत)

यह पुण्य पुरुष पुराण सब नयपक्ष बिन भगवान है ।
यह अचल है अविकल्प है बस यही दर्शन ज्ञान है ॥
निभृतजनों का स्वाद्य है अर जो समय का सार है ।
जो भी हो वह एक ही अनुभूति का आधार है ॥९३॥

निज औघ से च्युत जिसतरह जल ढालवाले मार्ग से ।
बलपूर्वक यदि मोड़ दें तो आ मिले निज औघ से ॥
उस ही तरह यदि मोड़ दें बलपूर्वक निजभाव को ।
निजभाव से च्युत आत्मा निजभाव में ही आ मिले ॥ ९४॥

(रोला)

है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे ।
जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे ॥
नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे ।
इस विधि कर्ताकर्मभाव का नाश न होवे ॥ ९५॥

जो करता है वह केवल कर्ता ही होवे ।
जो जाने बस वह केवल ज्ञाता ही होवे ॥
जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई ।
जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई ॥ ९६॥

करने रूप क्रिया में जानना भासित न हो ।
जानन रूप क्रिया में करना भासित न हो ॥
इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न हैं ।
इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं ॥ ९७॥

(हरिगीत)

कर्म में कर्ता नहीं अर कर्म कर्ता में नहीं ।
इसलिए कर्ताकर्म की थिति भी कभी बनती नहीं ॥
कर्म में है कर्म ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा ।
साफ है यह बात फिर भी मोह है क्यों नाचता ? ॥ ९८॥

(सवैया इकतीसा)

जगमग जगमग जली ज्ञानज्योति जब,
अति गंभीर चित् शक्तियों के भार से ।
अद्भुत अनूपम अचल अभेद ज्योति,
व्यक्त धीर-वीर निर्मल आर-पार से ॥
तब कर्म कर्म नहीं कर्ता कर्ता न रहा,
ज्ञान ज्ञानरूप हुआ आनन्द अपार से ।
और पुद्गलमयी कर्म कर्मरूप हुआ,
ज्ञानी पार हुए भवसागर अपार से ॥ ९९॥

(हरिगीत)

शुभ अर अशुभ के भेद से जो दोपने को प्राप्त हो ।
वह कर्म भी जिसके उदय से एकता को प्राप्त हो ॥
जब मोहरज का नाश कर सम्यक् सहित वह स्वयं ही ।
जग में उदय को प्राप्त हो वह सुधानिर्झर ज्ञान ही ॥ १००॥

(रोला)

दोनों जन्मे एक साथ शूद्रा के घर में ।
एक पला बामन के घर दूजा निज घर में ॥
एक छुए न मद्य ब्राह्मणत्वाभिमान से ।
दूजा डूबा रहे उसी में शूद्रभाव से ॥
जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया ।
इस कारण अज्ञानी ने पहिचान न पाया ॥
पुण्य-पाप भी कर्म जाति के जुड़वा भाई ।
दोनों ही हैं हेय मुक्ति मारग में भाई ॥ १०१॥

(रोला)

अरे पुण्य अर पाप कर्म का हेतु एक है ।
आश्रय अनुभव अर स्वभाव भी सदा एक है ॥
अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है ।
भले-बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है ॥ १०२॥

(दोहा)

जिनवाणी का मर्म यह बंध करे सब कर्म ।
मुक्तिहेतु बस एक ही आत्मज्ञानमय धर्म ॥१०३॥

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से ।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव से ॥
अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते ।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥१०४॥

ज्ञानरूप ध्रुव अचल आतमा का ही अनुभव ।
मोक्षरूप है स्वयं अतः वह मोक्षहेतु है ॥
शेष भाव सब बंधरूप हैं बंधहेतु हैं ।
इसीलिए तो अनुभव करने का विधान है ॥१०५॥

(दोहा)

ज्ञानभाव का परिणमन ज्ञानभावमय होय ।
एकद्रव्यस्वभाव यह हेतु मुक्ति का होय ॥१०६॥

कर्मभाव का परिणमन ज्ञानरूप न होय ।
द्रव्यान्तरस्वभाव यह इससे मुकति न होय ॥१०७॥

बंधस्वरूपी कर्म यह शिवमग रोकनहार ।
इसीलिए अध्यात्म में है निषिद्ध शतवार ॥१०८॥

(हरिगीत)

त्याज्य ही हैं जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये ।
तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए ॥
निज आतमा के लक्ष्य से जब परिणमन हो जायगा ।
निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा ॥१०९॥

यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो ।
हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो ॥
अवरोध इसमें हैं नहीं पर कर्मधारा बंधमय ।
मुक्तिमारग एक ही हैं, ज्ञानधारा मुक्तिमय ॥११०॥

(हरिगीत)

कर्मनय के पक्षपाती ज्ञान से अनभिज्ञ हों ।
ज्ञाननय के पक्षपाती आलसी स्वच्छंद हों ।।
जो ज्ञानमय हो परिणमित परमाद के वश में न हों ।
कर्म विरहित जीव वे संसार-सागर पार हों ॥ १११॥

जग शुभ अशुभ में भेद माने मोह मदिरापान से ।
पर भेद इनमें हैं नहीं जाना है सम्यग्ज्ञान से ॥
यह ज्ञानज्योति तमविरोधी खेले केवलज्ञान से ।
जयवंत हो इस जगत में जगमगै आतमज्ञान से ॥ ११२॥